HINDI ADIVASI SAHITYA MEIN STREE

A Thesis submitted during 2011 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a Ph.D. degree in Department of Hindi School of Humanities.

By

PRANAV KUMAR THAKUR
07HHPH04

2011

Department of Hindi
School of Humanities

University of Hyderabad
Central University P.O.
Prof. C. R. Rao Road
Gachibowli
Hyderabad – 500 046
Andhra Pradesh
INDIA

DECLARATION

I, PRANAV KUMAR THAKUR hereby declare that this thesis entitled **"HINDI ADIVASI SAHITYA MEIN STREE" (हिन्दी आदिवासी साहित्य में स्त्री)** Submitted by me under the guidance and supervision of **PROF. V. KRISHNA** is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Name: **PRANAV KUMAR THAKUR**

(Signature of student)

Regd. No. **07HHPH04**

Date: 30.12.2011

C E R T I F I C A T E

This is to certify that the thesis entitled **"HINDI ADIVASI SAHITYA MEIN STREE" (हिन्दी आदिवासी साहित्य में स्त्री)** submitted by **PRANAV KUMAR THAKUR** bearing Reg. No. **07HHPH04** in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in **Hindi** is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

The thesis has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

//Countersigned//

Head of the Department

Dean of the School

अनुक्रमणिका

प्र.सं.

प्रस्तावना *I-IV*

प्रथम अध्याय *1-40*

आदिवासी समाज की अवधारणा : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं संरचना

1.1 'आदिवासी' शब्द का अर्थ, स्वरूप एवं व्याप्ति

1.2 'आदिवासी' शब्द के निकटवर्ती अर्थ-संदर्भ

1.3 आदिवासियों का नामकरण

1.4 आदिवासियों की परिभाषाएँ : विविध संदर्भ

1.4.1 मानवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से

1.4.2 अन्य परिभाषाएँ

1.5 आदिवासियों की विशेषताएँ

1.6 आदिवासी समुदाय की कसौटियाँ

1.7 जाति एवं जनजाति

1.8 आर्य-अनार्य की धारणा

1.9 आदिवासियों का वर्गीकरण

1.9.1 भूखंडीय वितरण

1.9.2 भाषायी वर्गीकरण

1.9.3 प्रजातीय वर्गीकरण

1.9.4 धार्मिक विश्वासों पर आधारित वर्गीकरण

1.9.5 आर्थिक वर्गीकरण

द्वितीय अध्याय ***41-115***
हिंदी में आदिवासी साहित्यिक विमर्श

2.1 आदिवासी समाज और आदिवासी साहित्य

2.2 आदिवासी साहित्यःस्वरूप व प्रकृति

2.3 आदिवासी-साहित्य के प्रेरणा-स्रोत

2.4 दलित-आदिवासी साहित्यःएक तुलनात्मक विवेचन

2.5 आदिवासी साहित्यःउद्‌भव एवं विकास

2.6 आदिवासी साहित्यिक विमर्श

2.7 आदिवासी साहित्यिक विमर्श के प्रतिमान

2.8 हिंदी में आदिवासी जीवन से संबंधित साहित्य

2.8.1 आदिवासी द्वारा लिखित साहित्य

2.8.2 गैर-आदिवासी द्वारा लिखित साहित्य

2.8.3 हिंदी आदिवासी साहित्यःगौण रूप में

तृतीय अध्याय ***116-174***
हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री:आत्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ

3.1 आत्मिक संदर्भ

3.1.1 युवागृह के भीतर विकसित विवाह-पूर्व प्रेम संबंध

3.1.2 युवागृह से बाहर विकसित विवाह-पूर्व प्रेम संबंध

3.2 पारिवारिक संदर्भ

3.2.1 बालिका की स्थिति

3.2.2 दाम्पत्य संबंध में पत्नी की स्थिति व भूमिका

3.2.3 माँ की भूमिका

3.3 सामाजिक संदर्भ

3.3.1 स्वास्थ्य

3.3.2 शिक्षा व साक्षरता

3.3.3 विवाह

3.3.4 स्त्री की विविध स्थिति

3.3.5 सामाजिक सक्रियता

3.3.6 स्त्री शोषण के विविध कारक

3.3.6.1 बाह्य या विदेशी कारक

3.3.6.2 आंतरिक या देशी कारक

3.3.7 वैश्वीकरण

3.3.8 विस्थापन

चतुर्थ अध्याय ***175-215***
हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : आर्थिक संदर्भ

4.1 वन पर आधृत अर्थव्यवस्था

4.2 आखेटन

4.3 कृषि

4.3.1 झूम या स्थानांतरण कृषि

4.3.2 स्थायी कृषि

4.4 हाट (बाजार)

4.5 लोक कलाकार

4.6 अपराध कर्म से जुड़े व्यवसाय

4.7 श्रमिक जीवन

पंचम अध्याय ***216-253***
हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री:धार्मिक संदर्भ

5.1 धर्म की अवधारणा

5.2 जीववाद

5.3 बोंगावाद

5.4 प्रकृतिवाद

5.5 टोटमवाद (गणचिह्नवाद)

5.6 बहुदेववाद

5.7 जादूवाद

5.8 पूर्वज पूजा

5.9 वर्जना (टैबू)

5.10 शमनवाद

5.11 शिरोच्छेदन

5.12 धर्मांतरण

षष्ठ अध्याय *254-299*

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री:सांस्कृतिक संदर्भ

6.1 संस्कृति का स्वरूप

6.2 आदिवासियों की संस्कृति

6.3 लोक-कथा

6.4 लोक-गीत

6.5 लोक-नृत्य

6.6 लोक-विश्वास

6.7 गुदना

6.8 युवागृह

6.9 आखेटन

सप्तम अध्याय ***300-324***

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री:अभिव्यक्ति के विविध आयाम

7.1 हिंदी आदिवासी साहित्य का कथ्य

7.2 वातावरण या परिवेश निर्माण की भाषा

7.3 वार्तालाप की भाषा

7.4 हिंदी के आदिवासी साहित्य का भाषिक स्वरूप

7.4.1 वर्णन की भाषा

7.4.2 प्रकृति-चित्रण की भाषा

7.4.3 चरित्र चित्रण की भाषा

7.4.4 मिथक (पुराकथाएँ)

7.5 आदिवासी भाषाओं का अस्तित्व संकट

7.6 आदिवासी व गैर आदिवासी रचनाकारों की दृष्टि में आदिवासी स्त्री की छवि

उपसंहार ***325-335***

संदर्भ ग्रंथ सूची ***336-351***

प्रस्तावना

झारखंड प्रदेश की यात्रा के दौरान अक्सर मैंने पाया कि मुख्यधारा के समाज के इतर एक ऐसा आदिवासी समुदाय है जो अपने में लीन रहकर समय की चिंता को समेटे लगातार जीता जा रहा है। उस समय छुटपन की उम्र में उनकी वास्तविक स्थिति को समझ सकने की स्थिति में मैं नहीं था। अतः एक पर्यटकीय दृष्टि से ही मेरी सोच सीमित रह जाती। किंतु कालांतर में आदिवासी के विषय में मिली जानकारी व निर्मला पुतुल की कविताओं ने न केवल मुझे बेचैन किया बल्कि शोध की दिशा की ओर उन्मुख भी। अकादमिक व टेक्सचुअल शोध प्रणाली से निजात पाने हेतु भी मैंने शोध-विषय के रूप में 'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री' का चुनाव बेहतर समझा। इस शोध-विषय में आदिवासी जीवन से संबंधित सभी प्रकार के हिंदी साहित्य का चयन किया गया है, भले ही वे आदिवासी लेखकों द्वारा हों या गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा हिंदी में आदिवासी लेखन की अपर्याप्तता व आदिवासियों के प्रति एक समग्र दृष्टिकोण को जानने के लिए भी ऐसा करना पड़ा।

वर्तमान समय में वैश्वीकरण, उत्तरआधुनिकता एवं तकनीकी वर्चस्ववाद की प्रक्रिया ने मनुष्य (खासकर वंचित समुदाय) के अस्तित्व एवं अस्मिता को गहरे संकट में डाल दिया है। अस्तित्व के संकट से उबरने की प्रक्रिया में अनेक छोटे-छोटे संघर्ष दृष्टिगत होते हैं, जिनमें दलित, स्त्री, आदिवासी एवं अल्पसंख्यक समाज के संघर्ष उल्लेख्य हैं। हाल के वर्षों में अस्तित्व संकट के फलस्वरूप अस्मिता के प्रश्न यकायक महत्वपूर्ण हो उठे हैं। छोटे-छोटे अस्मिता-समूहों का उदय समाज और साहित्य के लिए एक नये युग की शुरुआत है, का सूचक है। इन अस्मिताओं से भारतीय समाज एवं साहित्य गहरे रूप से आंदोलित है। ऐसे में स्वाभाविक रूप से इन उभरती अस्मिताओं को समझने, पहचानने तथा व्याख्यायित करने के लिए मैंने शोध-विषय के रूप में 'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री' चुना। आज हम कहने को तो उत्तर आधुनिक दौर में जी रहे हैं, किंतु सभ्यता की तमाम चकाचौंध के बीच यह आदिवासी समुदाय आज भी खुद को

उपेक्षित एवं अपमानित महसूस कर रहा है। ज़ाहिर है विकास की प्रक्रिया के साथ उसका सही समीकरण और संतुलन नहीं बन पाया है। दरअसल स्थानीयता के प्रति सम्मानित दृष्टि के बगैर वैश्विक होने का दावा ही छद्मपूर्ण एवं खोखला है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के विषय के समुचित विवेचन को ध्यान में रखते हुए इसे सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में 'आदिवासी समाज की अवधारणा : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं संरचना' पर विचार किया गया है। इस अध्याय में 'आदिवासी' शब्द की अवधारणा एवं उसके निकटवर्ती अर्थ-संदर्भों पर प्रकाश डाला गया है। विविध रूपों में आदिवासी की परिभाषा, वर्गीकरण करने के साथ, आर्य-अनार्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'हिंदी में आदिवासी साहित्यिक-विमर्श' के अंतर्गत आदिवासी साहित्य के स्वरूप एवं प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है। हिंदी में आदिवासी विमर्श की धारणा को भी स्पष्ट किया गया है। आदिवासी व गैर-आदिवासी द्वारा लिखे गये साहित्य का जिक्र विस्तृत रूप में किया है।

तृतीय अध्याय 'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : आत्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ' में आदिवासी स्त्री की स्थिति का रेखांकन व्यक्तिगत प्रसंगों से लेकर परिवार एवं समाज के विस्तृत दायरे में की गई है। वैश्वीकरण व विस्थापन की प्रक्रिया में आदिवासी स्त्री का अस्तित्व लगातार खतरे में दिखाई पड़ रहा है। अस्तित्व निर्माण व अस्मिता की तलाश में वह लगातार संघर्षरत है, जिसका वर्णन हिंदी आदिवासी साहित्य के अंतर्गत मिलता है।

चतुर्थ अध्याय 'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : आर्थिक संदर्भ' में आदिवासी स्त्री की निर्भरता के विविध आर्थिक पहलुओं का जिक्र हुआ है। परंपरागत अर्थ-व्यवस्था से अब तक उनकी जीवन-शैली में लगातार बदलाव देखे जा सकते हैं।

पंचम अध्याय 'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : धार्मिक संदर्भ' में आदिवासी स्त्री की विविध धार्मिक क्रिया-कलापों में संबद्धता को उजागर करने की कोशिश की गई है।

छठे अध्याय 'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : सांस्कृतिक संदर्भ' में संस्कृति के विविध पहलुओं का रेखांकन करने का प्रयास किया है। वर्तमान में आदिवासी की समृद्ध लोक संस्कृति पर लगातार खतरा महसूस किया जा रहा है।

सातवें अध्याय 'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : अभिव्यक्ति के विविध आयाम' में हिंदी के आदिवासी साहित्य के अभिव्यक्ति पक्ष को उजागर किया गया है और अंत में उपसंहार एवं संदर्भ ग्रंथ-सूची का उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है।

शोध प्रबंध के पूरा होने में अनेक लोगों की सक्रिय भागीदारी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अनिवार्य तौर पर रही है। इस शोध विषय के अनछुए पहलू की ओर कार्य करने के लिए प्रो.वी.कृष्ण ने न केवल मार्ग सुझाया, बल्कि लगातार प्रोत्साहित भी करते रहे। आदिवासी लेखक व चिंतक हरिराम मीणा ने शोध के संबंध में न केवल नयी दृष्टि दी बल्कि यथावसर समय-समय पर संकट उत्पन्न होने पर हमेशा मार्गदर्शन करते रहे। राँची के विद्याभूषण जी ने आदिवासी जीवन से संबंधित कई अनुपलब्ध उपन्यासों को सहज रूप से उपलब्ध करा सकने में काफी मदद की। रामदयाल मुण्डा, निर्मला पुतुल, रमेशचंद्र मीणा, संजीव, पुन्नी सिंह, राकेश कुमार सिंह, जी.एन.देवी, वीरभारत तलवार आदि लेखकों एवं आलोचकों के सुझाव शोध कार्य में महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। दरअसल यह शोध कार्य अधूरा होता, यदि रमणिका गुप्ता द्वारा आदिवासी जीवन पर महत्वपूर्ण सामग्री का संपादन एवं संकलन का कार्य नहीं हुआ होता।

गंभीर एवं नये चुनौतिपूर्ण विषय पर शोध करने की मेरी क्षमता पर भरोसा व विश्वास करने के लिए मैं अपने शोध निदेशक आदरणीय प्रो.वी.कृष्ण के प्रति कृतज्ञ हूँ। उनका स्नेह और निर्देश पूरी लेखन-यात्रा में अंतर्व्याप्त है। शोध के दौरान अक्सर वैचारिक आदान-प्रदान एवं महत्वपूर्ण बिंदुओं की ओर संकेत के द्वारा ही यह प्रबंध सही मायने में आकार ले पाया है। मेरे शोध-विषय के शोध-समिति के सदस्यों के साथ विभाग के अन्य शिक्षकों के स्नेह ने भी शोध को दिशा प्रदान की। दिल्ली विश्वविद्यालय के अग्रज सदृश डॉ.भीम सिंह न केवल शोध करते वक्त हमेशा सहयोगी रहे हैं, बल्कि जीवन के हर संकट में उनका साथ प्रेरणादायी रहा है। झारखंड के आदिवासी समुदाय से संबद्ध अपने प्रिय अनुज शोधार्थी सुनील को भी स्मरण करना चाहूँगा, क्योंकि बारंबार

उन्होंने शोध विषय से संबंधित सामग्री को मुहैया करवाने में महती भूमिका अदा की। सामग्री उपलब्ध करने से लेकर आदिवासी जीवन के सूक्ष्म पहलुओं की जानकारी देने में सुनील सहित अग्रज सुरेश जी का भी सहयोग रहा है। हिंदी विभागाध्यक्ष एवं शोध-समिति के प्रति भी मैं आभारी हूँ, जिसने प्रस्तुत विषय पर मुझे शोध-कार्य करने की अनुमति दी। वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो.रविरंजन के कार्यकाल में यह शोध प्रबंध जमा हो रहा है, उनके प्रति भी मैं आभारी हूँ।

शोध-कार्य से संबंधित पुस्तकों की उपलब्धता के रूप में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय पुस्तकालय (दिल्ली), सेंट्रल लाइब्रेरी (दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली), साहित्य अकादमी (दिल्ली) और हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय पुस्तकालय, हैदराबाद की महती भूमिका रही है। इस शोध-कार्य के पूर्ण होने में अरावली उद्घोष पत्रिका का महत्वपूर्ण योगदान रहा, क्योंकि आदिवासी जीवन एवं साहित्य पर केंद्रित यह एकमात्र पत्रिका हिंदी में निरंतर 40 वर्षों से निकल रही है, जिससे अभी भी पाठक व शोधार्थी अनभिज्ञ हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय परिसर और वहाँ के अग्रजों और मित्रों को धन्यवाद। विशेषकर हिंदू कॉलेज, दिल्ली के डॉ.रामेश्वर राय को जिन्होंने मेरी साहित्यिक दृष्टि को विकसित करने में मदद की। हैदराबाद के सभी मित्रों को विशेष रूप से धन्यवाद जिनहोंने बहुत कम समय में मुझे अपना बना लिया और हर प्रकार से मेरी मदद की। साथ ही मेरे मित्र प्रेमशंकर पाण्डेय से लगातार होने वाले वैचारिक विमर्शों ने हमेशा साहित्यिक विवेक को ऊर्जा प्रदान की है। संकटपूर्ण समय में शोध को पूरा करने की प्रेरणा एवं उत्साह के लिए न केवल माता-पिता आगे आए वरन् यथासंभव हर तरह से आत्मीय सहयोग दिया। राधा मैडम ने इस शोध प्रबंध के टंकण कार्य की जिम्मेदारी बखूबी निभायी है। इन सबके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

प्रणव कुमार ठाकुर

प्रथम अध्याय

आदिवासी समाज की अवधारणा: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं संरचना

1.1 ‘आदिवासी’ शब्द का अर्थ, स्वरूप एवं व्याप्ति

1.2 ‘आदिवासी’ शब्द के निकटवर्ती अर्थ-संदर्भ

1.3 आदिवासियों का नामकरण

1.4 आदिवासियों की परिभाषाएँ : विविध संदर्भ

1.4.1 मानवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से

1.4.2 अन्य परिभाषाएँ

1.5 आदिवासियों की विशेषताएँ

1.6 आदिवासी समुदाय की कसौटियाँ

1.7 जाति एवं जनजाति

1.8 आर्य-अनार्य की धारणा

1.9 आदिवासियों का वर्गीकरण

1.9.1 भूखंडीय वितरण

1.9.2 भाषायी वर्गीकरण

1.9.3 प्रजातीय वर्गीकरण

1.9.4 धार्मिक विश्वासों पर आधारित वर्गीकरण

1.9.5 आर्थिक वर्गीकरण

प्रथम अध्याय

आदिवासी समाज की अवधारणा: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं संरचना

अपनी चेतनशील वृत्ति के कारण मनुष्य अन्य मानवेतर प्राणियों से न केवल भिन्न बल्कि विशिष्ट भी है। मानव सभ्यता को पृथ्वी की सबसे उन्नत एवं विकासशील सभ्यता माना गया है। किंतु विकास के सही मायने का आकलन करें तो इसके कई त्रासद् एवं अफसोसजनक पहलू भी सामने नज़र आते हैं। इसी प्रकार की विस्तृत श्रेणी में आदिम, जनजातीय, आदिवासी (Aboriginal), मूल निवासियों (Native) जैसे विविध नामों से जानी जाने वाली मानवता का एक बड़ा अंश शामिल है। "जिसे हम 5000 वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता कहते हैं, वह मूल रूप से हमारी आदिवासी सभ्यता ही है।"[1]

मानव समाज का एक विशिष्ट प्रवर्ग 'आदिवासी' है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आदिवासियों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी, आदिम समाज का सटीक उदाहरण माने जाते हैं। उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, कानून को समझकर हम यह जान सकते हैं कि आदिकाल के भारत के निवासी किस ढंग से रहते थे तथा उनके रीति-रिवाज क्या थे। "जनजातीय लोग आम भाषा में आदिवासी कहलाते हैं।"[2]

1.1 'आदिवासी' शब्द का अर्थ, स्वरूप एवं व्याप्ति

'आदिवासी' शब्द भारत के अल्पसंख्यक वर्गों की एक बड़ी आबादी को द्योतित करता है। भारत के आदिवासी लोग 'अतविका'नाम से भी जाने जाते हैं। ('अतविका' का अर्थ संस्कृत में 'जंगल में रहनेवाले लोग' हैं)। सीमित परिधि

[1] कमलेश्वर, आदिवासीःअस्तित्व, अस्मिता और साहित्य (वर्तमान साहित्य, जून-2005)- पृ.19

[2] रूपचंद्र वर्मा, भारतीय जनजातियाँ, भूमिका, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली

तथा लघु जनसंख्या के कारण इन संस्कृतियों में स्थिरता रहती है। किसी एक काल में होने वाले सांस्कृतिक परिवर्तन अपने प्रभाव एवं व्यापकता में अपेक्षाकृत सीमित होते हैं। आदिवासी अपनी भाषिक-विशिष्टता, संस्कृति, प्रगति एवं प्रकृति आधारित धर्म के कारण समाज की मुख्यधारा से अलग होता है। यही इसकी विशिष्टता भी है और अन्य समाजों से इसके अलगाव का कारण भी। "पूर्व-यांत्रिक अर्थव्यवस्था, अपरिष्कृत अनुष्ठान तथा सामाजिक प्रथाएँ, अपनी विकसित बोली के लिए लिपि का अभाव, छोटे स्थानीय सामुदायिक समाज तथा समजातीयता आदि इन समूहों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।"[3] वस्तुतः आदिवासियों में से प्रत्येक समुदाय का अपना नाम है जिससे इन्हें अविहित किया जा सकता है। लेकिन इतिहास की विडंबना ने इन संपूर्ण समुदायों को 'आदिवासी' या 'जनजाति' (Tribals) की संज्ञा दे दी।

आदिवासी विश्व के लगभग सभी भागों में निवास करते हैं। भारत में आदिवासियों की आबादी अफ्रीका के बाद सर्वाधिक है। ऐसा विश्वास किया जाता है के ये लोग भारतीय प्रायद्वीप के मूल निवासी हैं। मूल निवासी होने के कारण इन्हें सामान्यतया 'आदिवासी' कहा जाता है।

'आदिवासी' पदबंध हिंदी का है। संवैधानिक शब्द 'आदिवासी' होते हुए भी लोक प्रचलन में आदिवासी शब्द ही चल रहा है और व्यवाहारिक रूप से शासन में भी आदिवासी शब्द का बिना रोक-टोक उपयोग हो रहा है। स्वतंत्रता आंदोलन के शीर्ष नेता भी 'आदिवासी' शब्द का उपयोग यथावसर करते रहे हैं। किंतु सवाल यह है कि आदिवासी का पर्याय आदिवासी माना जाए या नहीं। आदिवासी शब्द का प्रयोग उस समाज के लिए किया जाता है जो आदिकाल से यहाँ निवास कर रहा है। आदिवासी किसे कहा जाय इसे रेखांकित करते हुए डॉ.विनायक तुमराम 'आदिवासी कौन?' शीर्षक लेख में लिखते हैं-"वर्तमान स्थिति में 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग विशिष्ट पर्यावरण में रहनेवाले, विशिष्ट भाषा बोलनेवाले, विशिष्ट जीवन पद्धति तथा परंपराओं से सजे और सदियों से जंगलों-पहाड़ों में जीवनयापन करते हुए अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को संभालकर रखनेवाले मानव-समूह का

[3] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत, प्राक्कथन

परिचय करा देने के लिए किया जाता है।"[4] इस प्रकार विशिष्ट परिवेश, भाषा, जीवन पद्धति एवं अपनी परंपरा, धर्म एवं संस्कृति के प्रति सचेत मानव समुदाय जो जंगल एवं पहाड़ों में अपना जीवन व्यतीत कर रहा हो, को विनायक तुमराम आदिवासी के रूप में मानते हैं। आदिवासियों की अब तक प्रचलित अवधारणा से अलग एक नये दृष्टिकोण को जगदीश्वर चतुर्वेदी सामने लाते हैं। उनका मानना है कि 'आदिवासी' पदबंध विभाजनकारी पदबंध है। "'आदिवासी' पदबंध आदिवासियों के प्रति विभ्रम पैदा करता है। इससे मूल आदिवासी और माइग्रेटेड आदिवासी में घालमेल पैदा होता है। तनाव पैदा होता है। यह विभाजनकारी पदबंध है। इस पदबंध के बहाने अंग्रेज़ी के 'ट्राइब' पदबंध के समूचे विमर्श को अपदस्थ किया गया है। अंग्रेज़ी नाम नकारात्मक अर्थ को व्यंजित करता है। 'ट्राइब' का अर्थ है समाज से बहिष्कृत सामाजिक समूह। मातहत लोग। इसके विपरीत 'आदिवासी' पदबंध की अर्थध्वनि एकदम अलग है। आदिवासी कहते ही उनके अधिकारों की बात ज़ेहन में आती है। उसके प्रतिरोध, उभार, संघर्ष, आंदोलन, सशक्तीकरण की बातें मन में आती हैं।"[5] आदिवासियों को आदि बाशिंदा मानने के पीछे प्रधान कारण है उनके जमीन, क्षेत्र और कच्चे संसाधनों पर अधिकारों को स्वीकार करना। आदिवासियों में सभी जातियाँ मूल आदिवासी की कोटि में नहीं आतीं, अनेक आदिवासी बाहर से आये हैं। आज इन आदिवासियों के लोग जहाँ रहते हैं वहाँ मूल रूप से नहीं रहते थे। मसलन मणिपुर के कूकी आदिवासी, मिज़ोरम के लूसिस आदिवासी लोग मूलतः दक्षिण चीन और चीन पर्वत के निवासी हैं। ये लोग कुछ सौ साल पहले ही स्थानांतरित होकर भारत आये थे। मेघालय में रहनेवाली खासी आदिवासी के लोग मूलतः कंपूचिया के हैं और स्थानांतरित होकर कुछ सौ वर्ष पहले ही मेघालय में आकर बसे हैं। इसी तरह की स्थिति त्रिपुरा, (रियांग और चकमा), असम (बोडो), झारखंड (संथाल) के आदिवासी की स्थिति है जो कि ऐतिहासिक तथ्य है। आज विस्थापित-स्थानांतरित आदिवासी अपने को भारत का मूल या आदि बाशिंदा मानते

[4] सं.रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन (आदिवासी कौन, डॉ.विनायम तुमराम)-पृ.26-27

[5] जगदीश्वर चतुर्वेदी, आदिवासियों के प्रति वाम नज़रिया (नया पथ)-पृ.61

हैं। लेकिन भारत सरकार उन्हें आदि बाशिंदा मानने को तैयार नहीं है। इस रूप में 'आदिवासी' पदबंध उत्तर-पूर्वी और मध्य भारत में स्थानांतरित आदिवासी मजदूरों और किसानों की पहचान से जुड़ा है। 'आदिवासी' पदबंध को उत्तर बंगाल, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, असम, मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा के चाय बगानों में काम करनेवाले मज़दूरों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इन इलाकों में संथाल, मुंडा, ओरॉव आदि ब्रिटिश जमाने में स्थानांतरित होकर आये थे। इन इलाकों के मूल आदिवासी अपने को इससे अपमानित महसूस करते थे क्योंकि इन्हें भी आदिवासी के रूप में जाना जाता था। इसके कारण उत्तर बंगाल के मूल आदिवासी अपने को आदिवासी के नाम से नहीं बल्कि मूल आदिवासी के नाम से पुकारते हैं। वे अपने को राभा, मिच, राजवंशी आदिवासी या एथनिक ग्रुप के नाम से पुकारते हैं। वे इस बात का विरोध करते हैं कि उन्हें आदिवासी कहा जाय। सभी आदिवासियों को 'आदिवासी' के नाम से एक ही धागे में बाँधने का काम यूरोपीय देशों के फंड से चलनेवाले स्वयंसेवी संगठन कर रहे हैं। इस तरह से आदिवासी शब्द के प्रयोग में विभिन्न आदिवासी जमात के लोगों का हित भी शामिल हैं।

'आदिवासी' पदबंध का प्रयोग आदिवासियों में भारत विरोधी भावनाएँ भड़काने का काम करता है। ख़ासकर उत्तर बंगाल, सिक्किम और अन्य उत्तर-पूर्वी राज्यों में इस पदबंध के प्रयोग से अधिकांशतः मूल आदिवासी अपने को अपमानित महसूस करते हैं।

1.2 'आदिवासी' शब्द के निकटवर्ती अर्थ-संदर्भ

<u>ट्राइब</u> :- आदिवासी शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी के 'ट्राइब' (Tribe) के भारतीय हिंदी अनुवाद पर्याय रूप में होता है। अंग्रेज़ी भाषा का शब्द 'ट्राइब' मूल में लैटिन भाषा के 'ट्राइब्स' से बना है। अंग्रेज़ी शब्द 'ट्राइब' (आदिवासी) की उत्पत्ति त्रिभुज से मानी जाती है, जिसका अर्थ तीन अंग है, यानी राजा, रक्षा तथ हस्त-कलाकार। रोमवासियों के लिए 'ट्राइब' एक राजनीतिक संस्था के रूप में था। रोम में इस शब्द का प्रयोग समाज के विभिन्न भागों के लिये किया जाता था। बाद में चलकर इसका

अर्थ गरीब वर्गों के लिए किया गया। 'ट्राइब' शब्द का उपयोग ऐसे समुदायों के लिए किया गया था, जो एक दूसरे के समान थे ओर न जिनकी तुलना ही की जा सकती थी। बाद में इस शब्द का प्रयोग मूल निवासियों और पूर्व समूहों के लिए ही किया जाने लगा। अतः 'ट्राइब' का अर्थ है समाज से बहिष्कृत सामाजिक समूह, मातहत लोग। आज यूरोप और अफ्रीका में इस शब्द के स्थान पर इंडिजिनस (Indigenous) अर्थात् देशज या देशी लोगों के लिये किया जाता है। भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह पता चलता है कि ब्रितानी सल्तनत ने जहाँ-जहाँ प्रवेश किया, वहां के निवासियों को उनसे अलग करते हुए, 'नेटिव' या 'ट्राइब' की संज्ञा दे दी। उसके पूर्व यहाँ के समुदाय विशेष के लोगों को उनके अपने नामों से ही जाना जाता था।

जनजाति :- 'जनजाति' शब्द की उत्पत्ति तथा अर्थ के बारे में विभिन्न विचार हैं। "भारत के समान ही पश्चिमी दुनिया में जनजाति शब्द का अर्थ आज के प्रचलित अर्थ से सर्वथा भिन्न था। आदिवासी कई जिलों से मिलकर बनी एक उच्चतम राजनीतिक इकाई थी, जो कि वस्तुतः कबीलों का संयोजन था। उसके अधिकार क्षेत्र में एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र था और उसका अपने लोगों के ऊपर प्रभावी नियंत्रण थ।"[6] किसी निश्चित भू-भाग या क्षेत्र विशेष पर किसी जनजाति का स्थायी निवास उसका भौगोलिक परिचय देता था। किसी विशेष जनजाति का निश्चित भू-अधिकार क्षेत्र का नामकरण सामान्यतया उस आदिवासी के ऊपर हुआ करता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भारत देश का नाम शक्तिशाली 'भारत आदिवासी' से लिया गया है। इसी प्रकार मत्स्य गणराज्य, जो कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में प्रबल रूप में अस्तित्व में था, का भी उद्भव 'मत्स्य आदिवासी' से लिया गया है। आज भी ऐसे कई क्षेत्र हैं, जिनके नाम वहाँ के मूल जनजातियों के नाम पर हैं। उत्तर-पूर्व में मिजोरम, नागालैंड तथा त्रिपुरा राज्यों के नाम क्रमशः मिजो, नागा तथा त्रिपुरी जनजातियों पर आधारित हैं। वस्तुतः भारत की किसी भी भाषा में आदिवासी जैसा

---

[6] भारतीय जनजातियाँ, रूपचंद्र वर्मा-पृ.2

कोई शब्द नहीं था। प्राचीन काल में ये समूह अपने विशिष्ट नामों द्वारा ही जाने जाते थे, जैसे-गोण्ड, संथाल, भील आदि।

यूरोप में राष्ट्रवाद के विकास के साथ, आदिवासी शब्द का अर्थ किसी निश्चित सीमा के अंदर निवास करने वाले लोगों की प्रजाति के रूप में लिया जाने लगा। सामान्यतः प्राच्यविद्, भारत के बारे में लिखने वाले पश्चिमी लेखक, भारत के कुछ मानव-शास्त्री एवं समाजशास्त्री जो कि पश्चिमी लेखकों का अनुसरण करते हैं, सभी अब आदिवासी शब्द का अर्थ उसी रूप में लिया करते हैं।

वर्तमान में, पश्चिम लेखकों के अनुसार-"आदिवासी शब्द का अर्थ सामान्यतः भौगोलिक दृष्टि से विलग अथवा अर्द्ध-विलग एक नृवंशी समूह है, जिन्हें एक निश्चित सीमा की परिधि में पहचाना जाता है और जिनकी सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक परंपराएँ तथा प्रथाएँ भिन्न हैं।"[7] भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस शब्दार्थ में, विशेष रूप से आज़ादी के बाद की अवधि में और भी परिवर्तन हुए हैं।

भारत में आदिवासी शब्द का अर्थ जन समुदाय की उस श्रेणी से लिया जाता है जो अनुसूचित जनजातियों की सूची में सम्मिलित हैं। ये समूह आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं और इतिहास में हमेशा इन्हें शोषण का पात्र समझा जाता रहा है। इस प्रकार आज आदिवासी शब्द का अर्थ प्राचीन युग की राजनीतिक इकाई से परिवर्तित होकर गरीबी एवं पिछड़ेपन से पीड़ित जनसमूह को अभिलक्षित करता है।

<u>अनुसूचित जनजाति</u> :- भारतीय संदर्भ में आदिवासी के साथ-साथ अनुसूचित आदिवासी शब्द का प्रयोग भारतीय समाज की एक अन्य विशेषता है। सामान्यतः किसी भी सूचीबद्ध आदिवासी श्रृंखला को अनुसूचित कहा जा सकता है, किंतु जब वह शब्द भारतीय आदिवासियों के साथ प्रयुक्त होता है तब वह आदिवासियों के संवैधानिक संरक्षण से संबंधित होता है। इस प्रकार भारत में आदिवासी एवं अनुसूचित आदिवासी दो अलग-अलग अवाधरणाएँ हैं। जिनकी विशिष्टताएँ एक दूसरे की भिन्नता को स्पष्ट करती हैं। अनुसूचित शब्द का तात्पर्य सूचीबद्ध से है।

---

[7] एस.एल.दोषी/पी.सी.जैन, भारतीय समाजःसंरचना और परिवर्तन-पृ.151

"अनुसूचित पद का प्रयोग वस्तुतः उपनिवेशवादी प्रयोग है। सन् 1874 में अंग्रेज़ों ने अनुसूचित क्षेत्र अधिनियम पारित किया और इसके बाद इन क्षेत्रों में विशिष्ट तथा पृथक् क्षेत्र की व्यवस्था स्वीकार कर ली गयी। इसी समय आदिवासी संबंधी सामाजिक श्रेणी की अवधारणा का उदय हुआ जिसका प्रमुख उद्देश्य इन समूहों को हिंदू, मुस्लिम तथा अन्य धार्मिक समूहों से अलग रखना था।"[8] ब्रिटिश राज ने अनुसूचित जनजातियों को हिंदू जातियों से पृथक् करने का यह कार्य धार्मिक कारणों से किया। यह देखा गया कि अनुसूचित जनजातियों का धर्म आत्मवादी है। इस आधार पर भारतीय समाज मोटे तौर पर दो भागों में बँट गया-अनुसूचित जनजाति और हिंदू, मुस्लिम और अन्य धार्मिक समूह। ब्रिटिश सरकार के सामने एक बात तो बहुत स्पष्ट थी और वह यह कि जंगलों और पहाड़ों में रहनेवाली जनजाति हिंदू जातियों से भिन्न थीं। किंतु कालांतर में ब्रिटिश सरकार भी लंबे समय तक यह निश्चित नहीं कर पायी कि इस जनसमुदाय को किस नाम और श्रेणी से पहचाना जाय। संविधान निर्माण के दौरान जयपाल सिंह मुण्डा ने 'अनुसूचित आदिवासी' शब्द के बदले 'आदिवासी' शब्द को प्रयुक्त करने के लिए अपना मंतव्य दिया। किंतु डॉ.भीमराव अंबेडकर ने इसे खारिज करते हुए इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा कि-"'आदिवासी' शब्द वास्तव में एक सामान्य शब्द है, जिसमें कोई संवैधानिक विधित अर्थबोध नहीं है जबकि 'अनुसूचित आदिवासी' शब्द में एक निश्चित अर्थ है, क्योंकि जनजातियों को परिगणित करता है।"[9]

भारत के संविधान ने अनुसूचित जनजातियों को परिभाषित नहीं किया है। भारतीय संविधान के अनुसार अनुसूचित आदिवासी से तात्पर्य उन विशिष्ट आदिवासियों से है जो संविधान के अनुच्छेद 342 में वर्णित हैं। अनुच्छेद 342 के अंतर्गत लिखा है कि "राष्ट्रपति सार्वजनिक अधिघोषणा द्वारा जनजातियों या जनजातीय समुदायों या उनके अंगों या समूहों को अनुसूचित जनजाति घोषित कर

[8] एस.एल.दोषी/एस.एल.जैन, भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन-पृ.151
[9] एस.एल.दोषी/एस.एल.जैन, भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन-पृ.154

सकता है।"[10] अतः इस अनुच्छेद में किसी जनजाति को शामिल करने के लिए इस प्रकार की अधिसूचना राष्ट्रपति जारी कर सकते हैं। भारतीय संविधान में किसी जनजाति को अनुसूचित आदिवासी के रूप में अनुसूचित करने के मामले में धार्मिक बंधन पर विचार नहीं किया गया है। परंतु अनुसूचित जातियों के संदर्भ में स्थिति भिन्न है। संविधान के अनुसार कोई व्यक्ति जो हिंदू, सिक्ख या बौद्ध धर्मावलंबी नहीं है, उसे अनुसूचित जाति में शामिल नहीं किया जा सकता है। अब सवाल यह उठता है कि संविधान ने जनजातियों को परिभाषित करने के लिए कौन सी कसौटियों या आधारों को अपनाया है? 1952 में प्रकाशित अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग ने निम्न कसौटियों को प्रस्तुत किया है-(1) पृथक्करण, (2) प्रजातीय लक्षण, (3) भाषा और बोली, (4) खाने की आदतें, मांसाहारी भोजन, (5) पोशाकः नग्न एवं अर्द्धनग्न, (6) घुमक्कड़ एवं (7) मद्यपान तथा नृत्य। जनजातीय कमीशन ने जिन कसौटियों को रखा है, वे आज वास्तविक धरातल पर सही नहीं प्रतीत होता। वास्तविकता यह है कि संविधान का यह वर्गीकरण जनजातियों को केवल राजनीतिक दृष्टि से देखता है, उनका इतिहास प्रजातीय, सांस्कृतिक या आर्थिक प्राविधिक कारकों की पड़ताल नहीं करता। जबकि भारतीय जनजातियों को उनके इथनिसिटी (Ethnicity), उनकी राष्ट्रीय पहचान और राष्ट्रीय समाज के संदर्भ में ही समझा जाना चाहिए। वस्तुतः अनुसूचित जनजातियों में से अनेक समुदायों की स्वतंत्र जनजातीय पहचान है और वे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बचाये रखने के लिए सचेत हैं। विकास और प्रशासन की दृष्टि से संविधान द्वारा प्रदत्त परिभाषा ही आज व्यावहारिक रूप से मान्य हो सकती है। राष्ट्रपति की अनुसूची में जनजातियों का जो अंतर दिखाई देता है, वह क्षेत्रगत के कारण है। वर्तमान में संविधान के अनुच्छेद 342 के आधार पर अनुसूचित जनजाति को वन्य जाति, वनवासी, पहाड़ी लोग, आदिम जाति, जनजाति आदि नामों से भी जाना जाता है।

[10] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.8

वनवासी :- शब्द विमर्श की दृष्टि से भाषाविदों की मान्यता है कि वन में निवास करनेवाला समाज वनवासी कहलाता है। आदिवासी बनाम वनवासी शब्द पर्याय में अधिक अंतर नहीं होते हुए भी अंतर हो जाता है, जब इसे किसी राजनैतिक उद्देश्य से प्रयोग में लाया जाता है। अधनंगे रहने के कारण या लंगोटी पहने शिकार के लिए जंगल-जंगल भटकने से भी उन्हें 'वनवासी' या 'वन्य-आदिवासी' के रूप में पहचाना जाना, मानो रूढ़ हो गया है। इधर हिंदुत्ववादी कट्टर शक्तियों ने उनका नया नामकरण 'वनवासी' किया है और उनकी घर-वापसी का अभियान भी चलाया हुआ है। जो आदिवासी ईसाई धर्म अपना चुके हैं उनकी 'घर वापसी यानी धर्म में वापसी' का अभियान चलाया गया है। इतना ही नहीं, आदिवासी को हिंदू होने की नई पहचान भी इन शक्तियों ने दी है और इन्हें धर्मों तथा धार्मिक समुदायों के विरुद्ध लामबंद भी किया गया है। उड़ीसा का स्टेंस हत्याकांड, अन्य राज्यों में धर्मयुद्धों और शुद्धि आदि की घोषणा और गुजरात में 'जोहार' की जगह 'जय श्रीराम' कहना आदि इसी धार्मिक अभियान का हिस्सा है। दरअसल वनवासी शब्द के पीछे छुपे मंतव्य को पहचानते हुए रामदयाल मुण्डा लिखते हैं-"जब आदिवासी यह पाता है कि कुछ लोग उसे गिरिजन या वनवासी कहने लगे हैं तो लगता है उनसे यह सम्मान जानबूझकर छीना जा रहा है और उसे वनमानुष बनाया जा रहा है।"[11] इस प्रकार जब परंपरा से आदिवासियों के लिए 'आदिवासी' संबोधन रहा है तब उन्हें वनवासी कहने के प्रयास नितांत गैरपारंपरिक व गैरसंवैधानिक ही कहे जायेंगे। साथ ही 'वनवासी' पदबंध उनके पुराने निवासी अर्थ को व्यंजित करता है, लेकिन उनके क्षेत्रगत अधिकार की व्यंजना इससे नहीं होती। 'वन्य जाति' से भी सांस्कृतिक अर्थ की व्यंजना होती है, क्षेत्रगत अधिकार की अर्थव्यंजना इससे नहीं होती।

गिरिजन :- पहाड़ी की कंदराओं में निवास करनेवाले गिरिजन नाम से जाने जाते हैं।

[11] गुलाबचंद पांचाल, आदिवासी:शब्द विमर्श, अरावली उद्घोष, मार्च 2011-पृ.68

1.3 आदिवासियों का नामकरण

आदिवासियों या जनजातियों को नृतत्वशास्त्रियों ने अलग-अलग नामों से संबोधित किया है। "रिजले, लेके, ग्रिगसन, सोबर्ट, टेलेण्ट्स, सेजनिक, मार्टिन तथा ए.वी.थक्कर ने उन्हें 'आदिवासी' (एबारिजिंस) नाम से पुकारा है। हट्टन ने इन्हें 'आदिम जातियाँ' (प्रिमिटव ट्राइब्स) नाम से संबोधित किया है। सर बेन्स ने इन्हें 'पर्वतीय जनजातियाँ'[12] (हिल ट्राइब्स) की संज्ञा दी है। टेलेण्ट्स सेजनिक तथा मार्टिन उन्हें सर्वजीववादी (एनिमिस्ट्स) कहते हैं। बेन्स ने उन्हें 'वन्य-जाति'[13] (जंगल पीपुल, फॉरेस्ट ट्राइब्स अथवा फोक) नाम से संबोधित किया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ.घुरये ने उन्हें 'तथाकथित आदिवासी' (सो काल्ड एबारिजिन्स) अथवा 'पिछड़े हुए हिंदू' नाम दिया है जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अंतर्गत स्वीकारा गया है। स्वर्गीय वैरियर एल्विन ने बैगा जनजाति के लोगों को देश के 'मूल स्वामी' (ओरिजनल ऑनर्स ऑफ द कंट्री) के नाम से सबोधित किया है।"[14]

इन नामकरणों के पीछे तर्क भी दिया गया है। सर्वप्रथम उन्हें 'आदिवासी' कहा गया है क्योंकि "इन लोगों के मतानुसार ये इस देश के आदि मनुष्य हैं। इन्हें 'वन्य-जाति' इसलिए कहते हैं कि ये जंगलों, पहाड़ों पर रहते हैं। इन्हें 'आदिम जाति' भी कहा जाता है क्योंकि सभ्यता की दृष्टि से ये प्रारंभिक अवस्था में हैं, नंगे घूमते, जंगलों में झोपड़ियाँ बना कर रहते हैं।"[15]

1.4 आदिवासियों की परिभाषाएँ : विविध संदर्भ

आदिवासी (जनजाति) की परिभाषा विभिन्न मानव-शास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने अनेक दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया है, जिनमें से मुख्य निम्न हैं-

---

[12] सर बेन्स, इथ्नोग्राफी-पृ.112-113

[13] बेन्स, सेन्सस ऑफ इंडिया, 1891, खंड-I, भाग-I-पृ.158

[14] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ, सामान्य परिचय-पृ.1

[15] डॉ.शिवतोष दास,भारत की जनजातियाँ-पृ.74

1.4.1 मानवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से

मानवविज्ञान की प्रमाणित पुस्तक 'नोट्स एण्ड क्वैरीज ऑन एन्थ्रोपोलोजी' जिसे यूरोप के एक प्रसिद्ध मानवशास्त्रीय संस्थान ने 20 वीं शताब्दी के मध्य में तैयार किया था, के अनुसार-

"जनजाति एक ऐसा मानव समुदाय है जो राजनीति या सामाजिकता के आधार पर स्वायत्त होता है और किसी एक भू-भाग में निवास करता है या उस भू-भाग का निवासी होने का दावा करता है।"[16]

उपर्युक्त परिभाषा में दो विशेषताओं का जिक्र है-विशेष भू-भाग और राजनीतिक या सामाजिक स्वायत्ता।

एडमन्सन हॉबेल ने अपनी चर्चित पाठ्य पुस्तक में आदिवासी की परिभाषा करते समय राजनीति को आवश्यक नहीं माना है। इनके अनुसार-"जनजाति वह समुदाय है जिसके सदस्य विशिष्ट भाषा बोलते हों, विशेष संस्कृति के पोषक हों तथा अपने को अन्य समुदाय से पृथक मानते हों।"[17]

एल्फ पिडिंगटन ने भी आदिवासी के लिए राजनीतिक विशिष्टता को अनिवार्य नहीं माना है। एल्फ लिंटन ने आदिवासी के लिए 'एकता की भावना' को एक आदर्श तत्व माना, डेविड मैन्डबॉम ने अपनी परिभाषा में सदस्यों की अभिरुचि तथा इसके परिणामस्वरूप उनकी सहकारिता तथा पारस्परिक सहायता की प्रक्रियाओं को दर्शाया है।

उपर्युक्त वर्णित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि आदिवासी की परिभाषा में समाज विशेष की विशिष्टताओं को प्रमुख स्थान देने की परंपरा प्रचलित है। इन विशेषताओं में सीमित क्षेत्र, भाषा, संस्कृति, राजनीति एवं आर्थिक स्वायत्तता, विशेष प्रकार की विश्वास पद्धति, पृथकता जैसे तत्व सम्मिलित हैं। किसी स्थान विशेष के समुदाय के लिए कुछ विशेषताएँ सटीक जान पड़ती हैं तो

---

[16] ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी-पृ.1
[17] डॉ.ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय भारत-पृ.2

अन्य समुदाय, जिसे आदिवासी की संज्ञा दी जाती है के लिए कुछ दूसरी विशेषताएँ। ‘दूसरे शब्दों में’ संपूर्ण आदिवासियों के लिए सभी विशेषताओं को एक साथ प्रयोजित नहीं किया जा सकता है।

समकालीन मानववेत्ताओं का एक वर्ग उपरोक्त वर्णित सांस्कृतिक आधारों को मानकर ‘आदिवासी ’ शब्दावली की परिभाषा करता है। इनके अनुसार, विश्व के सभी भागों में सभी विशेषताएँ एक साथ देखी जायें आवश्यक नहीं क्योंकि एक आदिवासीय समाज मूर्त होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा समाज ठोस रूप से है। अतः इन्हें परिकल्पित रूप में सोचा नहीं जा सकता है। जो विशेषताएँ उपस्थित हों उनका उल्लेख करना जरूरी है और यह दर्शाना आवश्यक है कि दूसरे समाजों से ये किस प्रकार भिन्न हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थक ‘आदिवासी’ के लिए सार्वभौम परिभाषा पर बल नहीं देते हैं।

मानववेत्ताओं का दूसरा वर्ग यह मानता है कि ‘आदिवासी’ की मानवशास्त्रीय परिभाषा सांस्कृतिक विशेषताओं पर आधारित नहीं हो सकती है। क्योंकि सर्वमान्य परिभाषा के लिए यह जरूरी है कि आदिवासी को एक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया जाये। एक अवधारणात्मक परिभाषा सामान्यीकृत विशेषताओं से युक्त होती है। दूसरे शब्दों में, यह तर्कपूर्ण तथ्यों पर आधारित होती है। यह आवश्यक नहीं है कि ये तथ्य एक साथ सभी समाजों में उपस्थित हों। यह तभी संभव है जब आदिवासी की परिभाषा संरचनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत की जाये। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि-

"जनजाति एक सामूहिक समूह है जिसकी संस्थाएँ एवं नियम परस्पर संबद्ध होती हैं तथा यह स्तरहीन सामाजिक व्यवस्था पर आधारित होती है। जनजाति के सांस्कृतिक तत्वों (भाषा, धर्म या लोक-विश्वास) में एकरूपता पायी जाती है जिस कारण वे अन्य समूहों से अलग अपनी विशिष्टता बनाये रखती है।"[18]

[18] डॉ.ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय भारत-पृ.3

भारतीय समाज के कुछ विशेष समूहों (पूर्व में प्रचलित आदिवासी, वन्यजाति, पर्वतवासी, वनवासी, आदिम जाति इत्यादि) को जनजातीय रूप में वर्गीकृत करने की परंपरा 19 वीं सदी में अंग्रेज़ शासकों द्वारा प्रारंभ की गई। स्वतंत्र भारत के संविधान में 'अनुसूचित जनजाति' की सूची का आधार वही है जिसे विदेशी शासकों ने तैयार की थी। सूची तैयार करते समय जनजाति की मानवशास्त्रीय परिभाषा पर विशेष ध्यान नहीं देकर केवल उन्हें सम्मिलित किया गया जो हिंदू वर्ण व्यवस्था के बाहर थे, साथ ही सदियों से उपेक्षित रहे। समकालीन भारतीय मानववेत्ताओं ने इस सूची को उसकी तर्क संगति की समीक्षा किए बिना ही कमोवेश स्वीकार कर ली है। फिर भी मानववेत्ताओं ने भारतीय परिवेश में जनजाति की परिभाषा करते समय 'मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण' अपनाया है जो इस प्रकार है-

प्रख्यात भारतीय मानवशास्त्री स्वर्गीय डी.एन.मजूमदार ने भारतीय परिवेश में जनजाति की परिभाषा इस प्रकार की है-

"आदिवासी जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह है जो सामान्य नाम धारण किये हुए हैं। इसके सभी सदस्य एक ही भूमि पर वास करते हैं और एक ही भाषा-भाषी, विवाह की प्रथाओं तथा कारोबार संबंधी एक ही नियम का पालन करते हैं। वे आदान-प्रदान संबंधी पारस्परिक व्यवहार को विकसित करते रहते हैं। साधारणतया आदिवासी जनजाति अंतर्विवाह-सिद्धांत का समर्थन करती है और उसके सभी सदस्य अपनी ही जन-जाति के अंतर्गत विवाह करते हैं। कई गोत्र मिलकर आदिवासी जनजाति की रचना करते हैं। प्रत्येक गोत्र के सदस्यों का परस्पर रक्त-संबंध जुड़ा होता है। इनमें या तो लघु वर्ग एक बृहतवर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं अन्यथा उनका वंश-परंपरागत सरदार होता है। इस दृष्टि से आदिवासी जनजाति को एक राजनीतिक संघ भी माना जाता है।"[19]

[19] मजूमदार, रेसेज़ एंड कल्चर्स ऑफ इंडिया 1921-पृ.367

एफ.जी.बेली ने भारतीय जनजातियों का चित्रण खंडीय व्यवस्था के अनुसार किया है। "एक खंड (प्रमुख भाग) दूसरे से पृथक् होता है। यह व्यवस्था न केवल क्षेत्रीय विस्तार में छोटी होती है, यह संरचना की दृष्टि से एक 'विशेष प्रकार' का प्रतिनिधित्व करती है जो अपेक्षाकृत जटिल सामाजिक व्यवस्था (यथा हिंदू व्यवस्था) से भिन्न होता है।"[20]

उपर्युक्त परिभाषाओं में प्रायः उन सभी विशेषताओं का उल्लेख है जो भारत की अनुसूचित जनजातियों में देखी जा सकती हैं। किंतु वर्तमान 'अनुसूचित जनजाति' की सूची में कुछ ऐसे समुदाय सम्मिलित हैं जिनकी विशेषताएँ उपरोक्त वर्णित जनजाति के लक्षणों से मेल नहीं खाती। हालिया मानवशास्त्री अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि भारत के विभिन्न स्थानों में कुछ ऐसे समूह हैं जिन्हें जनजाति की संज्ञा देना तर्कसंगत है किंतु वे 'अनुसूचित जनजाति' की संवैधानिक सूची में सम्मिलित नहीं हैं। अध्ययनों से यह भी स्पष्ट हुआ है कि वर्तमान सूची में ऐसे समूह भी सम्मिलित हैं जो वास्तव में जनजाति कहलाने योग्य नहीं हैं। वस्तुतः वर्तमान समय में भारत में उन्हीं समूहों को जनजाति माना गया है जो 'अनुसूचित जनजाति' यानि प्रशासनिक सूची में सम्मिलित हैं।

1.4.2 अन्य परिभाषाएँ

इसके अलावा कतिपय आदिवासियों से संबंधित महत्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्न हैं-

इम्पीरियल गजेटियर में जनजातियों को परिभाषित करते हुए लिखा गया है-"जनजाति ऐसे परिवारों का संकलन है जिसका एक सामान्य नाम है, सामान्य भाषा है तथा जो सामान्य भू-भाग में बसे हुए हैं अथवा उसमें बसे होने का दावा करते हैं तथा वे प्रायः अंतर्विवाही नहीं होते, चाहे पहले ऐसी प्रथा उनमें पायी जाती रही हो।"[21]

---

[20] डॉ.ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय भारत-पृ.4

[21] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी-पृ.2

हिंदी विश्वकोश के अनुसार-

"'आदिवासी' शब्द का प्रयोग किसी क्षेत्र के मूल निवासियों के लिए किया जाना चाहिए परंतु संसार के विभिन्न भू-भागों में जहाँ अलग-अलग धाराओं में अलग-अलग क्षेत्रों से आकर लोग बसे हों उस विशिष्ट भाग के प्राचीनतम या प्राचीन निवासियों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।"[22]

ऑक्सफोर्ड संदर्भ कोश के अनुसार-"परिवार का एक समूह या जाति जो सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या खून के रिश्ते से जुड़े हों, जो एक बोली, संस्कृति और एक मुखिया से शासित होते हों।"[23]

जेकब्स और स्टर्न की परिभाषा-"एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का एक ऐसा समूह जिसकी समान भूमि हो, समान भाषा हो, समान संस्कृति हो और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे के साथ ओत-प्रोत हो-जनजाति कहलाता है।"[24]

गिलिन और गिलिन ने अपनी रचना, 'कल्चरल एन्थ्रोपोलॉजी' में जनजाति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि-

"स्थानीय जनजातीय समूहों का ऐसा समवाय जनजाति कहा जाता है जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता है, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करता है तथा जिसकी एक सामान्य संस्कृति है।"[25]

रिवर्स ने कहा है कि-

"यह एक साधारण प्रकार का सामाजिक समूह है, जिसके सदस्य एक सामान्य बोली का प्रयोग करते हैं तथा युद्ध आदि जैसे सामान्य उद्देश्यों के लिए सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं।"[26]

---

[22] हिंदी विश्वकोश, खड-एक-पृ.370
[23] जूडी पियरसल/बिल ट्रम्वल (सं.), ऑक्सफोर्ड अंग्रेज़ी संदर्भ कोश-पृ.1537
[24] श्रीचंद जैन, आदिवासियों के बीच-पृ.11
[25] कल्चरल एन्थ्रोपोलॉजी, न्यूयॉर्क, 1950-पृ.282
[26] मजूमदार, रेसेज़ एण्ड कल्चर्स ऑफ इंडिया 1961-पृ.368

रिवर्स द्वारा प्रतिपादित परिभाषा में सामान्य निवास क्षेत्र को जनजाति का लक्षण नहीं निरूपित किया गया। जबकि पेरी एवं अन्य मानवशास्त्रियों ने सामान्य एवं निश्चित भू-भाग को जनजातियों का विशेष लक्षण माना है। संभव है कि कुछ घुमन्तू (नोमोडिक) जनजातियों के कारण उन्होंने सामान्य क्षेत्र को उपयुक्त न माना हो किंतु अनेक अध्येता यह स्पष्ट करते हैं कि घुमन्तू जनजातियाँ भी एक निश्चित भू-भाग में ही विचरण करती हैं।

रेमन्ड फर्थ ने कहा है-"जनजाति एक ही सांस्कृतिक श्रृंखला का मानव समूह है जो साधारणतः एक ही भू-खंड पर रहता है, एक ही भाषा-भाषी है तथा एक ही प्रकार की परंपराओं एवं संस्थाओं का पालन करता है और एक ही सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है।"[27]

रेमण्ड फर्थ की ही भाँति संस्कृति को प्रमुखता देते हुए जान पीटन मर्डाक ने कहा है कि-"यह एक सामाजिक समूह होता है जिसकी एक अलग भाषा होती है तथा भिन्न संस्कृति व एक स्वतंत्र राजनैतिक संगठन होता है।"[28]

आदिवासी समुदाय के संबंध में निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास करते हुए द्वारिकादास गोयल लिखते हैं-"वन्य जातियों से हमारा तात्पर्य ऐसे सामाजिक समूहों से है जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहते हुए समान संस्कृति का अनुशीलन करते हैं अर्थात् जिनकी भाषा, धर्म, रीति-रिवाज आदि विशिष्टता लिए हुए परस्पर सामान्य हों।"[29]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह प्रदर्शित होता है कि जनजाति अथवा जनजातीय समाज की निष्कर्षात्मक परिभाषा करना सहज नहीं है तथा इस संबंध में किसी प्रकार का मानकीकरण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि जनजाति की परिभाषा के संबंध में अभी भी मानवशास्त्रियों में मतैक्य नहीं है।

---

[27] डॉ.श्रीनाथशर्मा, जनजातीय समाजशास्त्र-पृ.2

[28] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी-पृ.2

[29] द्वारिकादास गोयल, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ-पृ.88

1.5 आदिवासियों की विशेषताएँ

तथापि आदिवासियों की परिभाषाओं के आधार पर आदिवासी समुदाय की निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ देखी जा सकती हैं-

1. आदिवासी परिवारों का समूह है।
2. हर आदिवासी की अपनी एक भाषा होती है।
3. हर आदिवासी की अपनी एक संस्कृति होती है।
4. वितरण एक सुनिश्चित भू-भाग पर होता है।
5. गोत्र और अंतर्विवाही समूहों की विशिष्टता होती है।
6. स्वतंत्र सुरक्षात्मक संगठन होता है।
7. स्वतंत्र राजनीतिक संगठन होता है, जिसमें मुखिया सर्वोच्च होता है।
8. हर आदिवासी का अपना एक नाम होता है।

1.6 आदिवासी समुदाय की कसौटियाँ

वस्तुतः आदिवासी की अवधारणा के क्षेत्रीय गुणार्थ को दृष्टि में रखते हुए अंतर्राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी स्तर (इस स्तर पर परिभाषाएँ बहुत विस्तृत तथा पोली, अत्यन्त सीमित तथा संकीर्ण होने के कारण) से हट जाना ही उचित होगा तथा भारतीय परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत ही आदिवासियों के जीवन का मूल्यांकन करना उचित होगा।

टी.वी.नायक (1960) भारतीय संदर्भ में जनजातीय जीवन की निम्न कसौटियाँ (विशिष्ट लक्षण) प्रस्तुत करते हैं-

1. "किसी जनजाति को जनजाति होने के लिए समुदाय के भीतर न्यूनतम प्रकार्यात्मक पारस्परिक निर्भरता होनी चाहिए। (हिंदू जाति व्यवस्था परस्पर निर्भरता का एक उदाहरण है।)
2. उसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा होना चाहिए जिसका अर्थ है कि-
   i) उसके सदस्यों को मुद्रा व सिक्कों वाले अर्थशास्त्र के संपूर्ण महत्व का ज्ञान नहीं होना चाहिए।

ii) प्राकृतिक साधनों के समउपायोजन के लिए आदिम साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

iii) जनजाति की अर्थव्यवस्था अल्प विकसित चरण पर होनी चाहिए।

iv) उसको अनेक प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का अनुसरण करना चाहिए।

3. उनकी अन्य लोगों से तुलनात्मक भौगोलिक पृथकता होनी चाहिए।

4. सांस्कृतिक दृष्टि से एक जनजाति के सदस्यों की एक बोली होनी चाहिए जिसमें क्षेत्रीय विभिन्नता पाई जा सकती है।

5. एक जनजाति को राजनैतिक दृष्टि से संगठित होना चाहिए तथा उसकी सामुदायिक पंचायत को एक प्रभावशाली संस्था होना चाहिए।

6. जनजाति के सदस्यों में परिवर्तन की न्यूनतम अभिलाषा होनी चाहिए। उनमें एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक रूढ़िवादिता होनी चाहिए जो उन्हें उनकी प्राचीन प्रथाओं से चिपकाये रखे।

7. एक जनजाति में परंपरागत नियम होने चाहिए तथा उसके सदस्यों को इस कानूनों के कारण न्यायालय में हानि उठानी पड़ सकती है।

नायक अपने दृष्टिकोण की और अधिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि किसी भी समुदाय को जनजाति होने के लिए इन सभी गुणों का होना आवश्यक है। उसमें पर-संस्कृति (एकल्चुरेशन) हो सकता है किंतु पर-संस्कृति ग्रहण के प्रभाव का निर्धारण उसकी रूढ़ियों, देवताओं, भाषा आदि के संदर्भ में होना चाहिए। बहुत अधिक मात्रा में उत्संस्करण स्वतः ही उसे एक जनजाति होने से वर्जित कर देगा।"[30]

भारतीय आदिवासियों के अन्य बहुत से दूसरे विशिष्ट लक्षण हैं जो इस प्रकार हैं-युवागृह, बालकों एवं बालिकाओं के संस्थागत शिक्षा की अनुपस्थिति, जन्म, विवाह तथा मृत्यु के संबंध में विशिष्ट प्रथाएँ, हिंदुओं तथा मुसलमानों से

[30] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत-पृ.15-16

भिन्न नैतिक संहिता, धार्मिक विश्वासों की विशिष्टताएँ जो कि जनजातियों को निम्न जातीय हिंदुओं से भिन्न करती हैं।

अंत में कहा जा सकता है कि शासन की अपनी मजबूरियाँ जिसमें राजनैतिक कारक भी शामिल हैं, तथा संपूर्ण जनजातीय भारत में घटने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों ने 'जनजाति' के किसी आदर्श प्रतिमान के अस्तित्व को असंभव बना दिया है।

1.7 जाति एवं जनजाति

जाति और आदिवासी दोनों ही पृथक् अवधारणाएँ हैं। आदिम समुदायों में आदिवासी और हिंदू समाज में जाति महत्वपूर्ण सामाजिक समूह है। इन दोनों के अर्थ के संबंध में काफी भ्रम रहा है। कभी-कभी जाति और आदिवासी का प्रयोग पर्यायवाची रूप में किया गया है। साथ ही हमारे देश में आदिवासियों और अनुसूचित जातियों के संबंध में एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक भूल हो गयी है। संविधान ने इन दोनों अनुसूचित समूहों के लिए समान प्रावधान रखे हैं। इन दोनों समूहों के लिए एक ही आयुक्त का प्रावधान रहा है। इससे यह भ्रम हो गया है कि आदिवासी यानी अनुसूचित जनजाति और अनुसूचित जातियाँ एक ही हैं। वास्तव में दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। आदिवासी समाज संरचनात्मक और सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदू समाज से एकदम भिन्न है। देखा जाय तो कोई भी एक जाति सोपानिक व्यवस्था की अंग है। एक जाति का संबंध दूसरी जाति और संपूर्ण जाति व्यवस्था है। जबकि आदिवासी इस व्यवस्था से बाहर हैं उनमें ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। जब जाति व्यवस्था का उद्‌भव हुआ था तभी आदिवासी इस सोपानिक व्यवस्था से बाहर थे। एक बहुत बड़ा अंतर और भी है। जाति व्यवस्था का आधार पवित्र और अपवित्र की विचारधारा तथा सोपान व्यवस्था है। वैसी कोई व्यवस्था आदिवासियों में नहीं है। जातियों की तरह एक आदिवासी समूह दूसरे आदिवासी समूहों से संरचनात्मक या सांस्कृतिक रूप में जुड़ा हुआ नहीं है। बहुत बड़ी बात है:आदिवासियों में कोई सोपान व्यवस्था नहीं है जिससे हम कह सकें कि गोण्ड इस

व्यवस्था में सबसे ऊपर हैं और हलपति सबसे नीचे। प्रत्येक आदिवासी समूह अपने आप में स्वायत्त हैं, अंतर्वैवाहिकी है।

इसके आधार पर जाति एवं जनजाति में निम्न अंतर देखा जा सकता है-

(1) जाति की प्रभावी विचारधारा पवित्र और अपवित्र के मूल्य हैं। जनजाति में ऐसे कोई मूल्य नहीं होते। इसका संगठन तो नातेदारी और गोत्र के कारकों पर बन होता है।

(2) जातियों में सोपानिक व्यवस्था होती है। जनजातियों में कोई सोपान नहीं होता। प्रत्येक जनजाति समूह अंतर्वैवाहिकी और स्वायत्त होता है।

(3) एक जाति दूसरी जाति और संपूर्ण जाति व्यवस्था से प्रकार्यात्मक रूप से जुड़ी होती है। जबकि जनजाति दूसरी जनजाति से और अन्य जनजातियों से जुड़ी हुई नहीं होती।

(4) जातियाँ कर्म के सिद्धांत से बँधी होती हैं। ये पुनर्जन्म में विश्वास करती हैं। इससे इतर जनजाति हाल की जीवन की अवस्थाओं से जुड़े होते हैं। दूसरा जन्म होगा या नहीं, इसका कोई स्पष्ट मूल्य उनके पास नहीं है।

(5) जातियाँ हिंदू धर्म की धर्मविधियों और कर्मकाण्ड से बँधी होती हैं और यह विचारधारा उन्हें एक सांस्कृतिक समूह के रूप में बाँधे रखती है। इससे अलग जनजाति मूल में आत्मावादी (Animist) हैं। हाल के अनुसंधान बताते हैं कि जनजातियों ने हिंदू जातियों की बहुत-सी धर्मविधियों को अपना लिया है। लेकिन हिंदू धर्मविधियों को अपनाकर ही जनजाति अब भी अपने स्थानीय और ग्रामीण देवी-देवताओं की उपासना करते हैं। इन दोनों समूहों के अंतर को स्पष्ट करने के लिए यह कहना उचित होगा कि हिंदू जातियाँ महान परंपरा (Great Tradition) में विश्वास रखती हैं जबकि जनजातियों की ऐसी कोई महान परंपरा नहीं है। इनकी स्थानीय परंपरा किसी महान परंपरा की भाग भी नहीं हैं।

(6) जाति और जनजाति का बहुत बड़ा अंतर यह है कि जातियों में अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को छोड़कर कोई संवैधानिक

विशेषाधिकार नहीं है। जनजातियों में संवैधानिक आरक्षण है, उनकी सुरक्षा के लिए विधान हैं और उनके विकास के लिए विशेष कार्यक्रम हैं। वस्तुतः आज के जनजाति वे हैं जिनका विगत इतिहास में उच्च जातियों द्वारा आर्थिक और सांस्कृतिक शोषण किया गया है।

(7) जनजातियों को एक संरचना में बाँधे रखने का काम संविधान द्वारा दी गई सुविधाएँ हैं। जातियों को एकता में बाँधने के लिए ऐसा कोई संवैधानिक आधार नहीं है।

(8) यदि जाति व्यवस्था में निम्न जातियों की कोई बड़ी समस्या है तो वह छुआछूत की है और इसी तर्ज पर जनजातियों की भारत में यदि कोई बहुत बड़ी समस्या है तो यह उनकी क्षेत्रीय मुख्यधारा से कटकर रहने की पृथकता (Isolation) है। इस रूप में जनजाति पृथकता से पीड़ित हैं। वे स्थानीय और क्षेत्रीय मुख्यधारा से अलग-अलग हैं।

1.8 आर्य-अनार्य की धारणा

उन्नीसवीं सदी में यूरोप के उदीयमान राष्ट्र-राज्यों ने विश्व भर में अपने भुत्व एवं श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए प्रगति की धारणा में खासी दिलचस्पी ली। उपनिवेशवाद ने भी इसे बढ़ावा दिया जिसके फलस्वरूप भारत में भी आर्य मिथक जैसी अवधारणा का जन्म हुआ। विद्वानों ने भारत की सैकड़ों जातियों को दो नस्लों में 'आर्य' और 'द्राविड' या 'अनार्य' में बाँट रखा है। सभी मानते हैं कि संसार की सबसे पुरानी वैदिक साहित्यिक रचना 'ऋग्वेद' है। उसके आधार पर विश्लेषण करने से पता चलता है कि 'आर्य' और 'अर्य' दोनों शब्दों का प्रयोग इस ग्रंथ में हुआ है। "'आर्य' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 88 बार हुआ है इसका उपयोग चार विविध अर्थों-(1) शत्रु, (2) संभ्रांत नागरिक, (3) भारत देश का नाम और (4) स्वामी, वैश्य अथवा नागरिक के अर्थ में किया गया है। 'आर्य' शब्द 31 बार आया है। किंतु उसका उपयोग कहीं भी जाति के अर्थ में नहीं किया गया है।"[31] इस

---

[31] बाबा साहेब डॉ.अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय (खंड-13)-पृ.47

प्रकार ऋग्वेद में 'अर्य' या 'आर्य' शब्द का उल्लेख जाति के अर्थ में कहीं भी नहीं किया गया। प्रोफेसर मैक्समूलर ने 'आर्य' शब्द की व्यवस्था 'साइंस ऑफ लेंगुएज' में निम्न रूप से किया है-"'अर' अथवा 'अरा' प्राचीन शब्द है जिसका अर्थ जोती हुई भूमि है। ये शब्द संस्कृत भाषा से लुप्त हो गए हैं किंतु ग्रीक भाषा में 'एरा' के रूप में आज भी सुरक्षित है। अतः आर्य का वास्तविक अर्थ गृहस्थ कृषक हो सकता है।"[32] इसके अलावा उन्होंने 'आर्य' का अर्थ 'श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न' तथा 'वैश्य (कृषक) जाति' (पाणिनी के आधार पर) के संदर्भ में किया है।

भारत आने वाले प्रमुख प्रजातीय तत्वों में अंतिम नोड्रिक (भारतीय आर्य) थे जिन्होंने इसकी संस्कृति और समाज पर गहरा प्रभाव डाला। उत्तर पश्चिम से आर्य भाषाएँ बोलनेवाले समूहों की लहरें, एक के बाद, जब इस उपमहाद्वीप में आ रही थीं तब भारत में एक उन्नत सभ्यता का विकास हो चुका था। जिसे सिंधु घाटी सभ्यता या हड़प्पा सभ्यता के नाम से जाना जाता है। किंतु विद्वानों का एक वर्ग आर्य आक्रमण की धारणा पर पुनर्विचार करते हुए मानता है कि सिंधु घाटी सभ्यता आर्यों और भारत के आर्यपूर्व निवासियों की संयुक्त कृति है। नये पुरातात्विक साक्ष्य और प्राचीन भारत के इतिहासकार के आलोचनात्मक-अनुसंधान से यह स्पष्ट है कि "हड़प्पा संस्कृति की मूलभूत विशेषताएँ वैदिक ग्रंथों में वर्णित उन विशेषताओं से मेल नहीं खाती जो हिंद-आर्यभाषियों की संस्कृति से जुड़ी है। वैदिक ग्रंथों में वर्णित संस्कृति के बारे में अधिकाधिक लग रहा है कि उसने स्थानीय आचारों और विश्वासों को अपनाया था जिनमें से कुछ तो हड़प्पा संस्कृति से था उसके भी पहले से आए थे और दूसरे संभवतः भारत के तत्कालीन समाज के लिए गए होंगे। इसका लगभग कोई प्रमाण नहीं मिलता कि पश्चिमोत्तर भारत पर सीमा-पार से किसी प्रभुत्वशाली संस्कृति ने आक्रमण और उसको विजय किया होगा।"[33] इस प्रकार आर्यों ने भारत पर आक्रमण नहीं किया क्योंकि इस देश के निवासियों के साथ उनके प्राचीन समय से ही परस्पर वस्तुओं और विचारों के आवागमन के साक्ष्य

[32] बाबा साहेब डॉ.अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय (खंड-13)-पृ.46
[33] रोमिल थापर, आर्यःमिथक और यथार्थ-पृ.59

मिलते हैं। भारत के संबंध में एक प्रचलित भ्रामक तथ्य यह है कि इस देश में सभ्यता का प्रकाश आर्यों के आगमन के साथ माना जाता है। वस्तुतः "वे अपने साथ कोई सभ्यता नहीं लाये थे, वे मूलतः पशुचारी लोग थे जिन्हें कविता, दार्शनिक कल्पनाओं और विस्तृत कर्मकांडों में गहरी रुचि थी। वे इस अर्थ में 'प्रजातिवादी' थे कि वे स्वयं को श्रेष्ठ मानते तथा यहाँ पहले से रह रहे लोगों को हेय दृष्टि से देखते और उनका तिरस्कार करते थे।"[34] आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों के लिए अनेक अपमानजनक शब्द गढ़े। आर्य अपने से अलग मनुष्यों को 'बिना भाषा के मनुष्य' कहते थे और उन्हें मनुष्य ही नहीं, वरन् पशु श्रेणी में गिनते थे। अहं भाव से पीड़ित होने के कारण वे देश के पुराने वासियों को अपने-आप से कम समझते थे और उनका उल्लेख अनादरसूचक शब्दों यथा-दास, दस्यु, अनास, राक्षस, असुर आदि से करते थे। आर्यों की मौखिक परंपरा का एक बड़ा भाग कालांतर में लिपिबद्ध हो गया, इसीलिए हम जान सकें कि आर्यों के बारे में उनकी क्या सोच थी। किंतु आर्य-पूर्व परंपरा के ऐसे कोई दस्तावेज शेष नहीं हैं, जिनसे हम यह जान सकें कि अनार्यों के बारे में उनका क्या मत था। किंतु यह निश्चित है कि उन्होंने आर्यों की प्रजातीय अथवा सांस्कृतिक श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया। इस रूप में आर्य व अनार्य के बीच महज भौगोलिक व राजनीतिक दृष्टि से नहीं वरन् धार्मिक व सांस्कृतिक दृष्टि से संघर्ष महत्वपूर्ण थे। अनुष्ठानिक पवित्रता और अपवित्रता के बारे में उनकी कुछ बुनियादी धारणाएँ थीं। प्रजातीय उत्कृष्टता का दम्भ पालने के कारण आर्यों ने उसकी शुद्धता बचाये रखने के अनेक प्रयत्न किये। धर्म और भाषा का भेद, सभ्यता और व्यवहार का भेद, जाति और रंग का भेद आर्यों को अनार्यों से अलग करता था। इसी वजह से वर्णों और जातियों का जन्म हुआ।

भारतीय उपमहाद्वीप की परंपराओं की आर्यीकरण की प्रक्रिया सहज रूप में संभव नहीं थी। यही कारण है कि इसके प्रारंभिक चरण में अनेक सांस्कृतिक संघर्ष तथा युद्ध हुए जिसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। किंतु इंडो-आर्य धीरे-धीरे पशुचारण से कृषीय अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ रहे थे। इसलिए उन्हें यहाँ के प्राचीन

[34] श्यामारचरण दुबे (अनु.-वंदना मिश्र), भारतीय समाज-पृ.5

निवासियों के साथ अधिक सामंजस्य कायम करना जरूरी हो गया था। यों भी उनके बीच एक प्रकार का एकीकारण पहले से ही चल रहा था। इंडो आर्यों के पूर्व में और आगे बढ़ने और मालवा की दिशा में विंध्य पर्वतमाला पार करने के साथ यह प्रवृत्ति और बलवती हुई। इसके कारण हुए संघर्ष के परिणामस्वरूप व्रात्य परंपरा का जन्म हुआ जिसमें अनार्यों ने अपनी जातीय और क्षेत्रीय पहचान बनाए रखते हुए इंडो-आर्य कर्मकांडों तथा सामाजिक संगठन के उनके दर्शन के कुछ तत्व अपना लिए।"[35] किंतु विलयन की यह प्रक्रिया इतनी सहज न थी। कई समूह विलयन की इस प्रक्रिया का विरोध करते रहे जिसकी उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ी। अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बचाये रखने के लिए कुछ आदिवासी समूहों ने इंडो-आर्य समूह में विलीन होने से इन्कार कर दिया और विकसित सांस्कृतिक केंद्रों से पीछे हटकर दुर्गम वनों और पहाड़ियों में शरण लेना बेहतर समझा। किंतु जीवन सदैव संघर्षों से नहीं चलता। अतः अनेकों अनार्यों ने भी आर्यों की अधीनता स्वीकार कर शांति के साथ जीवन बिताना आरंभ किया। इस तरह एक ओर जहाँ सामान्य हिंदू समाज में आदिवासी प्रजातीय और सांस्कृतिक तत्वों का मिश्रण हुआ, दूसरी ओर कुछ आदिवासी समुदाय अपनी प्रजातीय शुद्धता और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य बचाये रखने में सफल हुए। अतः हम देखते हैं कि-"एक ओर आर्य-पूर्व और आर्य-तत्वों के मिश्रण से भारत में एक सामाजिक संस्कृति विकसित हो रही थी, तो दूसरी ओर कुछ आदिवासियाँ अपनी आत्म छवि और पहचान के अनुरूप जीवनशैली बनाये रखने के लिए निरंतर प्रयत्नशील थीं।"[36] कुछ लोगों की धारणा है कि भारत के मूलनिवासी आदिवासी बिलकुल असभ्य, जंगली, गँवार और जटिल थे, दरअसल यह मानसिकता अहं भाव व औपनिवेशिक मानसिकता की सोच की उपज है। जबकि वास्तविकता यह है कि मूलनिवासियों की सभ्यता आर्यों की सभ्यता से किसी तरह कम नहीं थी।

---

[35] श्यामाचरण दुबे (अनु.-वंदना मिश्र), भारतीय समाज-पृ.6
[36] श्यामाचरण दुबे, परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति-पृ.63

1.9 आदिवासियों का वर्गीकरण

आदिवासियों की विशेषताओं के आधार पर भारत के आदिवासियों को निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है-

i) भूखंडीय वितरण

ii) भाषायी वर्गीकरण

iii) प्रजातीय वर्गीकरण

iv) आर्थिक वर्गीकरण

v) सांस्कृतिक संपर्क पर आधारित वर्गीकरण

vi) धार्मिक विश्वासों पर आधारित वर्गीकरण

1.9.1 भूखंडीय वितरण

भौगोलिक दृष्टि से सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों ने भारतीय जनजातियों को कई भागों में विभाजित किया है। सर्वप्रथम बी.एस.गुहा (1951) ने भारतीय जनजातियों को तीन विशाल भौगोलिक क्षेत्रों में बाँटा है-

(अ) "उत्तरी एवं उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र-यह क्षेत्र लेह से लेकर पूर्व में लुशाई पर्वत तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र में असम, मणिपुर, त्रिपुरा, पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब तथा उत्तरी उत्तर प्रदेश के आदिवासी आते हैं। इन क्षेत्रों में अका, डकला, नागा समूह, लेपचा, भोटिया, थारू आदि अनेक जनजातियाँ पाई जाती हैं। यह क्षेत्रफल में तो काफी बड़ा है किंतु अधिकांश पहाड़ी इलाका होने से इस क्षेत्र में जनसंख्या कम है।

(आ) मध्यवर्ती क्षेत्र-यह गंगा नदी के दक्षिण में कृष्णा नदी के उत्तर तक फैला हुआ है। नर्मदा तथा गोदावरी नदियों के बीच पर्वतीय प्रदेश में अतिप्राचीन काल से जनजातियों के निवास का पता चलता है। इस क्षेत्र में संपूर्ण अन्य भारत का क्षेत्र आता है। इस क्षेत्र में सबरा, बोंदो, जुआंग, खरिया, खाड़, मिज, मुण्डा, ओराँव, संथाल, हो, बिरहोर, कोल, भील, मुरिया, माड़िया, गोंड आदि जनजातियाँ रहती हैं। इस क्षेत्र में भारत की प्रजातियाँ निवास करती हैं।

(इ) दक्षिण क्षेत्र-यह कृष्णा नदी के दक्षिण का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में दक्षिण भारत की समस्त जनजातियाँ आती हैं। इरुला, पनियन, कुरुम्ब, कादर, रोद्रा आदि इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ हैं।"[37]

डी.एन.मजूमदार तथा मदान ने भी गुहा के ही वितरण आधार को स्वीकार करते हुए भारत में तीन जनजातीय क्षेत्रों का आकलन किया है-

"(अ) उत्तर तथा उत्तर-पूर्व क्षेत्र-इसके पश्चिमी छोर पर शिमला और लेह तथा पूर्वी छोर पर लुशाई पहाड़ियाँ एवं मिशमी पट्टी स्थित है। यह क्षेत्र किनारों पर चौड़ा और बीच में सँकरा है। कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तर प्रदेश और असम के जनजातीय क्षेत्र इसी के अंतर्गत आते हैं। सिक्किम भी इसी क्षेत्र में। यूँ तो भौगोलिक दृष्टि से बंगाल और बिहार भी इसी क्षेत्र में जुड़े हैं, किंतु प्रजातीय एवं सांस्कृतिक कारणों से इन प्रांतों की जनजातियों की गिनती इस क्षेत्र में नहीं की जाती। नागा, कुकी लुशाई, मिश्मी, मजो गारो, खासी अबीर भोटिया, थारू, राजी खासी गड्डी आदि क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ हैं।

(आ) मध्यवर्ती क्षेत्र-बंगाल, बिहार, दक्षिण, उत्तर प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरी बंबई (वर्तमान गुजरात) और उड़ीसा इसी क्षेत्र में आ जाते हैं। उत्तरी राजस्थान और दक्षिण बंबई (वर्तमान महाराष्ट्र) और बस्तर (छत्तीसगढ़) इस क्षेत्र की परिधि में स्थित हैं। क्षेत्र विस्तार एवं जनजातीय जनसंख्या की दृष्टि से मध्य क्षेत्र का स्थान तीनों क्षेत्रों में सर्वप्रथम है। संथाल, उराँव, हो, खोंड, खरिया, गोंड, कुमार, कोरकू, भील, मीणा, गरासिया, सहरिया, दुबला, बारली आदि इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ हैं।

(इ) दक्षिणी क्षेत्र-मध्य क्षेत्र का दक्षिण पूर्वी भाग स्थित है। हैदराबाद (आंध्र प्रदेश), मैसूर-कुर्ग (कर्नाटक), ट्रावनकोर-कोचीन (केरल), आंध्र और मद्रास (तमिलनाडु), इसी क्षेत्र में गिने जाएंगे। चेंचू, कोया कापू, येनाडी, टोडा, कोटा, बडागा, कुंरुबा, इरुला, पनियन, कादर आदि इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ हैं।"[38]

---

[37] डॉ.श्रीनाथ शर्मा, जनजातीय समाजशास्त्र-पृ.8

[38] डॉ.श्रीनाथ शर्मा, जनजातीय समाजशास्त्र-पृ.9

प्रो.श्यामाचरण दुबे ने भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत के मानचित्र को चार प्रमुख भागों में विभाजित किया है-

"1. उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र।

2. मध्य क्षेत्र।

3. पश्चिम क्षेत्र।

4. दक्षिण क्षेत्र।

उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र के मुख्य आदिवासी समूह हैं-भोटिया, थारु, लेपचा, नागा, गारो, खासी, डाफला, कुकी, अबोर, मिकिर गुरुंग आदि। उपर्युक्त समूहों में प्रथम दो उत्तर प्रदेश के हिमालय से संलग्न क्षेत्र में वास करते हैं। लेपचा सिक्किम और समवर्ती भारतीय क्षेत्रों के निवासी हैं। इनमें से कतिपय समूह ऐसे हैं जिनका पर-संस्कृति-संपर्क अत्यन्त सीमित है, और जो जातीय गर्व से अपनी विशिष्ट जीवन-प्रणाली को अपनाये हुए हैं।

आदिवासी जनसंख्या की दृष्टि से मध्य क्षेत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बिहार के संथाल, मुंडा, उराँव और बिरहोर, उत्कल के वोंदो, खोंड, सवरा तथा जुआंग, मध्यप्रदेश के गोंड, कोल, कोरकू, कमार, भुंजिया आदि, राजस्थान के भील तथा दक्षिण पठार के चेंचू, कोलाम, कोया, राजगोंड समूह आदि इस विस्तृत आदिवासी क्षेत्र के निवासी हैं।

पश्चिम क्षेत्र में सह्याद्रि के आदिवासी समूह, जैसे वार्ली, कटकरी, महादेव कोली तथा भीलों के कतिपय समूह आते हैं।

दक्षिण क्षेत्र में अनेक अल्पसंख्यक आदिवासी समूह वास करते हैं। इनमें टोडा, बडागा, कोटा, इरुला, काटुर, कुरुंबा इत्यादि उल्लेखनीय हैं।"[39]

इसके इतर निकोबार और अंडमान द्वीपों में भी जनजातीय समुदाय निवास करते हैं। ये हैं-जरवा, ओंगे, उत्तर सेण्टी नलीज, अण्डमानी, शाम्पेन तथा

---

[39] श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति-पृ.226-227

निकोबारी। यद्यपि ये भारतीय जनजातियों की मुख्य धारा से अलग हैं फिर भी दक्षिण भारतीय जनजातियों से सजातीय दृष्टि से अधिक निकट हैं।

1.9.2 भाषायी वर्गीकरण

भारत की समस्त भाषाओं को चार भाषा परिवारों में विभक्त किया जा सकता है-1. इंडो यूरोपियन (आर्य भाषा परिवार), 2. द्रविड़ भाषा परिवार, 3. आस्ट्रिक भाषा परिवार (कोलोर मुण्डा), 4. चीनी-तिब्बती भाषा परिवार। मानवशास्त्रियों के अनुसार इन चारों भाषा परिवारों में भारत की आदिवासियाँ बाद के तीन भाषा परिवारों से संबंधित हैं। भारत के आदिवासियों में मूल रूप में आर्य भाषा परिवार के आदिवासी बहुत ही कम हैं। मजूमदार और मदान के विचार से- "भारत की जनजातियाँ यदि कहीं आर्य भाषी हैं तो भी ऐसा संस्कृति के संपन्न से संभव हुआ है। उन्होंने इसका कारण बतलाते हुए लिखा है कि सभी भारतीय जनजातियों की उत्पत्ति भारत में आर्यों के आने से पहले या गैर आर्य प्रजातियों से हुई है। अतः भारतीय जनजातियों में आर्य भाषाओं का प्रचलन नहीं है। भारत की जनजातियाँ मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन भाषा परिवारों से संबंधित हैं।

(अ) द्रविड भाषा परिवारः- द्रविड़ भाषा परिवार के अंतर्गत आनेवाली भाषाओं को बोलनेवाले आदिवासी लोग मध्य तथा दक्षिणी भारत में बसते हैं। इस भाषा परिवार के आदिवासी किसी-न-किसी रूप में तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, कुर्गी भाषा बोलते हैं। द्रविड़ भाषा बोलने वाले आदिवासियों में केरल की कादर प्रमुख है। ये आदिवासी लोग मलयाली की एक बोली बोलते हैं। गोंड द्रविड़ परिवार में बोली जानेवाली आदिवासी बोलियों में प्रमुख स्थान रखती है, जो मध्य भारत की भाषा है। यह गोंड आदिवासी द्वारा, जो मध्यप्रदेश से आंध्र प्रदेश तक फैली है, विस्तार के साथ बोली जाती है। द्रविड़ परिवार की अन्य बोलियाँ कुरुख, माल्टो, कोलामी, कुई आदिवासी समूहों द्वारा बोली जाती है। कुरुख, उरांव आदिवासी (छोटा नागपुर) की भाषा है, 'माल्टो' सौरिया पहाड़िया (संथाल परगना) की। 'कुई' उड़ीसा में बोली जाती है। इसका तेलुगु से अधिक साम्य है। भीलों की भाषा पर कोलामी का अधिक

प्रभाव है। इसके अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण आदिवासियों की भाषा का भी द्रविड़ीकरण हो गया है। यथा-मेलर, पोलिया, सओरा, कोया, पलियान, चेंचू, इरुला, कादर, मलसेर तथा मालाकुरवान।

(आ) आस्ट्रो-एशियाटिक या आस्ट्रिक भाषा परिवारः- मैक्समूलर प्रथम विद्वान थे जिन्होंने आस्ट्रिक परिवार को द्रविड़ भाषा परिवार से अलग किया तथा इस समूह को मुण्डा बोली परिवार का नाम प्रदान किया। आस्ट्रिक भाषा परिवार में मुख्य रूप से मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल तथा मुंडा भाषाएँ, असम में खासी तथा निकोबार द्वीप समूह की निकोबारी भाषा बोलने वाले आदिवासी आते हैं। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की संथाली बोली तथा बिहारी क्षेत्र की मुण्डारी, हो, खरिया, भूमिज व कुछ अन्य बोलियाँ भी इस परिवार में सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश और बरार में कोरकू, उड़ीसा में सवाना (सोरा) तथा गदाबा आदिवासियों की बोलियाँ भी आस्ट्रिक भाषा परिवार के अंतर्गत रखी जा सकती हैं।

(ग) तिब्बती-चीनी भाषा परिवारः- उत्तर और उत्तरी पूर्वी क्षेत्र की अधिकांश आदिवासी चीनी, तिब्बती और तिब्बती-बर्मी प्रकार की भाषाएँ बोलते हैं। हिमालय की तलहटी तथा असम की आदिवासियों की बोलियाँ इस भाषा परिवार से संबंधित मानी जाती हैं। इस भाषा परिवार में अबोर, मिरी डाफला, मिकिर, नागा, लुशाई आदि आदिवासी आते हैं। हिमालय के क्षेत्रों, नेपाल तथा दार्जिलिंग में तिब्बती-बर्मी शाखा का प्रचलन है। खामती के अतिरिक्त सुदूर पूर्वी असम में बोली जानेवाली अन्य सभी भाषाएँ श्यामी-चीनी शाखा के अंतर्गत आती हैं। शेष असम में तिब्बती-बर्मी शाखा की बोली का चलन पाया जाता है। इनमें से अधिकांश बोलियाँ जनसंख्या की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। तिब्बती-चीनी भाषा परिवार के अंतर्गत आनेवाली अधिकांश आदिवासी मंगोल प्रजाति से संबंधित हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट होता है कि भारतीय आदिवासियों में अनेक भाषाएँ तथा बोलियाँ प्रचलित हैं। वर्तमान सभ्यता के संपर्क में आने के फलस्वरूप अब आदिवासियों की मूल भाषा में अन्य नजदीकी क्षेत्रों में बोली जानेवाली बोलियों का व्यापक मिश्रण होता जा रहा है। जैसे-बंगाल में संथाल और मुण्डा क्रमशः

बंगाली और हिंदी समझ तथा बोल सकते हैं। भोटिया आदिवासी लोग अपनी मूल बोली को करीब-करीब भूल गये हैं तथा पहाड़ी (कूर्मांचली) और हिंदी बोलते हैं। इस तथ्य से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भाषा को आदिवासी के वर्गीकरण का विश्वसनीय आधार नहीं माना जा सकता।

1.9.3 प्रजातीय वर्गीकरण

मानववेत्ताओं ने प्रजाति, शब्दावली की व्याख्या प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण से की है। इसका अर्थ सरलतम शब्दों में यह है कि-"प्रजाति मानव समूहों के वर्गीकरण की एक प्रणाली है जिसके द्वारा एक मानव समूह शारीरिक लक्षणों के आधार पर दूसरे मानव समूह से पृथक किया जाता है।"[40] मानव-शास्त्रियों के सामने यह एक जटिल समस्या है कि भारत की जो आदि प्रजातियाँ हैं, उनका किस आदिवासी जनजाति के साथ संबंध जोड़ा जाए? भारतीय उप महाद्वीप में रहने वाली प्रजातियों के वस्तुतः कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं थे। अतः प्रमाणों के अभाव में प्रजातीय तत्वों की चर्चा के संबंध में मदान एवं मजूमदार का कथन है कि-"भारतीय प्रजातीय इतिहास संबंधी ऐतिहासिक निर्मितियों को अटकल-बाजियों पर आधारित करना पड़ता है।"[41] पूर्णतः सत्य है। वैसे वर्तमान समय में प्रजातीय अवधारणाओं की चर्चा करने की परंपरा का अंत हो चुका है।

नृतत्व-मिति के आधार पर भारत में होने वाला प्रथम प्रजातीय वर्गीकरण का प्रयास सर हरबर्ट रिज्ले द्वारा किया गया था। रिज्ले ने अपनी खोजों को 'पीपुल्स ऑफ इंडिया' (1916) पुस्तक में समस्त भारतीय जनसंख्या को सात प्रजातीय प्रकारों में वर्गीकृत किया है। इनका कथन है कि "सर्वप्रथम भारत में तीन प्रजातियाँ निवास करती थीं जो कि (1) मंगोल, (2) द्रविड़ तथा (3) इण्डो-आर्य के नाम से जानी जाती थीं। बाद में द्रविड़ से मंगोल-द्रविड़ बन गये। मंगोल की एक अन्य शाखा तथा द्रविड़ से सिथियन द्रविड़ बन गये। इसके अतिरिक्त, बलूचिस्तान एवं

---

[40] ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय संस्कृति-पृ.9

[41] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.8

उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत (जो कि अब पाकिस्तान में है) में टर्की-ईरानी प्रजाति के लोग पाये जाते हैं।"[42] इस प्रकार रिज्ले द्वारा भारतीय प्रजातियों को निम्न सात प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है-

i) टर्को-ईरानी

ii) भारतीय-आर्य

iii) सिथियन (स्कीथो)-द्रविड़

iv) आर्य-द्रविड़

v) मंगोल-द्रविड़

vi) मंगोली

vii) द्रविड़

उल्लेखनीय है कि रिज्ले ने भारत के आदिवासियों (जनजातियों) के लिए कोई पृथक् वर्गीकरण योजना नहीं प्रदान की।

ए.सी.हेड्न ने रिज्ले के उपर्युक्त वर्गीकरण को अस्वीकार करते हुए भारतीय आदिवासियों को पाँच भागों में विभक्त किया, जैसे-आदिद्रविड़, द्रविड़, मंगोल, इण्डो-आर्य तथा इण्डो-एल्पाइन। हेडन का वर्गीकरण शारीरिक विशेषता, प्रकृति-परिवेश, रीति रिवाज तथा परंपराओं के आधार पर निर्मित था। उन्होंने बताया कि "आदि-द्रविड तथा द्रविड़ ये भारत के ही आदिवासी हैं। मध्य भारत में जो आदिवासी पाये जाते हैं वे भी इसी देश के आदिवासी हैं। बाहर से आनेवालों में सबसे प्रथम आर्य ही थे। ये आर्य ईसा से पूर्व इस देश में आये इसके बाद अन्य-शक, ग्रीक, हूण तथा शान लोग बाहर से आये।"[43] जे.एच.हट्टन ने भारत की प्रजातियों को छः मुख्य भागों में विभाजित किया-1) नीग्रिटो, 2) प्रोटो-आस्ट्रेलाइड, 3) मैडिटरेनियन, 4) अल्पाइन, 5) मंगोलाइड तथा 6) इंडो-आर्य।

इस प्रकार हेड्डन ने भारत के आदिवासियों के संबंध में कोई ठोस विचार नहीं रखा है।

---

[42] हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.10

[43] डॉ.शिवतोष दास, भारत की जनजातियाँ-पृ.76

रिज्ले, हेड्डन तथा हट्टन आदि ने जिन आदि-प्रजातियों का वर्गीकरण किया है उन्हें हम स्थूल रूप से तीन में परिणत कर सकते हैं-मंगोल, द्रविड़ तथा आर्य। "इसमें कोई संदेह नहीं कि ये तीन प्रजातियाँ ही भारत की आदिम प्रजातियाँ हैं और इन तीनों में से आर्यों को छोड़कर आदिवासी जन-जातियों का निर्माण द्रविड़ और मंगोल से ही हुआ है।"[44]

वैरन इगोन वौन ईकस्टेड (Boron Egon Von Eickstedt) के मतानुसार "'हिम युग' (Glacial Epoch) में दक्षिणी भारत में 'प्रोटोनीग्रायड' प्रजाति के लोग रहते थे। भारत में रहने के कारण उसने उसे 'इंडोनीग्रिड' का नाम दिया है। इस प्रजाति के लोगों के बाद भारत में 'वेडा-प्रजाति' के लोग आये। वर्तमान में सीलोन में जो 'वेडा' लोग रहते हैं, वे उसी आदि-वेडा के प्रतिनिधि हैं। इंडो-नीग्रिड और वेड्डा के सम्मिश्रण से 'वेड्डिड वर्ग' (Veddid group) बना। यह भारत का सबसे प्राचीन वर्ग है और ईकस्टेड के अनुसार यही भारत का आदिवासी वर्ग है।"[45] इसके अतिरिक्त ईकस्टेड ने भारत की अवशिष्ट जनसंख्या को दो वर्गों में बाँटा है-

1. मैलेनिड वर्ग (Melanid Group)
2. इंडिड वर्ग (Indid Group)

इस प्रकार से भारत में आदि-प्रजातियों के तीन मुख्य वर्ग बने-

1. वेड्डिड वर्ग
2. मैलेनिड वर्ग
3. इंडिड वर्ग

ईकस्टेड का कहना है कि-"वेड्डिड और मैलेनिड वर्गों के सम्मिश्रण से भारत की जन-जातियों की उन्नति हुई। 'मैलेनिड' में 'मल' शब्द का अर्थ है पर्वत।

[44] डॉ.शिवतोष दास, भारत की जनजातियाँ-पृ.76
[45] डॉ.शिवतोष दास, भारत की जनजातियाँ-पृ.76-77

इसलिए मैलेनिड का अर्थ है पर्वतीय जातियों से। इस प्रकार से वेड्डा तथा पहाड़ी जातियों के सम्मिश्रण से भारत की जन-जातियाँ बनीं, ऐसा विश्वास है।"[46]

क्रिस्टोफ वौन फूरर हैमनडौर्फ (Christoph Von Furer Haimendorf) का मत है कि "यहाँ द्रविड़ तथा आर्य प्रजातियाँ एक ही काल में आयीं अर्थात् 2000 से 1000 ई. पू. में। द्रविड़ लोग समुद्र के पथ भारत के पश्चिमी तट के समुद्र से आये ओर दक्षिण में बस गये, आर्य लोगों ने उत्तर भारत को अपना घर बनाया।"[47] द्रविड़ लोग भारत के पश्चिमी कोने में कलात के प्रदेश में द्रविड़ भाषा आज भी बोली जाती है। नाम है 'ब्राहुई'। इसका यही अर्थ हो सकता है कि द्रविड पश्चिम से भारत आये।

अनेक मानव-शास्त्रियों का भी ऐसा ही विचार है कि द्रविड़ भी बाहर से आये हैं। दक्षिण, पश्चिम और उत्तर से द्रविड़ों तथा आर्यों ने भारत के आदिवासियों को जब खदेड़ा, तब वे मध्य-भारत के जंगलों तथा पहाड़ियों पर भाग गये। हैमनडोर्फ साहब ईकस्टेड के साथ इस बात पर सहमत हैं कि-"द्रविड़ों तथा आर्यों से हाकर मध्य भारत में शरण लेने वाले ये आदिवासी 'मैलेनिड' थे। ये ही आदिवासी जन-जातियों के पूर्वज हैं।"[48]

बी.सी.गुहा ने 1931 की जनगणना के समय नृतत्वमिति का उपयोग करते हुए 2000 मानव सिरों का मापन कर अपने निष्कर्ष को प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार "संपूर्ण भारतीय जनता के छः मुख्य और नौ उप-प्रजाति प्रकार हैं-

1. नीग्रीटो
2. प्रोटो-आस्ट्रेलाइड
3. मंगोलइड-
    (i) पोलियो मंगोलाइडः
    अ) डोलिको सेफाल्ड (लंबे सिर वाले)

---

[46] डॉ.शिवतोष दास, भारत की जनजातियाँ-पृ.77
[47] डॉ.शिवतोष दास, भारत की जनजातियाँ-पृ.77
[48] डॉ.शिवतोष दास, भारत की जनजातियाँ-पृ.77

आ) ब्रेकी सेफाल्ड (चौड़े सिर वाले)

इ) तिब्बती मंगोलायड

4. मैडिटरेनियन (भूमध्यसागरीय)

अ) पेलियो मेडिटरेनियन (पुरा भूमध्य सागरीय)

आ) मेडिटरेनियन (मध्य सागरीय)

इ) ओरिएन्टल (प्राच्य प्रकार)

5. बेस्टर्न ब्रेकी सेफाल्स (पाश्चात्य चौड़े सिर वाले)

अ) एल्पीनायड

आ) डिनॉरिक

इ) आरमीनायड

6. नार्डिक"[49]

"इनमें से भारतीय जनजातियों की उत्पत्ति प्रथम तीन समूहों-नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलाइड तथा मंगोलाइड से मानी जाती है। भारत की प्राचीन जनजातियाँ नीग्रिटो समूह से संबद्ध हैं, जैसे कोचीन के कादर, पुलायन, राजमहल पहाड़ों के आसपास के बागड़ी, असम के अंगामी नागा तथा कुछ अन्य जनजातियाँ इस श्रेणी के अंतर्गत आती हैं। इनका रंग काला, नाक चपटी और चौड़ी, होंठ मोटे, सिर लंबा और आकार छोटा होता है। ये लोग अपने रक्त की कुछ विशेषताओं में मैलीनेशिया और पूर्वी अफ्रीका की नीग्रो जनजातियों से साम्यता रखते हैं।

भारत वर्ष के मध्य भाग की जनजातियाँ प्रोटो-आस्ट्रेलायड प्रजाति समूह के अंतर्गत आती हैं। इस समूह की जनजातियों को निषाद कहा जाता है।"[50] "प्रोटो-आस्ट्रेलाइड प्रजातीय प्रकार के लोगों का छोटे से मध्यम आकार, लंबा और ऊँचा सिर, चौड़ा तथा छोटा चेहरा तथा छोटी चपटी नाक होती है। कुछ दक्षिण भारतीय जनजातियाँ जैसे चेंचू, भील आदि भी इस प्रकार की प्रजातीय विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं।

---

[49] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत-पृ.23-24

[50] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.11

जहाँ तक मंगोल प्रजातीय समूह का संबंध है, उत्तर पूर्वी भारत की अधिकांश जनजातियाँ इस प्रजातीय प्रकार में सम्मिलित हैं तथा पीले रंग की त्वचा वाली होती हैं, उनके बाल सीधे तथा काले, चपटी नाक, उन्नत गाल की हड्डियाँ तथा शिखरा मोड़ (एपिकैन्थिक) सहित बादाम के आकार वाली आँखें होती हैं। नागा, चकमा, लेपचा आदि उस प्रजातीय समूह की कुछ महत्वपूर्ण जनजातियाँ हैं।"[51]

गुहा के इस वर्गीकरण में भारत के आदिवासियों में नीग्रीटो तत्वों के पाये जाने के संबंध में मजूमदार का मतभेद है। वे इसे नहीं स्वीकारते। मजूमदार का कथन है कि-"दक्षिण एशिया में नीग्रीटो समूह के लोग पाये जाते थे, परंतु भारत की जनजातीय संस्था में इस समूह के लोगों के होने का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है।"[52] वस्तुतः गुहा ने कादर, इरुला और पनियान जैसे आदिवासी समुदायों के अनिर्णयात्मक नृतत्व-मितिक मायनों एवं शारीरिक लक्षणों की गणनाओं के आधार पर अपना मत पुष्ट करना चाहा है। मजूमदार का आक्षेप है कि-"जहाँ क्वाटफेगस ने नीग्रीटो को चौड़े सिरवाला बताया वहीं (इसके विपरीत) गुहा ने कादरों के लंबे सिरवाला (डोलिकोसेफाल्स) पाया है। सिर और नाक के मायने के अंतर विस्तार के आधार पर प्रजातीय समूहों का वर्गीकरण अब भी संभव नहीं हो पाया है। मजूमदार एक तर्क प्रस्तुत करते हुए बताते हैं कि सिरम विज्ञान की दृष्टि से ही यह विरोधाभास क्यों है कि भारतीय जनजातियों में 'बी' प्रकार का रक्त कम पाया जाता है, जबकि नीग्रीटो में 'बी' प्रकार के रक्त पाये जाने का अनुपात काफी अधिक होता है। थारुओं में 'बी' प्रकार के रक्त का अधिक पाया जाना जलवायु एवं बीमारी ('बी' समूह के रक्त वालों को मलेरिया अधिकांशतः होता है) के सजीव प्रभावों का परिणाम बताया गया है।"[53] 1931 की जनगणना के दौरान गुहा ने केवल 2000 सिरों का नृतत्वमितिक मापन किया था जो कि संपूर्ण देश की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए बहुत कम है। साथ ही नमूनों का औसत आकार एवं विधि भी अपर्याप्त है।

---

[51] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत-पृ.24-25

[52] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.11

[53] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.12

एस.सरकार तथा अयप्पन भी इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि भारत में नीग्रीटो प्रजातीय समूह के लोग हैं।

तब निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि कतिपय छिटपुट मामलों में नीग्रीटो तत्वों की भारतीय आदिवासी में उपस्थिति से नीग्रीटो प्रजाति का अस्तित्व भारतीय आदिवासी में सिद्ध नहीं हो जाता। साथ ही यह स्वीकार करना निराधार होगा कि भारतवर्ष की सभी आदिवासियों की उत्पत्ति उपर्युक्त तीन प्रजातियों से हुई है, क्योंकि अनेक नृतत्व विज्ञान-वेत्ता इस तथ्य को प्रस्तुत करते हैं कि कई आदिवासी ऐसे हैं जिनकी उत्पत्ति उपर्युक्त तीन प्रजातियों से नहीं जोड़ी जा सकती है। नीलगिरि की टोडा आदिवासी एक ऐसा उदाहरण है जिसका किसी भी प्रजाति से नृतत्व-वेत्ता संबंध नहीं जोड़ पाये हैं। इस प्रकार प्रजातीय दृष्टि से भारत की जनजातियाँ किसी एक विशिष्ट प्रकार अथवा क्षेत्र के अंतर्गत नहीं रखी जा सकती है। भारत के प्रजातीय तत्वों की अक्षुण्णता नहीं रही वरन् व्यापक रूप में इन तत्वों का सम्मिश्रण हुआ है।

1.9.4 धार्मिक विश्वासों पर आधारित वर्गीकरण

भारत के मुख्य धर्मों ने विभिन्न आदिवासी धर्मों को विविध रूप से प्रभावित किया है तथा केवल वे आदिवासी समुदाय ही अब भी अपने मूल धार्मिक विश्वासों को शुद्धता से कायम रखे हैं जो घने वनों में नितांत एकाकी सामाजिक अस्तित्व का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। 1991 की जनगणना के आधार पर आदिवासियों को निम्न धार्मिक समूहों में रखा जा सकता है-

1. हिंदू धर्म
2. ईसाई धर्म
3. बौद्ध धर्म
4. इस्लाम धर्म
5. जैन धर्म
6. अन्य धर्म (जनजातीय धर्म या आदिम धरम)

उपरोक्त वर्णित धर्मों में सभी आदिवासियों पर हिंदू धर्म का प्रभाव बहुत अधिक है तथा लगभग 90 प्रतिशत[54] आदिवासी किसी-न-किसी रूप में हिंदू धर्म का अनुसरण करती है। ईसाई धर्म स्वीकार करनेवाले आदिवासियों का 5.50 प्रतिशत[55] है। किंतु जो बौद्ध धर्म, इस्लाम अथवा जैन धर्म का अनुसरण करते हैं उनकी संख्या अत्यन्त कम है। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि वे आदिवासी जिन्होंने उपरोक्त वर्णित मुख्य धर्मों में से किसी को अंगीकार कर लिया है, उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि उन्होंने अपने आदिम विश्वास छोड़ दिये हों, बल्कि उनमें से अनेक अपने पारंपरिक विश्वास का भी व्यवहार करती पायी जाती हैं।

आदिवासियों का एक अलग भाग ऐसे धर्म को मानता है जिसका नामकरण उन्हीं आदिवासियों के नाम पर हुआ है। यथा मुण्डा आदिवासी 'मुंडा धर्म' मानते हैं, हो जनजाति 'हो धर्म' को। संपूर्ण आबादी का 4 प्रतिशत भाग निजी धर्म मानने वाली जनजातियाँ हैं।[56] इन्हें जनजातीय धर्म या आदिम धरम के अंतर्गत रखा जाता है।

"भौगोलिक सीमा क्षेत्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पश्चिम भारत, दक्षिण भारत एवं मध्य भारत की लगभग 90 प्रतिशत जनजातियाँ हिंदू हैं। उत्तर-भारत की अधिकांश जनजातियाँ ईसाई धर्म वाली हैं, इस क्षेत्र में आनेवाले राज्यों की लगभग 70% से भी ज्यादा आबादी ईसाई धर्म को मानती हैं। नागालैंड और मिजोरम की आबादी का 90% से अधिक भाग ईसाई धर्म का अनुसरण करनेवाली जनजातियों का है। दक्षिण भारत में केरल ही ऐसा राज्य है जहाँ ईसाई जनजातियों की आबादी लगभग 10 हजार है। मध्य भारत में छोटानागपुर की कुछ मुख्य जनजातियाँ भी ईसाई धर्म को मानती हैं और इनमें से ओरॉव, मुंडा तथा हो उल्लेखनीय हैं। इस्लाम का अनुसरण करनेवाली जनजातियाँ अधिकतर लक्षद्वीप, हिमाचल प्रदेश, पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र और जम्मू तथा कश्मीर में तितर-बितर

---

[54] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत-पृ.30
[55] ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय संस्कृति-पृ.14
[56] ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय संस्कृति-पृ.14

फैली है। इस प्रकार की जनजातियों में लक्षद्वीप, मिनीकाय व अमीनद्विवि द्वीप समूहों की मूल जनसंख्या का लगभग 90 प्रतिशत इस्लाम के माननेवाले हैं।

भारतीय आदिवासियों में बौद्ध धर्म माननेवाली आदिवासी नगण्य हैं। अरुणाचल प्रदेश की कुछ आदिवासियों का लामाओं के माध्यम से तिब्बत से संपर्क रहा है। इनमें प्रमुख हैं-कामेंग के निवासी मोनपा और शर्डूकपेन। अरुणाचल की उत्तरी सीमा पर (पश्चिम में मेचुका से लेकर पूरब में बलौग तक) मम्बा और खम्बा वाले बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। लाद्दाख के मूल निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं।"[57]

1.9.5 आर्थिक वर्गीकरण

भारत के विशाल भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाली बहुत-सी आदिवासियों में आज भी कुछ ऐसे आदिवासी हैं जो आधुनिक समाज के संपर्क से काफी दूर हैं। घने जंगलों और पहाड़ों में रहती है तथा अपने खाने-पीने और रहने का अपने तरीके से इंतजाम करती है। दूसरी ओर बहुत-से आदिवासी सभ्य समाज के संपर्क में आकर अपनी जीवन-पद्धति बदलते जा रहे हैं। अतःवर्तमान समय में भारत के आदिवासियों को किसी एक आर्थिक अवस्था में नहीं रखा जा सकता। मानवशास्त्रियों द्वारा भारतीय आदिवासियों का आर्थिक वर्गीकरण अभी भी किसी न किसी रूप में संपूर्ण नहीं माने जा सकते क्योंकि इनके वर्गीकरण आधार पहले हुए अध्ययनों पर आश्रित हैं। मुख्यतः शासकीय, गैर-शासकीय एवं प्रौद्योगिक उपलब्धियों का अनुचिंतन करते हुए आर्थिक जीवन दशा के आधार एक अधिक बेहतर और स्पष्ट वर्गीकरण करने का प्रयास निम्न रूपों में किया जा सकता है-

1. वनों में शिकार (आखेट) करनेवाले आदिवासी
2. पहाड़ी कृषि (झूम, कर्तन तथा दहन कृषि प्रणाली) में संलग्न आदिवासी
3. समतल भूमि पर कृषि करनेवाली आदिवासी

---

[57] ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय संस्कृति-पृ.14

4. सरल कारीगर (शिल्पी) आदिवासी

5. पशुचारण आदिवासी

निष्कर्ष

वर्तमान में आदिवासी शब्द के समानांतर कई शब्दों की अवधारणाएँ सामने आती हैं-गिरिजन, वनवासी, प्राचीन निवासी, अनुसूचित जनजाति, मूलवासी (इंडीजिनस), आदिम (अबोरिजनल), देसी (नेटिव), आदिवासी इत्यादि। इनमें से अधिकांशतः किसी-न-किसी रूप में सीमित एवं एकांगी अर्थ को ध्वनित करते हैं। आदिवासी भारत की सांस्कृतिक स्थिति तथा समस्याओं को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि इस श्रेणी के सब समूह पुरातन अवस्था के परंपरागत जीवन व्यतीत नहीं कर रहे हैं बल्कि पर संस्कृति-संपर्क, आधुनिकीकरण के कारण उनकी जीवन-शैलियों और अस्तित्व में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए हैं। हिंदी आलोचना में 'दलित' शब्द को व्यापकत्व प्रदान करते हुए इसके भीतर आदिवासी एवं अन्य हाशिये के लोगों को शामिल करने की ज़िद इस कदर हावी रही है कि आदिवासियों पर स्वतंत्र रूप से बात नहीं हो सकी या हुई भी तो महज सूचनात्मक रूप में। आदिवायिसों का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश दलितों से भिन्न ही नहीं बल्कि अलग भी है। आदिवासियों के साथ अस्पृश्यता की समस्या उतनी बड़ी नहीं थी, चूँकि वे समाज से ही अलग-थलग रहते थे। उनके स्वाभिमान ने ही उन्हें मुख्यधारा से दूर वन-कंदराओं आदि में रहने को बाध्य किया। इसलिए 'आदिवासी' एक राजनीतिक अवधारणा है जबकि 'दलित' एक सामाजिक अवधारणा है।

* * *

द्वितीय अध्याय

हिंदी में आदिवासी साहित्यिक विमर्श

2.1 आदिवासी समाज और आदिवासी साहित्य

2.2 आदिवासी साहित्य : स्वरूप व प्रकृति

2.3 आदिवासी-साहित्य के प्रेरणा-स्रोत

2.4 दलित-आदिवासी साहित्य : एक तुलनात्मक विवेचन

2.5 आदिवासी साहित्य : उद्‌भव एवं विकास

2.6 आदिवासी साहित्यिक विमर्श

2.7 आदिवासी साहित्यिक विमर्श के प्रतिमान

2.8 हिंदी में आदिवासी जीवन से संबंधित साहित्य

2.8.1 आदिवासी द्वारा लिखित साहित्य

2.8.2 गैर-आदिवासी द्वारा लिखित साहित्य

2.8.3 हिंदी आदिवासी साहित्य : गौण रूप में

द्वितीय अध्याय

हिंदी में आदिवासी साहित्यिक विमर्श

2.1 आदिवासी समाज और आदिवासी साहित्य

आदिवासी के साहित्य पर विमर्श करने से पहले आदिवासी कौन हैं? इस सवाल पर विचार करना जरूरी ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। दुनिया की सारी मानवता आरंभिक काल में कबीलाई जीवन जीती हुई सभ्यता के पथ पर आगे बढ़ी है। इसलिए विश्व के सभी समाजों के मनुष्यों के आदि-पूर्वज तो समूहचर आदिवासी ही थे। आज जो आदिम समुदाय जहाँ हैं यह जरूरी नहीं कि वे उसी स्थान के मूलवासी हों। मानव-समूहों का एक से दूसरे स्थान की ओर विचरण एक ऐतिहासिक वास्तविकता है। इस दृष्टि से दलित व आदिवासी की अवधारणाओं को समझना मुश्किल पैदा करती है क्योंकि अगर ऐसा है तो दलित व आदिवासी शेष समाज से अलग-थलग क्यों पड़े हैं? वस्तुतः इस भेद की वजह इतिहास और मानसिकता के स्तर पर है। भेद को समझने के लिए भारतीय परिप्रेक्ष्य में सुरासुर या आर्य-अनार्य संग्राम-शृंखला में जाना होगा। इसके इतर इस निष्कर्ष पर सहमत हुआ जा सकता है कि आक्रमण, प्रतिरोध और संघर्ष के उस दौर में इस धरा के मूलवासियों में जो मारे गये, वे खत्म हुए, जिन्हें पकड़ लिया जाकर गुलाम की तरह सेवा में रख लिया वे शूद्र और उनके वंशज आज के दलित हैं और जिन्हें जंगलों, पहाड़ों व दुर्गम इलाकों में धकेल दिया गया, वे आदिवासी कहलाने लगे। और ऐसे आदिवासी समुदाय कालांतर में अपने-अपने हिस्से की लड़ाई लगातार लड़ते रहे। दलित भी अपने दलन के विरुद्ध किसी-न-किसी रूप में अपना प्रतिरोध करते रहे। यह अलग बात है कि इन मानव-समाजों के संघर्षों को लिखित इतिहास में दर्ज़ नहीं होने दिया, जिसका सीधा सा कारण रहा है कि इतिहास विजेताओं के पक्ष में लिखा जाता रहा है।

दोयम दर्जे का जीवन जीते रहे दलित एक सामाजिक अवधारणा है। दुर्गम क्षेत्रों में अलग-थलग जीवन जीने वाले आदिवासियों ने दलितों की तरह सामाजिक स्तर पर अछूत होने का कष्ट नहीं भोगा। आक्रांताओं की वजह से उन्हें मजबूरन जंगलों-पहाड़ों में रहने के लिए विवश होना पड़ा। इसलिए आदिवाासी एक राजनीतिक अवधारणा है। भौतिक दृष्टि से अन्य कौमों में जो दरिद्र हैं उन्हें अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। खासकर, भू-मंडलीकरण और तज्जन्य बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उच्च तकनीकी के इस युग में हमें इस बात पर गहराई से विचार करना चाहिए, चूँकि वर्चस्वकारी और भौतिकवादी शक्तियाँ राष्ट्र-समाजों को जिस तरफ डंके की चोट पर ले जाना चाह रही है उस रास्ते पर उक्त तीनों ही श्रेणी के मनुष्यों का भला नहीं होगा। इसकी खास और एकमात्र वजह यह है कि जितने भी प्राकृतिक व कृत्रिम संसाधन हैं उन पर प्रभुवर्ग का अधिकार होगा। वर्चस्ववादी प्रभुवर्ग बनाम दलितों-दमितों-वंचितों के व्यापक लोक के वर्ग सिद्धांत को हमें समझना होगा।

इस पृष्ठभूमि में जब हम भद्र बनाम लोक के साहित्य की बात करते हैं तो दोनों में एक मौलिक अंतर पाते हैं। भद्र-साहित्य की भाषा का एक व्याकरण होता है, उसकी एक लिपि होती है, उसके शिल्प के कुछ सिद्धांत गढ़ लिए जाते हैं, और उन सिद्धांतों के आधार पर साहित्य के प्रतिमान तय किये जाते हैं। सिद्धांत-सूत्रों की सीमाबंदी बनायी जाती है। भद्र-साहित्य की परंपरा में इस सीमाबंदी को तोड़ना कठिन हो जाता है। यह एक प्रकार का यथास्थितिवाद है जो प्रभुवर्ग के चले आ रहे वर्चस्व को कायम रखने में सहायक होता है। यहाँ रचनाकार की पहचान व प्रतिष्ठा भी महत्वपूर्ण होती है जो स्पष्ट रूप से व्यक्तिवादी मानसिकता को संकेतित करती है। लोक-साहित्य की परंपरा में यह सब कुछ नहीं मिलेगा, चाहे वह भाषा का व्याकरण व लिपि हो, शिल्प के प्रतिमान हों या व्यक्तिगत पहचान की बात हो। लोक साहित्य का मौलिक स्वरूप हमें आदिवासी साहित्य की वाचिक परंपरा में मिलता है। सत्ता, संगठन और तथाकथित सभ्य समाज से कोसों दूर, साहित्य, समाज और राजनीति के हाशिए पर खड़े आदिवासी समाज के लिए शिक्षित एवं चिंतनशील वर्ग

ने इधर पहली बार अपने समाज की पीड़ा, जीवनानुभूतियों और दमित वेदनाओं को अभिव्यक्त करने की दिशा में पहल की है। इससे इस समाज के पास अब तक मौखिक रही समृद्ध साहित्यिक परंपरा को अभिव्यक्ति मिली है।

2.2 आदिवासी साहित्य : स्वरूप व प्रकृति

आदिवासी साहित्य के स्वरूप एवं प्रकृति के विषय में डॉ.विनायक तुमराम ने 'आदिवासी-साहित्य क्या है?' शीर्षक से विस्तारपूर्वक एवं गंभीर विवेचन करते हुए लिखा है-

"आदिवासी-साहित्य वनसंस्कृति से संबंधित साहित्य है। यह आदिवासी-साहित्य उन वन-जंगलों में रहने वाले वंचितों का साहित्य है जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है जिनके आक्रोश की ओर यहाँ की समाज-व्यवस्था ने कभी कान ही नहीं दिए। यह गिरिकन्दराओं मे ंरहनेवाले अन्यायग्रस्तों का क्रांति-साहित्य है। यहाँ की क्रूर और कठोर न्याय-व्यवस्था ने जिनकी सैंकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया, उस आदिम समूह का मुक्ति-साहित्य है यह। वनवासियों का क्षत जीवन जिस संस्कृति की गोद में छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की शुरुआत करने वाला है यह साहित्य। आदिवासी-साहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम-वेदना तथा अनुभव का शब्दरूप है।"[1]

किंतु केवल आदिम जीवन के चित्रण में ही आदिवासी-साहित्य का सृजन नहीं माना जा सकता। जिस सामाजिक व्यवस्था ने आदिमों का अस्तित्व नकारा, उन्हें वन-जंगलों, गिरकुहरों में जबरदस्ती धकेला, लंगोटी में जीने को बाध्य किया और उनके सामने कंदमूल परोसा, उस व्यवस्था पर विचार भी आदिवासी साहित्य करता है। इसलिए आदिवासी-साहित्य में विद्रोह व वेदना की एक खास प्रकृति दिखाई देती है-

---

[1] रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी-2, विनायक तुमराम, आदिवासियों की अब तक की साहित्य-यात्रा, (युद्धरत आम आदमी विशेषांक-2002, पूर्णांक-61)-पृ.18

"आदिवासी-साहित्य के रूप से नया विद्रोह दिन-ब-दिन आकार ले रहा है। वनवास-मुक्ति का नया संकल्प इस साहित्य के बहाने आदिमों के मन में दृढ़ हो रहा है। आदिम भारत के नवनिर्माण का स्वप्नबीज आदिवासी-साहित्य के बहाने अंकुरित हो रहा है। पहाड़ों की गोद में और कंटीली झाड़ियों में, बस्ती-बस्ती में जिनके जीवन का हर क्षण शृंखलाबद्ध हुआ है ऐसे जंगलवासियों को मुक्ति की आशा दिलाने वाला है यह साहित्य। जिसके वनवास का अंधकार कभी हटाया ही नहीं गया उस वर्ण-व्यवस्था से निर्णायक युद्ध करनेवाला यह साहित्य आदिमों की सारी शिकायतों, फरियादों को साथ लेकर युग की यात्रा पर निकल पड़ा है।"

इस साहित्य में वेदना है, विद्रोह है और अपने ढंग की अभिव्यक्ति भी है और है आदिपुत्रों को वन-जंगलों, गिरिकुहरों में कैद करनेवाली व्यवस्था के प्रति जान-बूझकर किया गया नकार। यह एक उज्ज्वल पंरपरा का बुनियादी व्यक्ति होने का अहसास है तो उसमें 'सांस्कृतिक संघर्ष में बलिदान किए जानेवाले परिवारों से हमारा रक्तसंबंध है', जैसा भावुक सुर भी है और साथ ही अपनी वैचारिक योग्यता के बल पर जंगल के मौन को तोड़ने की सौगंध भी है। आदिमों को मानसिक बल देने का वैचारिक संकेत भी उसमें है। अंगूठा काटने वालों से सावधान रहने का इशारा भी है। आदिवासी साहित्य का कुल वातावरण ही आदिम जीवन के दुःखों की खोज करनेवाला, आदिम हुंकारों से भड़का हुआ और अंधेरे से लड़नेवाला है। आदिमों के अंतर्मन की तिलमिलाहट इस वातावरण द्वारा संजो कर रखी गई है।"[2]

आज तक आदिवासी जीवन के व्याख्याकार, सलाहकर प्रस्थापित लोग ही रहे हैं। प्रस्थापितों ने आदिवासियों को अपमानित करने के साथ लांछनास्पद जिंदगी गुजारने को विवश किया। अतः आदिवासी साहित्य विस्थापन, अपमान एवं शोषण के शिकार आदिवासी लोगों की चिंता और वेदना को प्रकट करता है। "ऐसे विषम हालात में जब पूरे भारत के आदिवासी समुदाय के सामने जीवन-शैली खतरे में हो,

---

[2] रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी-2, विनायक तुमराम, आदिवासियों की अब तक की साहित्य-यात्रा, (युद्धरत आम आदमी विशेषांक-2002, पूर्णांक-61)-पृ.20

उनकी भाषाओं की मृत्यु हो रही हो तब वह और उसका साहित्य, यदि विद्रोह और असहमति की भाषा में बोलता हो, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।"[3]

आदिवासी साहित्य में अभिव्यक्त विद्रोह आदिवासियों के अस्मिता व भारतीय आदिवासी समुदाय के मानसिकता में आये व्यापक बदलाव को रेखांकित करती है। "साहित्य क्षेत्र में इन आदिवासियों के विद्रोह में वनवास मुक्ति का आशय भी छिपा है। इस विद्रोह का प्रयोजन अस्मिता का सवाल था। यह विद्रोह विध्वंसक नहीं है, ज्यादा आग्रही भी नहीं है बल्कि यह नव-सृजन की क्षमता रखेनवाला और यथार्थदर्शी भी है। यह सैकड़ों वर्षों के अन्याय-अत्याचार और छल-शोषण के विरुद्ध विद्रोह है। भारतीय आदिम समाज की पुनर्घटना इस विद्रोह में अभिप्रेत है। विलंब से ही, आदिवासियों को हुआ यह आत्मज्ञान इस विद्रोह के पीछे तटस्थता से खड़ा है।"[4]

आदिवासी साहित्य मानवीय मूल्यों, वंचितों और उपेक्षितों के अधिकारों की स्थापना और मानवीय संवेदना को उकेरने की एक नए ढंग से कोशिश करता है। अतः इस साहित्य में आदिवासियों के जीवन का स्वप्न भी मौजूद है। "आदिवासी-साहित्य जीवनवादी साहित्य है। आदिमों के सर्वांगीण उत्थान का सवाल लेकर यह साहित्य स्थापित समाज व्यवस्था को ललकार रहा है। साथ ही यह आदिमों की सामाजिक-रचना और एकात्म-जीवन का विचार भी रखने लगा है। इस साहित्य का सपना है कि आदिम समूहों में वर्गरहित, जाति रहित समाज-व्यवस्था रची जाय, जो जीवनमूल्य आदिवासियों के थे ही नहीं ये उन्हें कभी नहीं स्वीकारेंगे।"[5]

इसी रूप में आदिवासी साहित्य परंपरागत सामाजिक मानदंडों को तिलांजलि देते हुए व्यापक मानवता की स्थापना करने की सजग पहल करती है। "वस्तुतः जनजातीय साहित्य वर्ण व्यवस्था, जातिवाद, अन्याय, शोषण आदि के मठों की धारणा को खंडित कर अभिव्यक्ति के खतरे उठा रहा है। जनजातीय एवं दलित

---

[3] कमलेश्वर, आदिवासीःअस्तित्व, अस्मिता और साहित्य, वर्तमान साहित्य, जून 2005-पृ.22
[4] विनायक तुमराम, आदिवासियों की अब तक की साहित्य-यात्रा-पृ.20
[5] विनायक तुमराम, आदिवासियों की अब तक की साहित्य-यात्रा-पृ.20

साहित्य इतिहास की पुरातन धारणाओं, धर्मशास्त्रों की स्थापना का खंडन करता दिखाई पड़ता है। वह शोषण, तिरस्कार एवं परंपराओं को खारिज कर मानवता को स्थापित करना चाहता है।"[6]

लोक साहित्य का मौलिक स्वरूप हमें आदिवासी साहित्य की वाचिक परंपरा में मिलता है। इस संदर्भ में जब हम मौलिकता की बात करते हैं तो आदिम जीवन शैली, आदिम सोच, आदिम सरलता, आदिम स्वाभाविकता, आदिम गरिमा, आदिम सामूहिकता, श्रम की महिमा, प्रकृति प्रेम, बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध सीधा प्रतिरोध और आदिवासी साहित्य में इस सब की सहज अभिव्यक्ति की बात करते हैं। इस मौलिकता में जड़ता नहीं, प्रत्युत् गत्यात्मकता होती है जो भद्र-साहित्य के जड़ व कठोर प्रतिमानों से बिल्कुल भिन्न दशा का बोध कराती है।

आदिवासी परंपरागत साहित्य की सृजन-प्रक्रिया का जहाँ तक प्रश्न है तो 'प्रयास' नाम का तत्व वहाँ पूरी तरह अनुपस्थित मिलेगा। इस उत्तरोत्तर मौखिक परंपरा में कौन सा गीत या कथा या कहावत, मुहावरा, किंवदंती या पहेली किस व्यक्ति विशेष ने सृजित की-यह खोजना मुश्किल होगा। इसकी वजह सब कुछ का सामूहिक होना है। नाम व प्रयास के लिए यहाँ कोई स्थान ही नहीं है। विषय-वस्तु और संरचना के स्तर पर सतत परंपरा समकालीन के सहज रूप में अंगीकार करती चली जाती है-बारहमासी बहने वाली नदी की तरह। प्राकृतिक प्रतीकों तथा जनजातीय भाषाओं के बोल और लय के प्रयोग आदिवासियों के लेखन को विशिष्ट बनाते हैं।

आदिवासियों की सामूहिक चेतना इनके साहित्य में सहज रूप में प्रतिबिंबित होती है। "आदिवासी साहित्य एक विशेष प्रकार का लोक साहित्य है, जिसके केंद्र में होते हैं एक साथ रहनेवाले समुदायों के सामूहिक जीवन-अनुभव। सामुदायिकता के

---

[6] श्रवण कुमार मीणा, मानवीय संवेदना के धरातल पर जनजातीय साहित्य, युद्धरत आम आदमी, जनवरी-मार्च 2009-पृ.76

वहन व निर्वहन की इसी विलक्षण क्षमता को ही आदिवासी साहित्य के काव्य-सृजन की रीढ़ कहा जा सकता है।"[7]

आदिवासी साहित्य महज़ साहित्य ही नहीं है बल्कि इससे सामाजिक प्रतिबद्धता भी अनिवार्य रूप से जुड़ी है। वस्तुतः आदिवासी साहित्य केवल साहित्य ही नहीं है बल्कि यह मुद्दों पर आधारित, प्रकृति, स्त्री और दूसरे कमजोर लोगों के अधिकारों की आवाज़ उठानेवाला प्रतिबद्ध, परिवर्तनकामी तथा संकल्पबद्ध साहित्य है।

आदिवासी साहित्य दो रूपों में पाया जाता है-मौखिक (अलिखित) और लिखित।

मौखिक (अलिखित) साहित्य के अंतर्गत आदिवासियों की अनगिनत लोककथाएँ, कहानियाँ, किंवदंतियाँ, पहेलियाँ, लोकगीत, लोकसंगीत, विनती मंत्र, आराधना, वंदना आदि व्यापक एवं विस्तृत रूप में लोक-स्तर पर प्रचलित हैं जो उनके पर्वों, त्यौहारों, धार्मिक अनुष्ठानों, शादी-ब्याह तथा सांस्कृतिक रीति-रिवाजों के अवसर पर क्रमशः सुनाए, गाए, पढ़े व संपन्न किए जाते हैं।

आदिवासी साहित्य के मौखिक स्वरूप के बारे में वाहरु सोनवणे लिखते हैं- "खुशी के मौके पर अपने मन के विचारों को गुनगुनाना, उन विचारों को अपने शब्दों में बाँधना, उन शब्दों को सुर में और सुर को लय में रूपांतरित करने का मतलब है गीत का स्वरूप लेना। बांसुरी गीत गाने लगती है, ढोल बजने लगता है और सभी स्त्री-पुरुष, बच्चे और बूढ़े नाचने लगते हैं। गीत गाना, ढोल बजाना, नाचना-कूदना, यह सब आदिवासी साहित्य के मौखिक स्वरूप हैं।"[8]

वाहरू सोनवणे आगे आदिवासी साहित्य के मौखिक स्वरूप के रूप में 'कारन' व 'गाँव दिवाली' का विस्तार से उल्लेख करने के अलावा शादी के अवसर

---

[7] रामदयाल मुंडा, रमणिका गुप्ता (अनु.) , 'अस्तित्व के लिए संघर्ष-आदिवासी साहित्य का मुख्य सरोकार', अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक (युद्धरत आम आदमी)-पृ.20
[8] रमणिका गुप्ता (सं.), वाहरु सोनवणे, 'आदिवासी साहित्य-विशेषता और चुनौतियाँ', अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक (युद्धरत आम आदमी)-पृ.103

पर गाये जानेवाले गीत, कहावतें, पहेलियों की भी चर्चा करते हैं। "कारन (दशक्रिया विधि या श्राद्ध विधि) के समय में आदिवासी समाज में अपने रिश्तेदारों को बुलाया जाता है। कारन की विधि होने के बाद आदिवासी कहानीकार रात भर मृतक की याद में अपने आदिवासी जीवन की कथाएँ गाता रहता है। लोग रात-रात भर कथाएँ सुनाते हैं। ये कथा-कहानियाँ मौखिक ही होती हैं।

उत्तर महाराष्ट्र के खानदेश प्रदेश में हिंदू त्यौहार, दीपावली के एक दिन पहले से आदिवासी समाज में गाँव दिवाली का त्यौहार मनाया जाता है। यह गाँव दिवाली का त्यौहार हर आदिवासी गाँव में अलग-अलग दिन मनाया जाता है। यह त्यौहार मकर संक्रांति तक चलता रहता है। इस गाँव दिवाली में आदिवासी अपने देवी-देवताओं और धरती माता, कन्हेरी माता और वाग्देवी की पूजा करते हैं ताकि गाँव में कोई बीमारी न फैले, खेती में भरपूर अनाज पैदा हो, गाँव सुखी और समृद्ध रहे। यह भावना गाँव दिवाली की पूजा-विधि में होती है। इस गाँव दिवाली उत्सव के मौके पर आदिवासी जीवन के विविध विषयों पर आदिवासी सोंगडया पार्टी का (नाटक पार्टी) अपना सोंग यानी नाटक पेश करते हैं और रात भर लोगों को हँसाते हैं और उसका मनोरंजन करते हैं। दुःखांत नाटक पेश करके वे लोगों को गंभीर बना देते हैं। इस तरह गाँव दिवाली में जो नाटक पेश किया जाता है उसका स्वरूप भी मौखिक ही होता है। गाँव दिवाली के अवसर पर तरह-तरह के जो गीत गाये जाते हैं, वे सभी मौखिक ही होते हैं।

आदिवासियों की शादियों में लड़के और लड़कियाँ जो गीत गाते हैं, वे भी लिखित नहीं होते हैं। आदिवासियों की अपनी कहावतें व पहेलियाँ होती हैं। उनकी अपनी विभिन्न कलाएँ हैं, चित्रकला है, साहित्य है लेकिन सभी का स्वरूप मौखिक ही होता है।"[9]

आदिवासी साहित्य के मौखिक स्वरूप को लोक-साहित्य का दर्जा देते हुए वाहरू सोनवणे ने द्वितीय विद्रोही साहित्य सम्मेलन में अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए

---

[9] रमणिका गुप्ता (सं.), वाहरु सोनवणे, आदिवासी साहित्य-विशेषता और चुनौतियाँ, अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक (युद्धरत आम आदमी)-पृ.103

कहा है-"आदिवासी समाज का सुख-दुःख, आनंद, क्रोध, आशा-निराशा, भाव-भावना यानी उनकी जीवन-शैली जिन पारंपरिक साधनों के माध्यम से व्यक्त की जाती है वे साधन क्या हैं? यानी आदिवासी लोगों का साहित्य कौन-सा है? शादी-ब्याह और उत्सव के समय गाए जानेवाले गीत, काम करते समय गाए जानेवाले श्रमगीत, देवी-देवताओं के सामने रातभर चलनेवाला कथा-कथन, नृत्य-नाटक या संगीत, आदिवासी बांधवों का साहित्य है। यह साहित्य उनके जीवन का दर्पण है, उनके जीवन का यह पूरा अविभाज्य अंग है। यह लोक-साहित्य (Folk Literature) उन्होंने पीढ़ियों से जतन पूर्वक अर्जित किया है। उन्होंने इस धरोहर को आज तक सही-सलामत रखा है।"[10]

इस रूप में आदिवासी साहित्य एक विशेष प्रकार का लोक साहित्य है जिसमें आदिवासियों की लोक-संस्कृति की सामूहिक चेतना प्रतिबिंबित होती है। आदिवासियों का अपना समृद्ध लोकसाहित्य है। लोककथा, लोकगीत, लोकोक्ति आदि से वह कूट-कूट कर भरा है। प्रत्येक आदिवासी समदाय का अपना वैशिष्ट्य तथा परंपरागत लोकसाहित्य है। मौखिक परंपरा से लोकसाहित्य की अमूल्य धरोहर इस आदिम समुदाय ने जतन से संजोकर रख रखी है। इसमें इस आदिवासियों की भाषागत विशेषताओं की खोज की जा सकती है। लोककथा, लोकगीत, मुहावरे आदि से इन आदिवासियों को ठीक-ठीक क्या सुझाना है, कौन सा सामाजिक, सांस्कृतिक-भाव व्यक्त करना है, यह सिर्फ आदिवासी ही बेहतर रूप में जानते और समझते हैं।

आदिवासियों के इस लोक-साहित्य को तीन प्रधान श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है-

1) गीत

2) कहानियाँ

3) पहेलियाँ और लोकोक्तियाँ।

---

[10] रमणिका गुप्ता (सं), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, खंड-2, वाहरु सोनवणे, 'आज अगर खामोश रहे कल सन्नाटा छाएगा', युद्धरत आम आदमी, विशेषांक-2002 (पूर्णांक-61), -पृ.30

इनके लोकगीत मानव जीवन के अविकसित काल की वह रचना है, जिनका निर्माण मानव ने अपने जीवन के विभिन्न स्तरों के साथ अपनी रुचि और सामाजिक विकास के साथ किया। अतः उपलब्ध सारे लोकगीत किसी कालविशेष की रचना नहीं हैं, वे मानव-जीवन के विकास के विभिन्न स्तरों और सामाजिक विकास के विभिन्न सोपानों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही कारण है कि उनमें सर्वत्र स्वाभाविकता पाई जाती है और इसी स्वाभाविकता से इन गीतों में सौंदर्य तथा सत्यता के दर्शन होते हैं। लोकगीतों का कवि वास्तव में कवि नहीं, गायक होता है। उनके गीत किसी क्षेत्रीय या शास्त्रीय बंधन से आबद्ध नहीं होते। इन लोकगीतों के अज्ञात गायकों ने इनमें अपनी ओर से कभी किसी रस की प्रतिष्ठा करने या उन्हें अलंकारों से बोझिल बनाने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने अपनी हृदयानुभूति की इन गीतों में जो अभिव्यंजना की है, उसी में स्वाभाविकता से रस और अलंकार आ गए हैं, जो उन गीतों के अभिन्न अंग बन गए हैं। लोक-गीतों में प्रतीकों का प्रयोग भी अधिक मिलता है। यौन गीतों में तो प्रतीकों की प्रचुरता विशेष रूप से देखी जाती है, पर आध्यात्मिक गीतों में भी उनकी कमी नहीं है। यह प्रतीक प्रयोग भी इतना शास्त्रीय नहीं, जितना सांकेतिक और सामाजिक है। कुछ गीतों में प्रतीकों का यही प्रयोग अलंकार की परिधि तक पहुँच गया है। आध्यात्मिक गीतों में अनेक स्थलों पर उसने 'रूपक' स्वरूप ग्रहण कर लिया है। निमाड़ी लोकगीत का एक उदाहरण देखिए-

"खेती खेड़ो हरिनाम की,
जामें थासे लाभ।
पाप का पालवा काटजे
काटो बाहे राल।
कर्म की कासी ये चाड़जी,
खेती जोखी थाय।
मन पवन दोइ बल दिया,
सुखी रास लगाय।

प्रेम पिराणा कर धर्‌यो,

ज्ञान और लगाय।..."

गीत बहुत लंबा है और खेती का एक रूपक है, जिसमें खेती करने के साधनों-बीज, पिराना, आर, बखर, तीफन, बीज आदि-का प्रयोग प्रतीकात्मक है। इनके द्वारा कवि ने 'हरिनाम' की खेती करते हुए मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश दिया है। इसमें रूपक अलंकार भी है।

लोक-कथाओं के बाद पहेलियाँ तथा लोकोक्तियाँ आती हैं। पहेलियों में बुझौवल भी सम्मिलित हैं, जिनसे मानसिक शक्ति की परीक्षा होती है और कई तो ऐसी गूढ़ होती हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमानों का दिमाग भी चक्कर खाने लगता है। मालवा की यह एक पहेली देखिए-

"मोती बेराना चंदन चौक में।

ओ मारु जी म्हने सोरया जी जाय।।"

(चंदन के चौक में मोती बिखरे हुए हैं, वे मुझसे बटोरे नहीं जाते)। इस पहेली का उत्तर है-"तारे।"

अब कुछ लोकोक्तियों तथा कहावतों के उदाहरण देखिए-

1. खेती नाके पानी, गाँव नाके बानी।
   (एक खेत से दूसरे खेत का पानी और एक गाँव से दूसरे गाँव की बोली भिन्न होती है।)
2. नरदा के न्याये बखरिनी हारि में।
   (छोटी वस्तु पाने के प्रयत्न में बड़ी हार गए।)
3. नाउ लखनसिंह मुँह कुकुरे कस!
   (नाम बड़े दर्शन थोड़े)
4. बारे के तेल नहीं, मनुआ मुगौरा के ठुनके।
   (हैसियत से अधिक आराम की चाह।)

इस तरह की अनेक मीठी और दिलचस्प लोक-कथाएँ, कहावतें, गीतादि आदिवासियों के लोक-साहित्य में भरे पड़े हैं, जिन्हें पढ़कर हमें इन अज्ञात कवियों

के काव्य-कौशल तथा अगाध ज्ञान के सामने बरबस झुक जाना पड़ता है। पर खेद की बात है कि हमने उस साहित्य को बेकार और गँवारू कहकर ठुकरा दिया है। यदि भारतवर्ष के इस समस्त लोक-साहित्य का संग्रह किया जाए, तो वे हमारे साहित्य की अक्षय निधि बन सकते हैं।

2.3 आदिवासी-साहित्य के प्रेरणा-स्रोत

आदिवासी-साहित्य के प्रेरणा-स्रोत ज्ञात करने के पूर्व हमें आदिम समूहों की प्रेरणा पर विचार करना होगा। "आदिवासी, प्रकृति पर निर्भर रहनेवाले मानव-समूह हैं। वह जिस पर्यावरण में रहता है उसके परिवर्तन का प्रभाव थोड़ी-बहुत मात्रा में उसकी आंतरिक संरचना पर भी होता है। जंगलों के पशु-पक्षी, फल-फूल, नदी-सरोवर का चिर-सान्निध्य उसे प्राप्त हुआ है। गिरिकुहरों और वन-जंगलों में उसका स्वत्व मुक्त-मन होकर खिला है। प्रकृति के सान्निध्य में वह बेहद खुश था। इस प्रकार उसका प्रकृति-प्रेम विलक्षण तथा उनकी प्रकृति निष्ठा दृढ़ है। प्रकृति के सान्निध्य में ही उसको अकृत्रिम स्वतंत्रता का अनुभव होता है, अतः उसका नज़रिया भी ऐसा ही होता है। द्रष्टव्य है-

"बामणों में पैदा होगे/लिख-लिख मरोगे
मारवाड़ी होगे/तोल-तोल मरोगे
चमार होगे/जूता घिस-घिस मरोगे
पर होगे वारली/तो जंगल के राजा बनोगे।"

-जंगलचे राजे-पृ.1

इस तरह की है उसकी जीवनदृष्टि तथा जीवनानुभूति। इस अनुभूति तथा जीवनदृष्टि का प्रतिबिंब उसके लोक-साहित्य में दिखाई देता है। उसके सारे जीवन व्यवहारों को इस अनुभूति तथा जीवनदृष्टि ने जकड़ रखा है। प्रकृति ही उसका सर्वस्व होने के कारण, उसकी पहली प्रेरणा यदि कोई है तो वह 'प्रकृति' है।"[11]

---

[11] रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी-2, डॉ.विनायक तुमराम, अनु.डॉ.प्रतिभा मुदलियार, 'आदिवासियों की अब तक की साहित्य-यात्रा', (युद्धरत आम आदमी, विशेषांक-2002, पूर्णांक-61)-पृ.21

अतः प्रकृति के बहुधर्मी रूप एवं प्रकृति के प्रति आत्मीयता आदिवासी साहित्य में हमें सहजता से दिखाई पड़ती है।

प्रकृति के अलावा संस्कृति आदिवासी जीवन का एकमात्र आधार और प्रेरणा स्रोत है। आदिवासियों की परंपरा, रीति-रिवाज, धार्मिक उत्सव, त्यौहार और देवी-देवता भी उनके लेखन को प्रेरित करते हैं। आदिवासियों का जीवन अनेक कलाओं से युक्त है। उनकी चित्रकला, संगीतकला, कढ़ाई, नृत्य, गायन आदि कलाएँ विशिष्ट हैं। उनका अपना समृद्ध लोक साहित्य है। मौखिक परंपरा से लोकसाहित्य की अमूल्य धरोहर इस आदिवासी ने जतन से संजोकर रखी है। लोककथा, लोकगीत, लोकोक्ति, मुहावरे आदि से इन आदिवासियों को ठीक-ठीक क्या सुझाना है,कौन सा सामाजिक, सांस्कृतिक-भाव व्यक्त करना है, यह आदिवासी साहित्यकार अपने अनुभव एवं प्रेरणा से जानते व समझते हैं।

आदिवासियों में जैसी प्राकृतिक और सांस्कृतिक प्रेरणाएँ हैं वैसी ही ऐतिहासिक प्रेरणाएँ भी हैं। उनका प्राचीन गौरवशाली इतिहास, क्रमिक विस्थापन और शोषण तथा अन्याय के प्रति उनका वर्तमान विद्रोह उनके लेखन का तीसरा प्रेरणा स्रोत है। "आदिवासी आंदोलन के विविध रंग हैं। समान सामाजिक यातना से उनका विद्रोह उत्पन्न हुआ है। कुछ आदिम जनजातियों ने आत्मसम्मान का आंदोलन प्रारंभ किया। कुछ लोगों ने अपनी धर्म-संस्कृति पर होनेवाले विदेशी आक्रमणों को रोकने के लिए विद्रोह किया, तो कुछ आदिवासियों ने शोषण, विषमता के विरुद्ध आवाज़ उठाई।"[12] वस्तुतः जिनके चिंतन में पूर्वजों के गतकालीन इतिहास का उल्लेख नहीं होता उनकी लेखनी से लिखा साहित्य चेतनाहीन और संदर्भशून्य और प्रेरणाहीन होता है। आदिवासियों का मुक्ति-संघर्ष तथा आदिवासी वीर पुरुषों का राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक योगदान भी आदिवासी-साहित्यकारों के लिए प्रेरणा-स्रोत होगा।

---

[12] रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी-2, डॉ.विनायक तुमराम, अनु.डॉ.प्रतिभा मुदलियार, आदिवासियों की अब तक की साहित्य-यात्रा, (युद्धरत आम आदमी, विशेषांक-2002, पूर्णांक-61)-पृ.22

आदिवासी-साहित्य का प्रेरणा-स्रोत उनकी बोली (भाषा) है। अतः आदिवासियों की विविध बोली भाषाओं में अभिव्यक्त लोक-साहित्य और लिखित-साहित्य ही सही अर्थ में आदिवासी-साहित्य होगा। आदिमों की लोकभाषा, उसकी शब्द-संपत्ति और अर्थ-वैभव, आदिवासी-साहित्य के शक्तिस्थल हैं। इसी वैभव से आदिवासी साहित्य दूसरों की नज़रों में तुरंत आ जाता है। प्राकृतिक प्रतीकों तथा आदिवासी भाषाओं के बोल और लय के प्रयोग उनके लेखन को विशिष्ट बनाते हैं।

कुछ अध्येताओं ने आदिम जीवन की संस्कृति को आदिवासियों का प्रेरणा-धर्म माना है। परंतु वर्तमान परिस्थितियों में निरंतर चलनेवाली नगरीकरण की प्रक्रिया में आदिवासी मनुष्य भी खिंचा चला आ रहा है। इस कारण नगरीकरण और शहरीकरण की निरंतर प्रक्रिया में आदिवासियों का धर्म धीरे-धीरे लुप्त होता दिखाई दे रहा है जिसके चलते भविष्य में रचे जानेवाले आदिवासी-साहित्य का प्रेरणा-स्रोत धर्म होगा, यह बात कम से कम आज नहीं कही जा सकती। जहाँ आदिवासियों के मूल्य ही लुप्त हो रहे हों वहाँ धर्म के अस्तित्व के बारे में भविष्यवाणी करना ही असंगत होगा।

2.4 दलित-आदिवासी साहित्य: एक तुलनात्मक विवेचन

दलित और आदिवासी मानव-समूहों की स्थिति में यदि कुछ समानताएँ हैं तो विषमताएँ भी हैं। जिस तरह दलितों के हिस्से में गाँवों के बाहर जीवन-यापन करना आया, उसी तरह से आदिवासियों के हिस्से में गाँवों से कई मील दूर जंगलों, वनों, गिरिकुहरों में जीना आ गया। वर्णव्यवस्था की आँच जैसे दलितों को लगी वैसे ही आदिवासियों को भी लगी। वर्गबली एकलव्य इसका मुखर उदाहरण हैं। दलितों पर जो अन्याय और अत्याचार हुआ, उनका जो शोषण हुआ वैसा ही अन्याय-अत्याचार आदिवासियों पर भी हुआ और उनका शोषण हुआ। किंतु इस अन्याय-अत्याचार तथा शोषण का स्वरूप भिन्न है और उसकी तीव्रता में भी अंतर है। "जिस जाति-व्यवस्था ने दलितों को जर्जर किया, उनका मनुष्यपण नकारा, सहस्रों साल अछूत बनकर जीने के लिए बाध्य किया तथा पशुवत जीवन प्रदान किया, उस

क्रूर कठिन जाति-व्यवस्था की आँच वनों जंगलों की जनजातियों तक ज्यादातर पहुँची ही नहीं। जिस विषमता की ज्वालाग्नि में दलित जल उठा, वह विषमता की ज्वालाग्नि जंगलों-वनों तक, गिरिकुहरों तक उतनी तेज गति से नहीं पहुँच पाई। उसकी तीव्रता का अहसास भी आदिवासियों को नहीं हुआ।"[13] क्योंकि प्रकृति के मुक्त परिसर में आदिवासी मनुष्य सदियों से जीता चला आ रहा है। "गाँव के बाहर जीते हुए भी गाँव के भीतर के जन-जीवन और व्यवहार से दलित का संघर्ष तथा संबंध किसी न किसी रूप में कायम ही था। आदिवासी-समूह गाँव के जीवन तथा उनके जीवन के प्रभाव-क्षेत्र से सैकड़ों योजन दूर था। गाँव के भीतर के सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवहार के साथ दलितों का जैसा संबंध और संपर्क था वैसा आदिवासियों का नहीं था। कुसुम नारगोलकर के अनुसार-"अछूतों को-चाहे हिंदू-समाज के शूद्र-सेवक के रूप में ही क्यों न हो, किंतु एक विशिष्ट सामाजिक स्थान दिया गया था, परंतु आदिवासियों को श्रेष्ठ या कनिष्ठ ऐसा कोई स्थान नहीं था। वे उपेक्षित थे। हम मनुष्य हैं-यह अहसास ही आज तक उनमें पैदा नहीं हुआ है। (जंगलचे राजे, कुसुम नारगोलकर व वसंत नारमोलकर, प्र.आ.गोरमोटी-1955-पृ.176) परिणामस्वरूप आदिवासियों के हिस्से जो एकाकीपन आया उसकी तीव्रता दलितों के हिस्से में आये एकाकीपन से निश्चित रूप से कहीं अधिक थी, इसलिए दलितों और आदिवासियों की जीवनशैली में जो लाक्षणिक अंतर मिलता है, वह सांस्कृतिक भिन्नता के कारण है, अनुभूति के निरालेपन के चलते है।"[14]

वस्तुतः दलितों और आदिवासियों के हिस्से में जो अकेलापन-एकाकीपन आया, उसका कारण भी उनकी स्वरूप भिन्नता तथा दोनों के जीवन-संघर्ष व मानसिकता में खोजना पड़ता है।

---

[13] रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी-2, डॉ.विनायक तुमराम, अनु.डॉ.प्रतिभा मुदलियार, आदिवासियों की अब तक की साहित्य-यात्रा, (युद्धरत आम आदमी, विशेषांक-2002, पूर्णांक-61)-पृ.27

[14] रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी-2, डॉ.विनायक तुमराम, अनु.डॉ.प्रतिभा मुदलियार, आदिवासियों की अब तक की साहित्य-यात्रा, (युद्धरत आम आदमी, विशेषांक-2002, पूर्णांक-61)-पृ.27-28

दलित और आदिवासी के बीच यही पार्थक्य उनके साहित्य में भी दृष्टिगत होता है। महाराष्ट्र के ठाणे जिले में आयोजित आदिवासी साहित्यिक प्रशिक्षण शिविर का उद्घाटन करते समय दैनिक केसरी, पुणे के संपादक डॉ.शरदचंद्र गोखले जी ने इसे रेखांकित करते हुए कहा था-"दलित तथा आदिवासियों के आसपास की सांस्कृतिक चौखट एवं वातावरण भिन्न है। आदिवासियों की संस्कृति की अपनी एक समृद्ध चौखट है। उनकी संस्कृति में मिट्टी की सोंधी महक है। इस कारण आदिवासी साहित्य दलित-साहित्य की नकल न बनकर, उसकी अपनी एक शैली तथा संरचना होनी चाहिए।"[15]

आदिवासियों की सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना और स्वायत्ता पर मंडराते खतरों के मद्देनज़र आदिवासी साहित्य का आंतरिक स्वर भारतीय भाषाओं के दलित-स्वर से आगे का स्वर है।

2.5 आदिवासी साहित्यःउद्भव एवं विकास

'आदिवासी साहित्य' आदिवासी साहित्य के रूप में कब प्रतिष्ठापित हुआ। आदिवासी साहित्य की शुरुआत महर्षि वाल्मीकि से मानी जानी चाहिए मगर आदि कवि वाल्मीकि के 'रामायण' को दलित साहित्य और आदिवासी साहित्य माना नहीं जाता। आदिवासियों द्वारा किये गये आंदोलनों में ज़मीर आंदोलन (1882) को महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इस आंदोलन के अंतर्गत सवर्ण ज़मींदारों के शोषण एवं अत्याचारों के विरुद्ध आदिवासी समुदाय ने अपने आत्मसम्मान की लड़ाई लड़ी। जब 3 मार्च 1900 को इनाम के लालच से वीरसिंह महली ने बिरसा मुण्डा को गिरफ्तार करवाया तब अंग्रेज़ी पुलिस द्वारा बिरसा पर किये गये अत्याचारों को कलकत्ता के समाचार पत्र 'स्टेटसमैन' और 'पायनियर' ने प्रथम बार समाचार पत्रों में छापा और कर्ज़न को सचेत किया। आदिवासी मुद्रित साहित्य की शुरुआत सही मायने में यहीं से होती है, क्योंकि आदिवासियों के दुःख-दर्द, उन पर हो रहे

[15] रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी-2, डॉ.विनायक तुमराम, अनु.डॉ.प्रतिभा मुदलियार, आदिवासियों की अब तक की साहित्य-यात्रा, (युद्धरत आम आदमी, विशेषांक-2002, पूर्णांक-61)-पृ.28

अन्याय, अत्याचार आदि को इन समाचार-पत्रों ने वाणी दी। लेकिन आदिवासियों से संबंधित इस साहित्य की सीमा अंग्रेज़ी में होना है।

"भारतीय सामाजिक संदर्भ में लगभग आठ दशकों पूर्व दलित शब्द का प्रयोग प्रारंभ हुआ और मराठी भाषा के साथ हिंदी साहित्य की एक विधा के रूप में अस्तित्व में आया। दलित साहित्य से ही आदिवासी साहित्य की शुरुआत हुई। (सुधीर जोग द्वारा प्रस्तुत शिविर के वृत्तांत पर आधारित)"[16]

सोनवणे राजेंद्र 'अक्षत' आदिवासी साहित्य की शुरुआत दलित साहित्य से मानते हैं जो कि तर्कसंगत नहीं है। किंतु आदिवासी साहित्य के उद्‌भव और परिप्रेक्ष्य निर्माण में मराठी के दलित साहित्य आंदोलन की निर्णायक भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। राजाराम भादू आदिवासी साहित्य के निर्माण में मराठी के दलित साहित्य आंदोलन के साथ नक्सलवादी आंदोलन के प्रेरणा को महत्वपूर्ण मानते हुए लिखते हैं-

"आदिवासी साहित्य के उद्‌भव और परिप्रेक्ष्य निर्माण में मराठी के दलित साहित्य आंदोलन से तो संबंध को जोड़कर देखा गया है, जो सही भी है, लेकिन आदिवासी अस्मिता और उनका संघर्षधर्मी चेतना के विकास और प्रतिरोध संगठनों के निर्माण में नक्सलवादी आंदोलन के प्रेरणा-प्रयासों को यहाँ लगभग नजरअंदाज कर दिया गया है। जबकि तेलंगाना-तेभागा आंदोलन से ही आदिवासी स्त्री-पुरुषों की गोलबंदी आरंभ हो गयी थी। यह प्रक्रिया नक्सलवादी, श्रीकाकुलम, दंडकारण्य और भोजपुर में आगे परवान चढ़ा तथा भयंकर दमन व उत्पीड़न के बावजूद आज भी आदिवासी अंचलों में फैलती जा रही है। महाश्वेता देवी के उपन्यासों, मेरी टाइलर की पुस्तक 'भारतीय जेलों में पाँच साल' और मनमोहन पाठक के उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' जैसी कृतियाँ नक्सल आंदोलन और आदिवासियों के चैतन्य उभार के गहन अंतर्संबंधों को प्रमाणित करती है।"[17]

---

[16] सोनवणे राजेंद्र अक्षत, आदिवासी विमर्श, वर्तमान साहित्य, (अप्रैल 2009)-पृ.38

[17] राजाराम भादू, और अब आदिवासी विमर्श, कथादेश (अगस्त 2002)-पृ.73

वैसे देखा जाय तो आदिवासी साहित्य के उद्‌भव के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इतना ही नहीं, आदिवासी साहित्य के बदले में वाङ्मय शब्द लेना पड़ेगा। आदिवासियों में अपने जन्म के साथ लोक कथाएँ, लोकगीत, कई प्रकार की लोकोक्तियाँ, कहावतें मौजूद थे। थाने पालघर (महाराष्ट्र) में हुए पाँचवें आदिवासी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष तथा प्रसिद्ध मराठी आदिवासी साहित्यकार वाहरू सोनवणे ने इस संबंध में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि-

"लिखित ही केवल साहित्य होता है यह कहना ही आदिवासियों की दृष्टि से असंगत है। साहित्य और कला, साहित्य और जीवन इनके बीच जो दीवारें समाज में खड़ी की जाती हैं, उन दीवारों का आदिवासी समाज में कुछ भी स्थान नहीं है। इन व्याख्याओं को बदलना जरूरी है क्योंकि आज आदिवासी समाज में कई कथाएँ, लोकगीत और नाटक तथा अनेक अन्य कलाएँ विद्यमान हैं जिसे शब्द-बद्ध नहीं किया गया है। हजारों वर्षों से चली आ रही परंपराएँ कभी भी थमी नहीं, वे परंपराएँ आज भी मौखिक रूप में आदिवासी जनजीवन का अभिन्न अंग रही हैं। फिर इसे 'साहित्य' कैसे नहीं कहेंगे? जो कलाकृति (रचना) लिखित हो अथवा अलिखित हो उसे साहित्य कहना चाहिए।"[18] यहाँ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'लोककला' आदिवासी जीवन का प्राण है। उसे छोड़कर आदिवासी साहित्य की कल्पना करना बेमानी है। अतः आदिवासियों के अस्तित्व के समय से ही आदिवासी साहित्य की अवस्थिति मानी जा सकती है, भले ही उसका स्वरूप मौखिक ही क्यों न हो। किंतु लिखित रूप में आदिवासी समुदायों के जीवन पर लेखन और विचार की शुरुआत औपनिवेशिक दौर में ही शुरू हो पाती है। राजाराम भादू के शब्दों में- "वैसे तो भारतीय आदिवासी समुदायों के जीवन पर लेखन और विचार की शुरुआत औपनिवेशिक दौर में ही आरंभ हो गयी थी। 'ओरियन्टलिज्म' के जमाने में भारतीय आदिवासी जीवन और संस्कृति को देखने का एक खास नज़रिया था जिसमें कौतूहल और हीनता भाव सम्मिलित था। देश की स्वतंत्रता के बाद एक तरफ तो

---

[18] सोनवणे राजेंद्र अक्षत, आदिवासी विमर्श, वर्तमान साहित्य (अप्रैल 2009)-पृ.39

आदिवासी समुदाय नृतत्वशास्त्रियों की औपचारिक विषयवस्तु बने, दूसरे स्तर पर वे भाषाई अध्येताओं का कर्मक्षेत्र थे। इन समुदायों को लोक समाजों (फोक सोसाइटी) में रखकर सतही किस्म के अनेकानेक सांस्कृतिक-अध्ययन किये गये। दूसरी ओर डी.डी.कोशाम्बी, डी.पी.चट्टोपाध्याय, भगवतशरण उपाध्याय और राहुल सांकृत्यायन जैसे इतिहासकारों और अध्येताओं ने इन समुदायों की विशिष्टता और विसंगतियों को प्रगतिशील दृष्टि से समझने का प्रयास किया।"[19] इन विद्वानों के अतिरिक्त ग्रियर्सन, ख्रिस्तोफर, हेमफोर्ड पादरी आदि ने आदिवासी साहित्य का संकलन करके उस पर ग्रंथ लिखे मगर वह सब अंग्रेज़ी में थे।

नृतत्वशास्त्रियों का आरंभिक नजरिया इन समुदायों के प्रति औपनिवेशिक था। लेकिन बाद के भारतीय नृतत्वशास्त्रीय अध्ययनों की प्रकृति में भी कोई आधारभूत अंतर आया हो ऐसा नहीं लगता। इतना जरूर हुआ है कि 'औपनिवेशिकता' की जगह 'आंतरिक उपनिवेश' ने ले ली। इसी भाँति 'फोकलोर' के विद्वान आदिवासी समुदायों को या तो कल्पनाप्रधान रोमानी नजरिये से देखते हैं या फिर वे पूर्वाग्रहग्रस्त होते हैं। अपने पूर्वाग्रहों के चलते वे आदिवासी संस्कृति की लघु-परंपराओं को भारतीय समाज की वृहद-परंपरा से जोड़ने का उपक्रम करते हैं। इसकी परिणति आदिवासी समुदाय को हिंदू-समाज की निम्न श्रेणियों में जाति व्यवस्था के मातहत 'अकोमोडेट' या 'कोआप्ट' करने में होती है। समाजशास्त्री पूरनचंद्र जोशी बौद्धिक वर्चस्वशाली परिप्रेक्ष्य से आदिवासी संस्कृति और ज्ञान के 'एक्सक्लूजन' (निष्कासन) पर गंभीर चिंता व्यक्त करते हैं।

किंतु भारत में वेरियर एल्विन जैसे विद्वानों ने आदिवासी समुदायों को सिर्फ 'ऑब्जेक्ट' न मानकर उनकी जीवन-शैली का वैज्ञानिक पद्धति से वस्तुपरक विश्लेषण और चिंतन प्रस्तुत किया था। इस दिशा में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त डॉ.ब्रह्मदेव शर्मा की रपट (21 वीं रपट, 1987-89) एक प्रस्थान-बिंदु है जिसने आदिवासी समुदायों के प्रति राज्य सत्ता के रवैये और रीति-नीतियों की कड़ी आलोचना करते हुए उन पर प्रश्नचिह्न लगाया। इसी

[19] सोनवणे राजेंद्र अक्षत, आदिवासी विमर्श, वर्तमान साहित्य (अप्रैल 2009)-पृ.72

समय हिंदी में आदिवासियों के प्रति संवेदनशील और मानवीय दृष्टि से उपजा लेखन सामने आया। वेरियर एल्विन से प्रेरित कथाकार शानी ने ‘शालवनों के द्वीप’ में ‘अबूझमाड़’ का सच दुनिया वालों के सामने लाये तो डॉ.ब्रह्मदेव शर्मा की प्रेरणा से रामशरण जोशी ने कालाहांडी, बस्तर और कनाडिया के आदिवासी अंचलों पर विश्लेषणात्मक मार्मिक लेख और पुस्तकें लिखकर आदिवासियों की वेदना को वाणी दी।

लेकिन आदिवासी समुदायों पर लेखन और चिंतन अभी तक इकतरफा था। चूँकि उसमें आदिवासी शामिल नहीं थे, इसलिए इसे मुकम्मिल ‘विमर्श’ भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में हिंदी में ‘आदिवासी विमर्श’ को गति देने का काम झारखंड के आदिवासी बहुल क्षेत्र हजारीबाग से 1987 में प्रकाशित ‘युद्धरत आम आदमी’ और उसकी संपादिका रमणिका जी और उदयपुर (राजस्थान) से प्रकाशित होने वाली पत्रिका ‘अरावली उद्घोष’ के संपादक बी.पी.वर्मा पथिक जी ने किया। लेकिन इसके पूर्व महाराष्ट्र में आदिवासी साहित्य आंदोलन की शुरुआत हो चुकी थी। सन् 1979 को प्रो.विनायक तुमराम की पहल से आदिवासियों का पहला साहित्य सम्मेलन चंद्रपुर जिले के ‘भद्रावती’ गाँव में आयोजित किया गया था। इसके बाद तीन-चार बार आदिवासी साहित्य सम्मेलनों का आयोजन किया गया जिसमें प्रो.राव साहब कसबे, गोविंद गारे तथा लक्ष्मण माने का बड़ा योगदान था। आदिवासी साहित्य और शोध को लेकर प्रसिद्ध आदिवासी संशोधक डॉ.गोविंद गारे के संशोधन और साहित्य ने नयी दिशा दी। डॉ.गोविंद गारे जी ने ‘महाराष्ट्र के महादेव कोली’, ‘वारली’ ‘आदिवासी वीरों का इतिहास’, ‘आदिवासी-प्रश्न, महाराष्ट्र के दलित शोध और बोध’ तथा ‘अनुभूति’ नामक कविता संग्रह लिखकर आदिवासी साहित्य और दलित साहित्य आंदोलन को नयी दिशा दी।

वाहरू सोनवणे आदिवासी लेखन ग्रामीण साहित्य संगठन के आंरभ से मानते हैं। "1980 के दशक में ग्रामीण साहित्य संगठन का आरंभ हुआ। इस आंदोलन ने किसान और खेत-मजदूरों के दुःख-दर्द और शोषण को जनता के सम्मुख रखा लेकिन इनमें जो अग्रसर लोग थे वे इतने मजबूत नहीं थे, इसी कारण यह संगठन

तितर-बितर हो गए। फिर भी रार बोराडे से लेकर गुंदेकर होलकर जैसे नए पीढ़ी के लेखकों तक ग्रामीण आंदोलन चलता गया। इसी समय आदिवासी लेखक ने लिखना आरंभ किया। मौखिक वाङ्मय को शब्द रूप देने का काम शुरू हुआ। आदिवासी साहित्यकारों ने ऐसा करके मराठी साहित्य को एक नया आयाम दिया। आदिवासी साहित्यकारों की पहली पीढ़ी में मेरे साथ भुजंग मेश्राम, विनायक तुमराम, जैसे कवि और नजुबाई गावित जैसी उपन्यासकार का समावेश है। दिन पर दिन विकसित होने वाले इस प्रभावी साहित्य को व्यासपीठ उपलब्ध कर देने का प्रयास कॉ.शरद पाटी, बाबूराव बागूल राव साहेब कसबे आदि साहित्यकारों ने किया। दलित, ग्रामीण और आदिवासी साहित्य की विचारधारा में ऐक्य होने के कारण इन तीनों प्रवाहों में आपस में वैचारिक आदान-प्रदन हुआ, जिससे साहित्य में नवीनता आ गई।"[20] किंतु यह आदिवासी लेखन मराठी साहित्य की ओर पूर्णतया उन्मुख है किंतु फिर भी महाराष्ट्र में हुए आदिवासी साहित्य आंदोलन ने आदिवासी लेखन को उत्प्रेरक का काम किया है। और इस तरह आदिवासियों के प्रति गंभीर सरोकार रखनेवाले लेखक व अध्येताओं के सामने आने का जो सिलसिला बना वह आज तक जारी है और आगे भी तब तक जारी रहेगा, जब तक इस देश में आदिवासियों का अस्तित्व रहेगा।

2.6 आदिवासी साहित्यिक विमर्श

पहले आदिवासियों को 'दलितों' में समाविष्ट किया जाता था। इतना ही नहीं, उनके साहित्य को 'दलित साहित्य' ही कहा जाता था। वैसे देखा जाए तो आदिवासी और दलित दोनों सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों समाज से कटे हुए थे। मगर आज़ादी के बाद दलित मुख्यधरा में मिल गये और आदिवासी मुख्यधारा से कटे रहे और आज भी अलग-थलग रह रहे हैं, जिसके कारण आदिवासी साहित्य एक अलग चिंतन और विमर्श का विषय बन जाता है। अकारण नहीं है कि भुजंग मेश्राम ने दलित साहित्य से पृथक् आदिवासी साहित्य की जरूरत

[20] सोनवणे राजेंद्र अक्षत, आदिवासी विमर्श, वर्तमान साहित्य (अप्रैल 2009)-पृ.39

बताई है। 'अरावली उद्घोष' पत्रिका के संपादक बी.पी.वर्मा 'पथिक' अपने एक लेख 'आदिवासी विमर्श' की भूमिका में स्पष्ट कहते हैं कि-"बीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक हिंदी पट्टी में केवल दलित विमर्श और दलित साहित्य का बोलबाला रहा था। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो, तब न कहीं आदिवासी विमर्श और आदिवासी साहित्य का जिक्र होता था और न कभी इनकी आवश्यकता ही महसूस की जाती थी। चाहे गैर आदिवासी साहित्यकार हों या दलित साहित्यकार अधिकांश ने यही भ्रम पाल रखा था कि दलित संज्ञा में आदिवासी का भी समावेश है। समर्थन में अनुकूल तथ्य और तर्क जुटा लिये गये थे। इस भ्रम को तोड़ने का कभी किसी ने कोई सार्थक प्रयास नहीं किया।"[21] किंतु कालांतर में आदिवासी साहित्य की स्वतंत्र पहचान बनती है।

वस्तुतः हिंदी में 'आदिवासी विमर्श' को गति देने का काम झारखंड के आदिवासी बहुल क्षेत्र हजारीबाग से 1987 में प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' और उसकी संपादिका रमणिकाजी और उदयपुर राजस्थान से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'अरावली उद्घोष' के संपादक बी.पी.वर्मा 'पथिक' जी ने किया। इसके पूर्व महाराष्ट्र में आदिवासी साहित्य आंदोलन की शुरुआत हो चुकी थी, लेकिन इसका संबंध मराठी भाषा एवं साहित्य से ज्यादा था।

'अरावली उद्घोष' अंक 41 (जुलाई-सितंबर 1998) में 'कुछ सवाल' शीर्षक संपादकीय ने रमणिका जी का ध्यान आदिवासी विमर्श की ओर प्रथम बार खींचा। 'युद्धरत आम आदमी' की संपादिका रमणिका जी जो दलित विशेषांक निकालने में लगी थीं, उन्होंने अपनी पत्रिका को आदिवासी विमर्श पर केंद्रित किया। रमणिका जी के कारण ही आदिवासी विमर्श का जन्म हुआ और 'युद्धरत आम आदमी' के विशेषांक 'आदिवासी स्वर एवं नयी शताब्दी' भाग-1 और भाग-2 के द्वारा आदिवासी विमर्श स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आया।

'और अब आदिवासी विमर्श' नामक लेख में राजाराम भादू लिखते हैं कि- "हिंदी क्षेत्र में दलित विमर्श और स्त्री-विमर्श को उभारने और विकसित करने में

[21] सोनवणे राजेंद्र अक्षत, आदिवासी विमर्श, वर्तमान साहित्य (अप्रैल 2009)-पृ.38

'हंस' और राजेंद्र यादव के साथ लघु पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' और उसकी जुझारू संपादिका रमणिका गुप्ता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। तदन्तर रमणिका जी ने 'युद्धरत आम आदमी' के तेलुगु, गुजराती और पंजाबी दलित साहित्य पर केंद्रित अंकों के जरिए दलित-विमर्श के कैनवास को और व्यापक किया। अन्यथा इससे पहले दलित विमर्श के संदर्भ मराठी और हिंदी तक ही सीमित थे। इसके बाद इन्होंने पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' को समग्र आदिवासी जीवन पर केंद्रित किया। विशेषांक की घोषणा में साफ कहा गया कि सिर्फ आदिवासी लेखकों की रचनाएँ इसमें शामिल की जायेंगी। गैर आदिवासी अनुवादक के रूप में सहयोग कर सकते हैं। विशेषांक के पीछे संपादकीय मन्तव्य था कि आदिवासी क्या सोचते हैं, क्या लिखते हैं, स्वयं अपने जीवन और वर्चस्वशाली तबकों के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण है, यह सामने आये। 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' विशेषांक के दो खंडों में मौन की संस्कृति संभवतः हिंदी में पहली बार इस तरह मुखरित हुई है।"[22]

'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका के साथ-साथ 'अरावली उद्घोष' पत्रिका ने भी अंक 52 व 54 क्रमशः 'आदिवासी चेतना' और 'स्मरणीय आदिवासी विभूतियाँ' नामक विशेषांक निकालकर आदिवासी विमर्श को स्वर दिया। इतना ही नहीं इस पत्रिका ने 'आदिवासी कहानी विशेषांक' व 'आदिवासी कविता विशेषांक' भी प्रकाशित कर आदिवासी कहानीकारों एवं आदिवासी कवियों को प्रकाश में लाकर आदिवासी विमर्श को आगे बढ़ाया है। अब तक आदिवासी विमर्श पर पूर्वोत्तर खामोश था मगर 'युद्धरत आम आदमी' की संपादिका रमणिका गुप्ता द्वारा 2005 में अपनी पत्रिका का 'पूर्वोत्तर का आदिवासी स्वर' विशेषांक निकालने से आदिवासी विमर्श से अब पूर्वोत्तर की हिस्सेदारी भी जुड़ गयी है। रमणिका गुप्ता के इतर पूर्वोत्तर के जीवन पर केंद्रित 'समन्वय पूर्वोत्तर' नामक पत्रिका (अक्तूबर-मार्च 2007-08) शंभुनाथ के प्रधान संपादन में केंद्रीय हिंदी संस्थान (गुवाहाटी, शिलांग, दीमापुर) से रचनात्मक प्रखरता के साथ निकल रही है।

[22] राजाराम भादू, और अब आदिवासी विमर्श, कथादेश (अगस्त 2002)-पृ.72

2.7 आदिवासी साहित्यिक विमर्श के प्रतिमान

आदिवासी साहित्य कौन लिख सकता है? इस सवाल के जवाब में वाहरू सोनवणे गैर-आदिवासियों द्वारा रचे गए साहित्य को एकसिरे से नकारते हैं। "गैर-आदिवासियों ने भी आदिवासियों पर साहित्य रचा है जो प्रकाशित हुआ है। ... इन्होंने आदिवासी समाज को सामने रखकर लिखा जरूर है लेकिन आदिवासी समाज को जोरदार प्रोत्साहन देने की बजाय इनका अपना अलग-अलग उद्देश्य भी रहा है। जैसे कुछ लेखकों ने आदिवासी आंदोलन को आगे बढ़ाने की कोशिश में शोध किया है, तो कुछ साहित्यकारों ने केवल पैसा हथियाने के लिए साहित्य लिखा, तो कुछ साहित्यकारों ने अपने समाधान के लिए साहित्य की रचना की। गैर आदिवासी होने के नाते इनके साहित्य में आदिवासी समाज का अपने जीवन में होने वाला तान-तनाव, भाव-भावनाएँ, मानसिक संघर्ष, आनंद, मोह को समुचित न्याय मिलना संभव नहीं है।"[23]

वाहरू सोनवणे के इस मंतव्य का समर्थन डॉ.राजेंद्र ठाकरे, महादेव टोप्पो सहित कई प्रतिभाशाली आदिवासी लेखकों के जमात करते हैं। आज आदिवासी यह देखता है कि साहित्य के दर्पण में उसकी तस्वीर है ही नहीं। अगर कहीं पर है तो उसे उसकी एक धुँधली आकृति भर नज़र आती है। अतः राजेंद्र ठाकरे का यह कहना बिल्कुल संगत लगता है कि-"... प्रस्थापित (गैर आदिवासी) लोगों ने आदिवासियों को अपने साहित्य में कोई स्थान नहीं दिया और न ही भारतीय साहित्य ने उन्हें अपने साहित्य में कोई गौरवपूर्ण स्थान दिया। फलतः इसीलिए प्रस्थापित व्यक्तियों के साहित्य में आदिवासियों के जीवन और दुख की अपेक्षा करना ही मूलतः गलत है।"[24]

---

[23] वाहरू सोनवणे, आदिवासी साहित्य-विशेषता और चुनौतियाँ, अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक (युद्धरत आम आदमी)-पृ.104
[24] डॉ.राजेंद्र ठाकरे, आदिवासी साहित्य की परंपरा और समकालीनता, अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक (युद्धरत आम आदमी)-पृ.72

गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासी समुदाय के प्रति रोमानी व भावुक दृष्टिकोण ही आदिवासी के सच को मार्मिक पूर्ण नहीं बना पाता। साथ ही परिवेशगत दूरी इस खाई को और भी चौड़ी बना देती है जिसका विश्लेषण करते हुए महादेव टोप्पो लिखते हैं-"सभ्य या शिष्ट कहा जानेवाला साहित्य आदिवासी जीवन एवं उसकी समस्याओं को अंतरंगता एवं आत्मीयता से देख नहीं पाता क्योंकि वह उनके परिवेश से परिचित नहीं होता। अतः स्वाभाविक ही है वह कई प्रकार के पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर आदिवासी समाज को देखता और चित्रित करता है।"[25] इस प्रकार कहा जा सकता है कि आदिवासी साहित्य का लेखन प्रभावपूर्ण व तार्किक आदिवासी साहित्यकारों द्वारा ही संभव हो सकता है। आदिवासियों की यातना व वेदना अन्य समुदायों से नितांत भिन्न होने के कारण गैर-आदिवासियों की रचना महज सतही विश्लेषण या दूर से किया गया निरीक्षण मात्र हो सकता है।

प्राथमिक रूप में आदिवासी साहित्य पहचान के सवाल से जुड़ा है, अतः केवल आदिवासी ही सच्चा आदिवासी साहित्य लिख सकते हैं, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है। किंतु आदिवासी साहित्य लेखन के अंतर्गत गैर आदिवासियों को भी शामिल करने की पहल कतिपय आदिवासी आलोचकों, कवियों व लेखकों में से करते हैं। हरिराम मीणा जी स्वानुभूति और सहानुभूति के विमर्श को किसी विषय को लेकर किये जाने सृजन का पक्का मापदंड नहीं मानते हैं। उनका मानना है कि 'कोई कहीं से भी आये लेकिन जिस विषय पर उसे लिखना है, उसकी गहरी जानकारी और विषय के प्रति समर्पण-भाव तो अनिवार्य होना ही चाहिए। इसके अभाव में बात प्रभावकारी नहीं बन पायेगी।' हरिराम मीणा जी का यह तर्क महाश्वेता देवी द्वारा रचे गए आदिवासियों के जीवन पर सशक्त कृतियों के बरबस है। महाश्वेता देवी फील्ड में सक्रिय रही हैं, तभी 'जंगल के दावेदार' व 'चोटीमुण्डा व उसके तीर' जैसे उपन्यास हमारे सामने आये, जिनमें आदिवासी जीवन के संघर्ष

---

[25] महादेव टोप्पो, आदिवासी साहित्य का विकास, अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक (युद्धरत आम आदमी)-पृ.108

की वास्तविक झाँकी दिखाई देती है। वस्तुतः यहाँ सहानुभूति स्वतः ही स्वानुभूति बन जाती है।

किंतु फील्ड में रहकर किया गया अनुभव जीवन की प्रामाणिकता को शिद्दत से पेश करने में असमर्थ ही साबित होती है। दूर से किया गया अनुभव जो कि स्वयं के जीवन से जुड़ा हुआ नहीं हो कभी भी स्वानुभूति के समकक्ष नहीं हो सकती। महाश्वेता देवी का आदिवासी लेखन के संबंध में हरिराम मीणा की पक्षधरता कहीं-न-कहीं उनकी सीमाओं को स्पष्ट संकेत देता है। किंतु इसके बावजूद आदिवासी साहित्य लेखन को लेकर दलित साहित्य लेखन की तरह पूर्वग्रह नहीं है क्योंकि आदिवासी लेखन व विमर्श को केंद्र में लाने का श्रेय गैर-आदिवासी को ही जाता है। साथ ही आदिवासी जीवन पर कई उत्कृष्ट रचनाएँ गैर आदिवासियों द्वारा रची गई हैं।

2.8 हिंदी में आदिवासी जीवन से संबंधित साहित्य

हिंदी साहित्य में आदिवासी जीवन से संबंधित विषय को देश की आज़ादी के बाद ही स्थान प्राप्त हो सका है। स्वतंत्रता के बाद हिंदी साहित्य में जीवन के अछूते क्षेत्र की तलाश की जाने लगी। इस संदर्भ में गाँधीजी द्वारा 'गाँवों की ओर लौटो' का नारा, हिंदी जगत् का 'जनपदीय आंदोलन' और बंगाल का 'कत्लोल' जैसे आंदोलन जनजीवन, ग्राम समाज और अनेक जातियों की सांस्कृतिक पहचान व विलक्षणताओं को प्रकट करने तथा उजागर करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर चुके थे। फलतः हिंदी साहित्य जगत् में आँचलिक साहित्य का आगमन हुआ और इसी प्रक्रिया में आदिवासी जीवन भी रचनाओं में स्थान पा चुका था।

सन् 1980 के बाद (पिछले दो दशकों में) हिंदी में हाशिए के लोगों पर काफ़ी संख्या में रचनाएँ हुई हैं। हिंदी के रचनाकारों ने इसी क्रम में आदिवासियों के जीवन को भी रचना का विषय बनाया है। आदिवासी लोगों को रचना का विषय बनाना साहित्य का आगे की ओर बढ़ता हुआ सकारात्मक कदम है। पहले हिंदी में आदिवासियों के जीवन पर विरले ही कोई रचना आती थी। कुछेक रचनाओं में

आदिवासी पात्र आते थे लेकिन वे मुख्य पात्र नहीं होते थे। उस दौर की रचनाओं में आदिवासी पात्रों को जिस तरह पेश किया जाता था, अब के रचनाओं के आदिवासी पात्रों में भी उससे बुनियादी फर्क है। हिंदी साहित्य के विविध विधाओं में उपलब्ध आदिवासी जीवन से संबंधित चित्र निम्नलिखित हैं।

2.8.1 आदिवासी द्वारा लिखित साहित्य

उपन्यास

धूणी तपे तीर (2008)-आदिवासी लेखकों द्वारा लिखित उपन्यासों में 'धूणी तपे तीर' सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं चर्चित उपन्यास है। उपन्यास के 'पूर्व कथन' में लेखक हरिराम मीणा ने संकेत किया है कि सर्वप्रथम एक यात्रा-वृत्तांत के रूप में 'मानगढ़-आदिवासी बलिदान के तहखानों तक' शीर्षक से यह उपन्यास 'पहल' पत्रिका-71 (2000) में छपा। यह शोधपरक उपन्यास राजस्थान की मानगढ़ पहाड़ी पर देसी रियासतों और अंग्रेज़ों की मिली-भगत से, आदिवासियों के सामूहिक बर्बर हत्याकांड पर आधारित है। यह घटना "देश का पहला 'जलियाँवाला कांड' अमृतसर 1919 से 6 वर्ष पूर्व दक्षिणी राजस्थान के बांसवाड़ा जिले के मानगढ़ पर्वत पर घटित हो चुकी थी, जिसमें जलियाँवाला से चारगुणा शहादत हुई।"[26] इस हत्याकांड में तकरीबन डेढ़ हजार निहत्थे एवं निर्दोष आदिवासी स्त्री-पुरुष मारे गये थे। इतिहासकार भी अपने वर्गीय हित व औपनिवेशिक सोच से किस प्रकार मुक्त नहीं हो पाता है इसका एक बेहतर नमूना मानगढ़ पर्वत पर हुए नरसंहार के संबंध में राजस्थान के महान इतिहासकार गौरीशंकर हीराचंद ओझा की टिप्पणी है-"मानगढ़ पर एकत्रित भीलों ने उत्पात मचा रखा था। फौज को गोलियाँ चलानी पड़ी। कुछ भील मारे गये।"[27] दरअसल मानगढ़ पर्वत पर आदिवासियों ने उत्पात नहीं मचाया वरन् अपनी जमीन, स्वायत्तता एवं सांस्कृतिक पहचान के लिए औपनिवेशिक सत्ता अंग्रेज़ एवं देशी सामंती प्रणाली के खिलाफ व्यापक संघर्ष छेड़ा था।

---

[26] धूणी तपे तीर (भूमिका से)
[27] धूणी तपे तीर (भूमिका से)

इस उपन्यास में लेखक ने आदिवासियों पर शताब्दियों से हो रहे अत्याचारों का वर्णन ही नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अत्याचारों के तरीकों का भी उल्लेख किया है। रियासतें आदिवासियों से बेगार कराने के लिए तरह-तरह के तिकड़म करती हैं। बेगार को परंपरा का हिस्सा बनाकर उन पर जुल्म किया जाता है। रियासत के अमले उन्हें तरह-तरह की लालच देकर खेती के लिए जंगली जमीन को साफ करवाते हैं। बाद में स्वयं उस पर आधिपत्य कर लेते हैं। इतना ही नहीं अंग्रेज़ देशी कारिंदों के माध्यम से आदिवासियों के पुश्तैनी हक वनोपज पर पाबंद लगाते हैं तथा जमीन पर लगान देने पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। उपन्यास के नायक गोविंद गुरु अंग्रेज़ एवं देशी कारिंदे के शोषण का विरोध करते हैं और आदिवासियों में जागरण की चेतना भी पैदा करते हैं। गोविंद गुरु दयानंद सरस्वती से प्रभावित हैं।वे अपने अहिंसावादी और आध्यात्मिक विचारों के माध्यम से आदिवासी समाज को सुधारने हेतु 'सम्प सभा' का गठन करते हैं। इस सभा के माध्यम से आदिवासियों के मन में सत्ता के प्रति अविश्वास का भाव पनपता है और अपने हक के लिए संघर्ष करते हुए कालांतर में शहीद हो जाते हैं। 'धूणी तपे तीर' उपन्यास का शिल्प लोकेतिहास की मौखिक परंपरा से ऊर्जा ग्रहण करते हुए बढ़ा है। इसमें लोक-गीतों, लोक-कथाओं, आख्यानपरकता को कथा में विन्यस्त किया गया है।

वर्चस्ववादी सत्ता लोक-समाज एवं संस्कृति को हेय दृष्टि से देखती है और इस संस्कृति को मिटाने में दमन एवं सत्ता-तंत्र का भी सहारा लेती है। 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में यह सत्य अनायास रूप से उद्घाटित हुआ है। इतिहास का सर्जनात्मक उपयोग कर लेखक ने औपन्यासिकता को बरकरार रखने में सफलता अर्जित की है।

<u>लौटते हुए (2005)</u>-झारखंड के रचनाकार वाल्टर भेंगरा 'तरुण' के इस उपन्यास में पलायन (विस्थापन) की त्रासदी को बड़ी कुशलता एवं मार्मिकता से उकेरा गया है। आर्थिक जहालत के कारण आदिवासी युवतियों के महानगरों की ओर तेज़ी से बढ़ते पलायन की समस्या को कथावस्तु का आधार बनाया गया है। छोटानागपुर के एक गाँव की युवती सलोमी अपने परिवार को आर्थिक संबल प्रदान करने हेतु

दिल्ली महानगर में जाकर 'आयागिरी' का काम करने लगती है। असंगठित रूप में आया का काम करते हुए युवती से घर का मालिक मौका पाते ही जबरन दैहिक संबंध स्थापित करने से बाज़ नहीं आता। इस उपन्यास की नायिका बारंबार दैहिक हिंसा का शिकार होकर पुनः अपनी गाँव लौट आती है। गाँव आकर यहाँ की स्त्रियों को चेतनशील एवं आत्मनिर्भर बनाने में सक्रिय सहयोग देती है ताकि महानगर जाने के लोभ में वे शोषण के शिकार न हो जाएँ। सेवा भाव के द्वारा सलोनी पुनः नई जिंदगी शुरू करती है। महानगरीय परिवेश व्यक्ति में व्यापक बदलाव लाता है इसका भी संकेत उपन्यास में हुआ है।

जंगल के गीत (1999)-यह लघु उपन्यास छोटानागपुर-झारखंड के पर्वतीय जीवन में उराँवों के अछूते प्रसंगों को उजागर करता हुआ आदिवासियों के सुख-दुख उनके हर रोज की जिंदगी की कहानी बन गया है। पहाड़ी आँचलिक परिवेश में लिखा गया यह उपन्यास अतीत के उन बेहिसाब लम्हों की कहानी है जो "भविष्य के अंतहीन क्षितिज में चलते रहने की कोशिश में पीछे मुड़कर पल दो पल उस जमीं उस अस्तित्व को देख लेने की ललक जो कभी अपना अतीत था।"[28] इस उपन्यास में आज़ादी से पहले खुद के श्रम से बनाये गये उराँवो के खेत-खलिहान पर धोखे द्वारा दिकू लोगों द्वारा कब्जा करने की शोषण गाथा है। अंग्रेज़ों को खुश रखने के लिए स्थानीय महाराजा, जागीरदार, जमींदार, साहूकार, ठेकेदार आदि मालगुजारी, लगान, बैठ बेगारी द्वारा आदिवासियों पर अत्याचार करते हैं। इन विपरीत स्थितियों से मुक्ति हेतु उराँव लोग धरती आबा अर्थात् बिरसा मुण्डा के जीवन से प्रेरणा लेकर उलगुलान (संघर्ष) करने का संकल्प लेते हैं। इस उपन्यास में स्थानीय लोक-संस्कृति यथा लोक-नृत्य, लोक-गीत आदि का भी मार्मिक रूप में वर्णन हुआ है।

छैला सन्दु-मंगल सिंह मुण्डा कृत यह उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। नायक छैल सन्दु की लोक कथा लोगों की स्मृति में अनेक रूप से विद्यमान है जिसका सहारा उपन्यासकार ने लिया है। छैला सन्दु गैर आदिवासी समाज की

---

[28] जंगल के गीत उपन्यास के अंत में फ्लैप पर

नायिका बिंदु से प्रेम करता है जिसे ही उपन्यास में विस्तार मिला है। उपन्यास के माध्यम से तत्कालीन झारखंड प्रदेश के आदिवासियों की लोक संस्कृति का सटीक चित्रण मिलता है।

कविता

सुबह के इंतजार में (2008)-इस कविता-संग्रह को दो शीर्षकों 'आदिवासी' एवं 'आसपास' के रूप में विभाजित किया गया है। 'सुबह के इंतजार में' की कविताएँ हमारी आज की ज़िंदगी के अनेक बुनियादी सवालों और सरोकारों को उजागर करती हैं। ये बार-बार और अलग अंदाज़ में हमसे यह पूछती हैं कि हमारी इंसानी ऊँचाइयों को क्या हुआ और हम कहाँ खड़े हैं? हमारे वर्तमान जीवन की इन्हीं विडंबनाओं को वे अण्डमान निकोबार द्वीप में अवस्थित आदिवासियों यथा-ओंगा, जारवा, सेंटेनली आदि के माध्यम से सामने लाते हैं। तथाकथित सभ्य समाज के हस्तक्षेप से आए उनके जीवन-संकट में आये बदलावों का भी रेखांकन करने का प्रयास किया गया है।

रोया नहीं था यक्ष (2003)-यह प्रबंधात्मक लंबी कविता है। समाज में पूँजीपति सामान्य जनता का शोषण किस तरह परंपरागत ढँग से कर रहे हैं इसका चित्रण मिथकीय काव्य-विन्यास में किया गया है। यक्ष ने कुबेरवादी सामंती व पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध बिगुल बजाया। इस प्रतिरोध में उनकी पत्नी यक्षिणी ने स्त्री जाति की प्रतिनिधि के रूप में उसका साथ दिया।

हाँ चाँद मेरा है (1999)-वर्ष 2003 में 'मीरा पुरस्कार' से सम्मानित हरिराम मीणा का यह काव्य-संग्रह बहुत चर्चित रहा है। इसमें कवि ने मेवाड़ अंचल में अरावली पर्वतमालाओं की काली घाटियों में अस्तित्व बचाने के संघर्ष में जूझती निर्मल हृदयी 'भीलणी' के जीवन के प्रति मानवीय संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य जब संवेदनशून्य होता जा रहा है, तब कवि भीलणी की आर्थिक दुर्दशा से अवगत कराते हैं-"फटा घाघरा तन से लिपटा,

तारतार चोली, लज्जा की रक्षा करती, अंतिम साँसें रोक ओढ़नी।"[29] के माध्यम से आदिवासी की आर्थिक विद्रूपता के प्रति संवेदना को उकेरा है। मनुष्य की मुक्ति की छटपटाहट सदियों से बरकरार है, फिर भी उसके प्रति संवेदनाएँ क्षीण होती जा रही हैं-"दरारों से बाहर आने को प्रयासरत, नंग-धड़ंग, कंकाल कुछ बड़े, कुछ छोटे, कुछ नर कुछ मादा। बिना किसी रक्त, गोश्त, खाल और नाड़ियों के ठोस हड्डियों से बने एक से ये नर कंकाल शायद जूझ रहे हों शताब्दियों से अपनी मुक्ति के लिए। "[30]

यात्रा वृत्तांत

साईबर सिटी से नंगे आदिवासियों तकः (2001)-हरिराम मीणा ने इस यात्रा-वृत्तांत में हैदराबाद से लेकर नंगे आदिवासियों तक का चित्रण किया है। इसमें उन्होंने प्राकृतिक, मानव और मानवेतर प्राणी जगत की समस्याओं का वर्णन किया है। सरदार बख्तावर सिंह की वजह से अंदमान निकोबार द्वीपसमूह के आदिवासियों के बारे में काफी जानकारी हासिल हुई। फील्ड में रहकर इन लोगों की समस्या एवं शोषण को उन्होंने खुद देखा। इस तरह देखी हुई घटनाओं को अपनी रचना के माध्यम से समाज के सामने रखा। साथ ही इन्होंने आदिवासियों के ऊपर होनेवाले शोषण एवं अन्याय का विरोध किया। यहाँ फील्ड में सक्रिय रहने के दौरान यहाँ के आदिवासियों की संस्कृति एवं खान-पान की जानकारी से अवगत हो सके।

जंगल जंगल जलियांवाला-यात्रा-वृत्तांत के रूप में इस रचना में मानगढ़ भूला-बिलोरिया एवं पालचित्ररिया इन तीन महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन है। ब्रिटिश कालीन आदिवासी संघर्षों के साथ मध्य भारत के राजस्थान एवं गुजरात की जलियांवाला जैसी तीन घटनाओं पर उन्होंने शोध किया। इस शोध को ही उन्होंने यात्रा-वृत्तांत का रूप दिया।

---

[29] भीलणी ('हाँ, चांद मेरा है' कविता-संग्रह)-पृ.15

[30] 'एक वंश के मुक्त होने तक' ('हाँ, चाँद मेरा है' कविता-संग्रह)-पृ.55

विविध

आदिवासी स्वर और नई शताब्दी (2004)-रमणिका गुप्ता द्वारा संपादित यह पुस्तक हिंदी आदिवासी विमर्श की दृष्टि से 'मील के पत्थर' के रूप में जाना जाता है। इसमें विविध भाषाओं के अलग-अलग साहित्य को 'स्पेस' मिला है किंतु सिर्फ आदिवासी रचनाकारों के द्वारा ही। इस पुस्तक में कविता, कहानी, नाटक, व्यंग्य, उपन्यास अंश आदि को सिर्फ हिंदी में ही नहीं बल्कि दूसरी भाषाओं से हिंदी अनुवाद करके शामिल किया गया है। इन रचनाओं के माध्यम से आदिवासी जीवन के सुख-दुख का वास्तविक रूप में हमें परिचय मिल पाता है। इसमें हिंदी के कवियों में रोज केरकेटा, सरिता सिंह बड़ाईक, हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो आदि की चुनी हुई कविताएँ हैं वहीं कहानी के रूप में वाल्टर भेंगरा तरुण का 'खखरा' (केकड़ा), पीटर पौल एक्का (राजकुमारों के देश में), कोमल (साहूकार, पहचान), शंकरलाल मीणा (कहानी के बाहर की औरत) आदि को स्थान मिला है। उपन्यास अंश के रूप में शंकरलाल मीणा के 'अघोषित' उपन्यास अंश 'सपनों वाली वह दुबली पतली लड़की' को लिया गया है। इसमें मीणा स्त्रियों की पीड़ा को वाणी देते हुए उसमें होनेवाले परिवर्तनों, स्त्री शिक्षा और उनकी चारित्रिक निष्ठा को अभिव्यक्ति प्रदान किया गया है। उन्हीं का व्यंग्य 'क़ब्र हमारी मुर्दा आपका' में समाज की सम-विषम परिस्थितियों, अभाव पर चुटीली शैली में सजीवता के साथ व्यंग्य किया गया है। हिंदी के इतर रचनाकारों में निर्मला पुतुल, वाहरु सोनवणे आदि की कविता न केवल आदिवासी विमर्श को पहचान देती है बल्कि आदिवासी जीवन के सटीक चित्र हमारे सामने खींच देते हैं।

2.8.2 गैर-आदिवासी द्वारा लिखित साहित्य

उपन्यास

स्वतंत्रता से पूर्व हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन के चित्र विरल (गौण) रूप में उपलब्ध हैं। 1909 ई. में प्रकाशित रामचीज सिंह लिखित उपन्यास 'वन

विहंगिनी' के काफ़ी समय बाद प्रकाशित रामदीन पांडेय का 'चलता-पिटारा' (1938) में ही आदिवासी जीवन से संबंधित आरंभिक चित्रण मिलते हैं।

आदिवासी जीवन के विषय को लेकर लिखे गए अधिकांश उपन्यासों का प्रकाशन काल आज़ादी के पश्चात् का है, किंतु फिर भी इनमें से कतिपय उपन्यासों की विषय वस्तु व समस्याएँ आज़ादी पूर्व की रही हैं। इस दृष्टि से बीसवीं सदी के आरंभ में हुए भूमकाल (विद्रोह) पर आधारित 'जंगल के फूल' (1960), आजादी हेतु संघर्ष करते गाँधी व गाँधी की संस्कारिता से परिचालित 'रथ के पहिए' (1950) जमींदारी आतंक व शोषण से त्रस्त 'कब तक पुकारूँ' (1957) और आदिवासी जीवन का नगरीय जीवन से संक्रमण व मछुआरों की संस्कृति को प्रतिरूपित करता हुआ 'सागर, लहरें और मनुष्य' (1956) आदि उपन्यास लिखे गये हैं। शेष उपन्यास आज़ादी के बाद की विषय वस्तु को लेकर लिखे गये हैं। पंरतु आज़ादी का प्रकाश आज भी आदिवासियों तक पूरी तरह से नहीं पहुँच सका है।

कचनार (1948)-'कचनार' उपन्यास को इतिहास के आईने से देखने की प्रवृत्ति इस कदर हावी रही है कि उसमें आदिवासी गोंड का जीवन उपेक्षित रह गया। इस उपन्यास को लिखने से पहले वृंदावनलाल वर्मा ने गोंडों का काफी विस्तृत अध्ययन किया जिसमें एलविन की 'फॉकसोंग्स् ऑव दि मेखल रेंज'तथा नागपुर सरकार द्वारा प्रकाशित 'दि राजगोंड्स' पुस्तक महत्वपूर्ण है। उपन्यास के केंद्र में गोंडवाना प्रदेश के राजगोंड आदिवासी के शासन-व्यवस्था तथा अठारहवीं सदी के अंतिम दशक के आसपास का सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक वातावरण का चित्रण किया गया है। "धामोनी गोंडों-राजगोंडा-का था। मुगलों, मराठों और बुंदेलों की जड़ों में से गोंडों ने हटते-हटते भी इसको खोया और पाया। यह क्रम कई बार घटित हुआ।

आजकल के भारतीय राजनीतिक विकास में गोंड कोई विशेष भाग लेते हुए नहीं जान पड़ते, यद्यपि मध्य भाग में उनके कई राज्य हैं। परंतु एक समय वे अपने सहज, सरल, स्वाभाविक और प्रमोदमय जीवन द्वारा भारतीय संस्कृति को अपने दृढ़

और पुष्ट हाथों की अंजलियाँ भेंट किया करते थे।"[31] आज भले ही गोंड पिछड़े हैं किंतु अतीत में उनके अनेक राज्य थे और वे समृद्ध थे।

'कचनार' उपन्यास का आरंभ धामोनी के राजगोंड राजा एवं दलीपसिंह के विवाह में दहेज स्वरूप प्राप्त दासी कचनार के प्रेम के इर्द-गिर्द घूमता है। कचनार खटोलिया गोंड स्त्री है। कचनार राजा के भोग-विलास का साधन न बनकर पत्नी के रूप में ही रहना पसंद करती है। इस तरह से सामंतवादी समाज में वह स्त्री अस्मिता का प्रतीक है। दासी के रूप में स्त्री की भी स्वतंत्र इच्छा व आकांक्षा हो सकती है यह स्वेच्छाचारी राजा मानने के लिए तैयार ही नहीं होता। कचनार परंपरागत रूप से दहेज के रूप में दासी के साथ राजा के निरंकुश व्यवहार का प्रतिवाद करते हुए स्वतंत्र व्यक्तित्व की तलाश करती है। इस उपन्यास में पुनर्विवाह या विधवा-विवाह की समस्या के साथ पुनर्जन्म के बारे में भी जिक्र हुआ है। कुछ गोंडों में विधवा-विवाह की प्रथा है जबकि राजगोंडों में नहीं।

चंचल राजनीति के कारण गढ़पति अपने को स्वतंत्र नरेश समझने लगते। सत्ता विस्तार की आकांक्षा में पड़ोसी राज्यों के टकराव की बारंबार संभावना भी बनी रहती। 'कचनार' में गुंसाई संन्यासियों के संप्रदाय का सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक सुधारों की दृष्टि से भी उल्लेखनीय महत्व का जिक्र हुआ है।

<u>रथ के पहिए (1950)</u>-देवेंद्र सत्यार्थी कृत 'रथ के पहिए' हिंदी साहित्य का प्रथम उपन्यास है, जो गोंड आदिवासी जीवन पर केंद्रित है। पूरे उपन्यास पर उनकी यायावरी एवं संस्मरण का असर रचना की बनावट व शैली पर आसानी से देखा जा सकता है। सत्यार्थी जी मोहनजोदड़ो में दबी प्राचीन सभ्यता से गोंडों की वर्तमान संस्कृति को जोड़कर एक महत्वपूर्ण संदेश देते हैं कि अगर इनकी तरफ समुचित ध्यान नहीं दिया गया तो एक दिन इनकी संस्कृति भी गहरे में दफ़न होकर रह जाएगी। इस उपन्यास की संक्षिप्त कथावस्तु की शुरुआत मोहनजोदड़ो म्यूजियम के

---

[31] कचनार, परिचय-पृ.6

क्यूरेटर के स्वप्निल विचारों से होती है। वह पिछले अट्ठारह वर्षों से मिट्टी के नीचे सो रही जिंदा सभ्यता को उभारकर दुनिया के इतिहास के रूप में सबके सामने प्रकट करता है। उनकी इच्छा है कि उनका बेटा आनंद भी उन्हीं के पद्चिह्नों पर चले, लेकिन आनंद को मोहनजोदड़ो एक विशाल कब्रिस्तान व खंडहर की भाँति लगता है। वहाँ उसकी साँस घुटती है, इसलिए वह मुर्दों के टीले में कार्य करने के बजाय जिंदा गोंड लोगों की बस्ती में रहकर कार्य करना पसंद करता है। वह चाहता है कि "आदिवासियों की सभ्यता को पीछे छोड़कर हम आगे कैसे जा सकते हैं।"[32] चित्रकार मित्र सोम भी उसके साथ आदिवासियों के जीवंत चित्र खींचने के उद्देश्य से पहुँचता है। वे दोनों करंजियावासियों के बीच सेवाभाव, परोपकार और मानवता के नाते कार्य करने लगते हैं। वे यहाँ के आदिवासियों का अध्ययन करना चाहते हैं और उनकी सभ्यता को एक नये परिपार्श्व में देखना चाहते हैं। अतः "इस उपन्यास में संग्रहालयों में पुरातात्विक यथार्थ और सजीव रूप में विद्यमान पुराकालीन मनुष्य के जीवन को आमने-सामने रखते हुए जनजातियों के जीवन के अध्ययन को वरीयता दी गई है। 'रथ के पहिए' इसी सोच का परिणाम है।"[33]

'रथ के पहिए' में गोंडों के जीवन की समस्याओं का चित्रण प्राप्त होता है। करंजिया गाँव के आदिवासी सभ्यता से दूर हैं, उनका जीवन अभावों से ग्रस्त है। वर्षा काल में उसका संबंध अन्य स्थानों से कट जाता है। शिक्षा का प्रसार तनिक भी नहीं है। जमींदारी शोषण एवं शराब की लत व्यापक रूप से विद्यमान है। ये समस्त सामाजिक समस्याएँ करंजिया के जनजीवन पर अधिकार बनाये हुए हैं। नयी परंपराएँ आती हैं-मेला लगता है, सड़कें भी बनती हैं तथा नहरें भी खोदी जाती हैं, पर गाँववालों के अंधविश्वाासी दृष्टिकोण में तनिक भी अंतर नहीं आता। इस प्रकार यह उपन्यास करंजिया क्षेत्र के पिछड़ेपन तथा उसकी समस्याओं को चित्रित करनेवाली कृति कही जा सकती है।

---

[32] देवेंद्र सत्यार्थी, रथ के पहिये-पृ.41

[33] गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला पाठ्य पुस्तक संस्करण 2005-पृ.236

आदिवासियों के जीवन की विचित्रताओं, आनंद, विषाद, मुश्किलों और संगीत और नृत्य के सहारे जीवन के बड़े से बड़े दुःखों को झेल जाने वाले गोंड समुदाय के आदिवासियों में सुधार लाने के लिए तथा कला और शिक्षा का प्रचार करने के लिए 'कला भारती' और 'प्राथमिक शाला' की स्थापना करवा दी जाती है। अकाल की लपेट में करंजिया वालों के आने पर राहत समितियों व कैम्पों द्वारा राहत कार्य व सड़क-निर्माण आरंभ होता है। गाँधीवाद के आदर्श से शोषक जमींदार का हृदय परिवर्तन होने लगता है। जमींदार ठाकुर के मेले का बायकाट करके कजंरिया वाले अपने यहाँ पहली बार मेला लगाते हैं। तब का दृश्य अनोखा, मनभावन तथा संवेदशील बन पड़ा है। ऐसे दृश्य उपन्यास में करंजिया यात्रा के अलावा कम ही वर्णित हुए हैं। अधिकांश जगह उपन्यास यात्रा-वृत्तांत और काव्य के बीच झूलता प्रतीत होता है। गोंड लोगों के लोकगीत, उनके सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास और समग्र ग्रामीण वातावरण का आलेखन उपन्यास में है।

सागर, लहरें और मनुष्य (1955)-उदयशंकर भट्ट का यह उपन्यास बंबई (अब मुंबई) के पश्चिमी तट पर बसे कोली आदिवासी के मछुआरों के एक गाँव-बस्ती-बरसोवा पर केंद्रित है। मछुआरों का जीवन सागर की लहरों के बीच संघर्ष में पलता है। "बरसोवा का यह समाज यद्यपि शहरी जीवन के निकट है, फिर भी अपनी परंपराओं, रूढ़ियों, मान्यताओं और विश्वास के प्रकाश में काफी पिछड़ा हुआ और अविकसित है।"[34]

उपन्यास का कथानक चार परिच्छेदों में विभक्त है-रत्ना, माणिक, रत्ना और माणिक तथा यशवंत। यही उपन्यास के प्रमुख पात्र भी हैं। कथानक बरसोवा से बंबई महानगर तक फैला हुआ है। रत्ना, उपन्यास का प्रमुख पात्र है, कथानक की अधिकांश उपकथाएँ इसी केंद्र बिंदु पर आकर मिलती हैं। उपन्यासकार ने प्रथम परिच्छेद में बरसोवा और वहाँ के निवासी मछुआरों की अत्यन्त अंतरंग एवं यथार्थ झाँकी प्रस्तुत की है। शताब्दियों से समुद्र मछुआरों के सुख-दुःख का संगी साथी

---

[34] डॉ.बंसीधर, हिंदी के आंचलिक उपन्यासःसिद्धांत और समीक्षा-पृ.100

तथा शत्रु-मित्र रहा है। कोलियों के जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं मिलेगा जहाँ समुद्र उपस्थित नहीं हो। उनके गीतों, लोक उत्सवों, देवी-देवताओं, पूजा-आराधनाओं, विश्वासों और मान्यताओं में ही नहीं, उनके सपनों तक में समुद्र बराबर उपस्थित रहते हैं। बरसोवा के इस कोली समाज का आर्थिक विपन्नता से तो पुश्तैनी रिश्ता है ही, स्वच्छता, समरसता और रहन-सहन के उचित तौर-तरीकों से भी इसकी कभी नहीं पटी है। इस दृष्टि से यह समाज पूरी तरह कंगाल और दया का पात्र है। कोली महिलाएँ, पुरुष और उनके बच्चे समान रूप से मेहनतकश हैं।

रत्ना वंशी-विट्ठल की इकलौती बेटी है जो उपन्यास में आद्योपांत कथा का केंद्र बनी रहती है। सारे बरसोवा में वही एक लड़की है जो कॉलेज जाती है और उसका परिवार सम्पन्न है। "अपनी परिवेश सीमाओं से बाहर निकलकर वह थोड़ा पढ़-लिख गई है और इसी कारण अपने जीवन-स्तर में सुधार और परिवर्तन की आकांक्षा रखती है।"[35] अतः जिस यशवंत से उसका पहला प्रेम होता है, उसके बेहद चाहने पर भी वह उसे अशिक्षित मात्र होने के कारण ठुकरा देती है। रत्ना का शहरी परिवेश के प्रति आसक्ति, सखि सारिका का मध्यमवर्गीय जीवन और अपनी माँ वंशी का बंबई की स्त्रियों की तरह उसके लिए शान-शौकत की कामना ये तीनों बातें रत्ना में अपने ही परिवेश से अलगाव और उसके प्रति वितृष्णा का भाव पैदा करती हैं। उसे अपने ही लोग पिछड़े हुए और निकम्मे लगने लगते हैं। रत्ना की महत्वाकांक्षाएँ, कल्पनाएँ, स्वप्न उसे बरसोवा के नीरस, घुटे और पिछड़े हुए जीवन से विरक्त कर बंबई के चमक-दमक भरे जीवन की ओर आकृष्ट करती हैं और यही उसके पतन का कारण भी है। मानसिक रूप से अविकसित एवं उचित निर्णय न ले पाने के कारण रत्ना शहरी जीवन की विसंगतियों और विद्रूपताओं के भँवर में (माणिक, सेठानी के भाई, वकील धीरूवाला जैसे दुष्ट लोगों के जाल में) बारंबार फँसती है और बार-बार उबरती है। रत्ना के इस निराधार बहते पात्र को कथाकार ने अंत में डॉ.पाण्डुरंग के रूप में किनारा देकर उसके संघर्ष को सार्थकता देनी चाही है,

---

[35] मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास-पृ.114

परंतु कथा का यह मोड़ नितांत आरोपित एवं कृत्रिम लगता है। उपन्यास का अंत पाठक को रत्ना के रूप में एक संघर्षशील नारी की कहानी न लगकर, एक कच्चे विचारों वाली, भटकी हुई, हीन ग्रंथियों से पीड़ित और असफल नारी की कहानी अधिक लगता है।

इस उपन्यास में मछुआरों की सामान्य आदिवासी विशेषताएँ भी प्रकट हुई हैं। बरसोवा के मछुआरों के जीवन में नृत्य-गान और उत्सव-पर्वों का विशेष महत्व है। ये लोग मुख्य रूप से दो उत्सव मनाते हैं-नारियल पूर्णिमा और होली। नारियल पूर्णिमा के दिन कागज के फूलों से लोग रंग-बिरंगे नारियल सजाकर सुबह से ही जुलूस के रूप में नर-नारी गीत गाते हुए समुद्र के किनारे पहुँचकर अपनी-अपनी सजी हुई नावों में बैठकर नारियल विसर्जन का कार्यक्रम सम्पन्न करते हैं। होली ये लोग एक सप्ताह तक अत्यन्त ही धूमधाम के साथ मनाते हैं। दिन भर जी-तोड़ मेहनत करने के बाद बरसोवा का ग्राम-समाज रात्रि के समय नाच-गाना और शराब के दौर से अपना श्रम-परिहार करता है। समुद्र इनका मूल आराध्य देव है। लोकगीतों, लोकविश्वासों तथा शुभ-अशुभ बातों पर भी लेखक भी दृष्टि गयी है। "नाव बेचना कोलियों में कंगाली और दिवालियेन की निशानी है, अशुभ तो होती ही है।"[36] बरसोवा के मछुआरों में नैतिक बंधन शिथिल है। साथ ही कोलियों की मातृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था में पुरुषों की तुलना में महिलाएँ ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। वस्तुतः अशिक्षा और अज्ञान के कारण यहाँ का समाज नितांत पिछड़ा हुआ है तथा खान-पान, रहन-सहन एवं यौन संबंधों जैसे कुछ बातों में ठेठ आदिम युग में जी रहा है। किंतु शहरी संक्रमण के फलस्वरूप इस आदिवाासी को सभ्य समाज के बढ़ते हुए संबंधों का भी परिचय प्राप्त है। बंबइया-गुजराती-मराठी-हिंदी मिश्रित भाषा का प्रयोग प्रभावशाली और सहज है। यह उपन्यास मछुआरों के जीवन-संघर्ष, अभाव, भाव, शक्ति, हीनता, संगति, विसंगति की प्रामाणिक कहानी है। उसमें अनुभवजन्य तीव्रता ओर संश्लिष्टता भले न हो, सच्चाई का अभाव नहीं।

[36] उदयशंकर भट्ट, सागर, लहरें और मनुष्य-पृ.123

वनलक्ष्मी (1956)-उपन्यास की कहानी बिहार (अब झारखंड) के छोटानागपुर कमिश्नरी के सिंहभूम जिले के सरकारी जंगलों में स्थापित एक ब्रिटिश लड़की ठेकेदार कंपनी 'मूलरहाउस' के माध्यम से चलती है। 19 वीं सदी के आरंभ में अंग्रेज़ हुक्मरानों ने वन विभाग खड़ा कर दिया और जंगलों को वन विभाग के मातहत ठेकेदार कंपनियों के हवाले कर दिया और जंगलों का एक नया मालिक सामने आ गया। 'मूलरहाउस' कंपनी के मैनेजर हैं एक नौजवान अंग्रेज़ मिस्टर जेफरन। इस कंपनी में आसपास के गाँवों के 'हो' आदिवासी मजदूर-मजदूरिनों के अलावा कुछ गैर-आदिवासी गरीब भी काम करते हैं।

वन-संपत्ति से राष्ट्र को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने के लिए कंपनी का सुपरवाइजर शिवदत्त फेंकी गयी लकड़ियों से घरेलू सामान तैयार करने, चोप की रस्सी बनाने और जंगली जड़ी बूटियों के दवा बनाने आदि की योजना बनाते हैं। किंतु यह योजना आदिवासियों की जंगली संपदा का आखिरी हिस्सा और मजदूर के खून का आखिरी कतरा भी पूँजीपतियों के भेंट करने की है। मजदूरों के अथक श्रम से इन योजनाओं के फलस्वरूप कंपनी को काफी लाभ मिलता है लेकिन मजदूरों को कुछ भी नहीं मिलता। कंपनी के अधिकारी द्वारा मजदूरों के शोषण को शिवदत्त गीता के 'निष्काम कर्म' व 'राष्ट्र-हित' के नाम पर धुँधला व धूमिल करने का निरंतर प्रयास करते हैं। इस उपन्यास में कंपनी में ही कार्यरत आदिवासी मजदूरिन बुदनी व अंग्रेज़ मैनेजर जेफरन के प्रेम प्रसंगों को भी रोमानी तरीके में पेश किया गया है। बुदनी आरंभ में आधुनिक सभ्यता के भड़कीले प्रलोभनों के प्रति आकृष्ट होती है किंतु शिवदत्त के धार्मिक सत्संग से वह भी वितरागी होकर लोगों के सेवा में लग जाती है। आदिवासी जीवन के प्रति लेखक का नज़रिया दीकू जैसा ही है। आदिवासियों के संसाधनों एवं स्त्रियों के प्रति बाहरी लोगों के बढ़ रहे प्रभुत्व को ईमानदारी से आँक सकने में लेखक असमर्थ ही रहा है।

सूरज किरण की छाँव (1959)-'सूरज किरण की छाँव' में राजेंद्र अवस्थी ने बस्तर (कालपी चित्रकूट के समीपवर्ती) के गोंडों के जीवन को ईसाई धर्म-परिवर्तन की समस्या के सहारे प्रस्तुत किया है। यहाँ ईसाई मिशनरियों के कार्यकलाप एक गंभीर

समस्या बनकर सामने आ खड़ी होती है। गाँव के मुखिया की लड़की 'बंजारी' के साथ ईसाई मिशनरी (गाँव के गायता) का लड़का विलियम बलात्कार करता है। विलियम बंजारी को विवाह का आश्वासन देता है किंतु वास्तविकता तब मालूम होती है जबकि बंजारी का बाप उससे पूछता है और विलियम कहता है कि-"बंजारी तो मेरी बहिन है पटेल और मैं किस तरह उससे विवाह कर सकता हूँ।"[37] न्याय के लिए पंचायत बुलाई जाती है, किंतु विलियम अपनी सभी बातों से इनकार कर देता है। अंत में लोक लाज के भय से बंजारी का विवाह चर्च के पादरी जोसेफ के साथ कर दिया जाता है। चर्च का पादरी बंजारी का नाम बदल देता है और मिसेज 'बेंजा' नाम रख दिया जाता है। यह नया जीवन उसे सुखमय प्रतीत नहीं होता, सदा जोसेफ उसे शंका भरी नज़रों से देखता रहता है। एक दिन जोसफ उसे ट्रेवर्ल्स होम के मैनेजर को पाँच सौ रुपये में बेचकर चला जाता है। यहाँ आकर मिसेज बेंजो मिस उषा बन जाती है। अपने इस नारकीय जीवन से उसे अंत में घृणा हो जाती है। लेकिन एक डॉक्टर की सहायता से, जो धर्म-परिवर्तन में विश्वास नहीं करता, गोंड लड़की अपनी जाति में वापस लौटती है और ईश्वर से प्रार्थना करती है कि किसी भी निस्सहाय को अपना समाज छोड़कर ईसाई धर्म स्वीकार न करना पड़े। "गाँव और गाँव वालों की सेवा कर अपने पाप का मोचन करना चाहती है।"[38] गाँव आकर वह देखना चाहती है कि "अब किसी बंजारी को निर्वासित होकर फिर मिसेज बेंजो जोसेफ न बनना पड़े।"[39]

इस प्रकार शनैः शनैः इन आदिवासियों में भी चेतना का प्रसार होता जा रहा है। स्त्रियाँ अपने राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करने लगी हैं। आदिवासी युवती बंजारी जो कि आर्थिक अभाव के कारण ईसाई बनी थी, घर पर पति उससे पादरी को ही वोट डालने को कहता है। इससे क्षुब्ध होकर वह अपनी चेतना को इन शब्दों में व्यक्त करती है-"अंदर डालने में ही क्या धरा है? पैरों में आज जो बेड़ी पड़ी है,

---

[37] राजेंद्र अवस्थी, तृषित, सूरज किरण की छाँव-पृ.21
[38] राजेंद्र अवस्थी, तृषित, सूरज किरण की छाँव-पृ.198
[39] राजेंद्र अवस्थी, तृषित, सूरज किरण की छाँव-पृ.198

कल भी पड़ी रहेगी-चाहे कोई जीते, चाहे कोई हारे। नेहरू राज हो या पादरी की हुकूमत, मेरे लिए दोनों में कोई अंतर नहीं है। यदि वह जीत जाय-पर वह तो चुनाव में खड़ा ही नहीं हुआ।"[40] इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि आदिवासी युवक-युवतियों में भी अधिकार-बोध की भावना विद्यमान होती जा रही है।

उपन्यास में सभ्यता से अनभिज्ञ आदिवासियों की जीवन-प्रणाली का भी चित्रण हुआ है। अंधविश्वास भारत के आदिवासी जीवन के प्रमुख पहलू के रूप में आज भी बने हुए हैं। समस्त उपन्यास गोंडों के आचार-विचार और विशिष्ट प्रकार के नृत्यों और लोक गीतों से सजा हुआ है जिससे इस आदिवासी का समग्र रूप प्रस्तुत होता है। उपन्यास की भाषा लोकभाषा नहीं रह सकी है। यह भाषा एक प्रकार की खिचड़ी कही जा सकती है। आदिवासी बोली का उपन्यास में बहुतायत से प्रयोग हुआ है। लेखक आदिवासियों के जीवन से परिचित अवश्य है, किंतु यह परिचय केवल परिचय मात्र ही रह गया है। गहरी पैठ लेखक ने नहीं की है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

कोहरे में खोये चाँदी के पहाड़ (1959)-जयप्रकाश भारती ने 'कोहरे में खोये चाँदी के पहाड़' में राजस्थान की बहुप्रथा में विश्वास करने वाली जौनसार-बाबर आदिवासी को कथा विषय बनाया है। हिमालय के जौनसार-भावर जिले की यह आदिवासी अपने को पांडवों का उत्तराधिकारी मानती है और उन्हीं की नैतिक मान्यताओं का निर्वाह अपने जीवन में करते हुए बहुपति की प्रथा का आज भी पालन करती है। इस प्रथा के अनुसार विवाह करने का अधिकार केवल बड़े भाई को होता है। वह चाहे जितने विवाह कर सकता है। अन्य छोटे भाई इन सभी स्त्रियों से पत्नी संबंध रखते हैं। उन स्त्रियों से उत्पन्न संतानें सब भाइयों की संतानें मानी जाती हैं। छोटे भाई इन स्त्रियों के साथ रात व्यतीत नहीं कर सकते, उन्हें छानियों या अन्य स्थानों का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रमुख समस्या के साथ ही अन्य समस्याओं को भी आंशिक रूप में उठाया गया है, जैसे नारी शरीर की सहज सुलभता, उसका शोषण, गंदे तथा नग्न रहने में विश्वास और आर्थिक शोषण।

---

[40] राजेंद्र अवस्थी, तृषित, सूरज किरण की छाँव-पृ.198

इस अँचल के आदिवासी में नागरिक सभ्यता लेश मात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। वहाँ के लोगों की रीति-नीति सर्वथा भिन्न है। लेखक ने इसमें यह दिखाया है कि अज्ञान एवं अंधविश्वास के कोहरे में चाँदी के पहाड़ ढके हुए हैं और जब तक गरीबी, अंधविश्वास, अज्ञान एवं नैतिक शोषण का अंत नहीं होगा, तब तक इस अँचल का विकास असंभव है। अतिथि-सत्कार में ये अद्वितीय हैं जिसका अनुचित लाभ उठाया जाता रहा है। किंतु अब ये इतने अज्ञानी और अंधविश्वासी नहीं रह गए। सरकारी विकास योजनाओं और एक शिक्षित पात्र के द्वारा सुधारों का समावेश करके लेखक ने एक नये परिप्रेक्ष्य को भी प्रस्तुत किया है।

धरती मेरा घर (1960)-'धरती मेरा घर' में रांगेय राघव ने राजस्थान की बंजारा लोहार जिप्सी जाति को लेकर एक रोचक कथा कही है। इसमें बेईमानी से लोहार के बच्चे को उस राजपूत बच्चे का स्थानापन्न बना दिया जाता है जिसे बघेरा खा गया है। किस प्रकार सवर्ण एवं समर्थ हिंदू इन गरीब लोहारों का शोषण करते हैं और इन्हें नगण्य समझते हैं, यह इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। कथा की प्रधानता के बावजूद जातिगत विशेषताएँ उभरकर ऊपर आ गई है। किस प्रकार ये आदिवासी हिंदुओं के आसपास रहकर प्रभावित होती हैं और दुःख-सुख भोगती हैं-यह इस उपन्यास में द्रष्टव्य है।

नदी के मोड़ पर (1960)-दामोदर सदन कृत 'नदी के मोड़ पर' (1960) क्लावे के बाद दूसरा उपन्यास है जो भील जनजाति पर आधारित है। राजाभोज की नगरी जैसे अब धार कहते हैं कि कुछी तहसील में बह रही बप्पनी नदी के किनारे कुमढ़ेरा गाँव के भील भिलालों की कथा है। भील युवकों के आपसी स्त्री-पुरुष संबंधों के माध्यम से कथा खुलती है। आदिवासी महिला अमलीया का पुलिस द्वारा बलात्कार से कथा में तीक्ष्णता आती है। यह घटना पुलिस की जालसाजी और पत्रकारों में व्याप्त राजनीति, मटरगस्ती, शराबखोरी के कई आयाम खोलती है। उपन्यास में भिल्लों के निम्न विश्वास प्रकट होते हैं-सूखा पापों के कारण पड़ता है, अजगर साँयर पर पैर पड़ने से आदमी का शरीर गलने व सड़ने लगता है और यौन-संबंधों में

ढीलापन दिखाई देता है। उपन्यास में ठेकेदार, साहूकारों का शोषण व अत्याचार वर्णित है।

कस्तूरी (1961)-पॉकेट बुक सीरीज़ में प्रकाशित 'कस्तूरी' शानी का ऐसा प्रथम लघु उपन्यास है जिसका महत्व न लेखक ने समझा न ही हिंदी साहित्य जगत् ने। इसके कारण चाहे कुछ भी क्यों न रहे हों, लेकिन लगता है कि यह हिंदी का एक अन्यतम लघु उपन्यास है। 'कस्तूरी' की कथा अन्य लघु उपन्यासों की भाँति एकात्मक, नुकीली (पाइंटैड) तथा तीव्रगामी नहीं है, शायद इसीलिए वह अधिक सफल नहीं हो सकी है। इस कृति को भ्रमवश आँचलिक भी कहा जा सकता है जबकि आँचलिकता इसका साध्य नहीं मात्र साधन है। "शानी का रचनात्मक विकास बस्तर के आदिवासी क्षेत्र में हुआ था, जो आधुनिक सुविधाओं से वंचित एक घोर पिछड़ा हुआ क्षेत्र था। उन्होंने 'कस्तूरी' में इस क्षेत्र के औद्योगिक विकास को केंद्र में रखकर संक्रमण और तनाव को अंकित करना चाहा था। ...शानी के सरोकार एक आँचलिक लेखक के सरोकारों से भिन्न है। वे औद्योगिकता की चपेट में आए व्यक्ति और समाज की विडंबना अंकित करना चाहते हैं। एक छोटा-सा अलग-थलग, आत्मलीन सा गाँव कैसे इस परिवर्तन को झेलता है और झेलने की इस प्रक्रिया में वह क्या से क्या हो जाता है, गहरे अवसाद के साथ शानी इसे उद्घाटित करते हैं।"[41]

कस्तूरी बस्तर जिले का एक छोटा-सा गाँव है जिसे आधार बनाकर आदिवासी जीवन का लघुतम किंतु समग्र चित्र शानी ने 'धान माँ' के माध्यम से प्रस्तुत किया है। चम्पा जो धान बेचते-बेचते धानबाई से 'धान-माँ' हो गई है। सड़क के किनारे बने चायघर में वह पालित कन्या 'डोली' के साथ रहती है।

इधर-उधर से आने-जाने वाले ट्रकों और बसों के ड्राइवर, कंडक्टर, मास्टर, मास्टरनियाँ, इलाके के पटवारी तथा अन्य सरकारी मुलाज़िम के साथ हर तरह के लोग वहाँ आते हैं। एक ओर वह गाँव से बाहर रहकर भी लाटी के माध्यम से गाँव से जुड़ी है तो दूसरी ओर सरकारी नौकरियों में आनेवाले मास्टर, मास्टरनियों के

[41] मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास-पृ.205

द्वारा शहर से भी संबंधित है। चायघर में लोग कभी शराब पीने के साथ-साथ समय-असमय रुक भी जाते हैं और फिर आगे बढ़े जाते हैं।

धान-माँ बाल विधवा थी। उसने अपने जीवन को पुनः बसाया और फिर उजड़ गया। उसका एक बेटा है-दयासिंह। कस्तूरी ग्राम के हीरासिंह और उसके संबंधों का परिणाम। वह आता है और माँ से डेढ़ हज़ार रुपया माँगता है, शहर में होटल खोलने के लिए। न मिलने पर माँ से लड़कर फिर शहर चला जाता है। डोली भी पास ही दंडकारण्य योजना में कार्यरत किसी के घर जा बैठती है। हीरासिंह भी इसी समय मर जाता है और 'धान माँ' उसी अपनी झोपड़ी-होटल में बैठी रह जाती है।

'गोदान' के होरी मेहतो की परिधि है सामाजिक परिवृत्त, मृणाल और धान माँ की परिधि है उसका व्यष्टि जीवन। "वह अपने चारों ओर से प्रताड़ित होकर मात्र जीवित रहना चाहती है। होरी की भाँति सम्मान की लालसा से नहीं बल्कि साधारणतः जीने के लिए जीवन की खोज उसे है। वह सफल नहीं होती। होरी ओर धान-माँ दोनों की असफलता ऊपरी तौर पर समान होते हुए भी आंतरिक रूप से पृथक् है। होरी टूटकर बिखर जाता है मगर धान माँ अपने झोंपड़ीनुमा होटल में देखती है एक निहायत ही अनाकर्षक सा चित्र-वीरान की हरी घास पर दौड़ता हुआ मृग।"[42] टूटी हुई सी धान-माँ वहीं बैठ गयी-"शायद लोग सच ही कहते हैं कि मृग अपनी नाभि में छिपी कस्तूरी को नहीं जानता और उसकी तलाश में आजीवन भटकता रहता है।"[43] इस प्रकार परिवार और समाज सबसे उपेक्षित धान-माँ अंत तक भटकती रहती है बस एक तलाश में और वह तलाश ही इस लघु उपन्यास का लक्ष्य है-कस्तूरी अर्थात् जीवन। धान माँ का बेटा दयासिंह होरी के गोवर्धन की ही तरह नई पीढ़ी का प्रतीक है। फिर भी दोनों में अंतर है। यह अंतर स्वतंत्र भारत में जन्मी नई पीढ़ी का अंतर है। गोवर्धन के सामने लक्ष्य स्पष्ट है। वह नई चेतना के

[42] घनश्याम मधुय, हिंदी के कतिपय श्रेष्ठ लघु उपन्यास-पृ.123
[43] घनश्याम मधुय, हिंदी के कतिपय श्रेष्ठ लघु उपन्यास-पृ.123

लिए प्रयत्न करता है लेकिन दयासिंह अर्थात् आज का युवा लक्ष्यहीन मात्र पथ-भ्रष्ट हो सकता है।

बहुचर्चित नोबुल पुरस्कार विजेता 'रोजर मार्टिन डूगार्ड' के लघु उपन्यास 'पोस्टमैन' की तरह धान-माँ उस आदिवासी जीवन का केंद्र है जिसको केंद्र मानकर लेखक ने दलसाय जैनी, नरेंद्र वर्मा, 'मिलखान' आदि के माध्यम से आदिवासी जीवन के बदलते मूल्यों, आस्थाओं और प्रतिमानों का चित्रण किया है। इस रूप में 'कस्तूरी' एक ऐसा लघु उपन्यास है जिसके द्वारा लेखक ने आदिवासी जीवन को हमारे सामने स्पष्ट रूप में खोल दिया है।

<u>वन के मन में (1962)</u>-झारखंड के सिंहभूम की 'हो' आदिवासी का चित्रण योगेंद्र सिन्हा के उपन्यास 'वन के मन में' में हुआ है। 'फोरेस्टर ऑफीसर' के रूप में सिन्हा ने इस आदिवासी और जंगली जीवन का निकट से अध्ययन किया है और उसी अध्ययन एवं निरीक्षण के आधार पर लेखक ने इस उपन्यास में 'हो' आदिवासी का प्रामाणिक जीवन प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में भी एक प्रेम-कथा रखी गई है। लेखक ने कुछ विशिष्ट प्रथाओं अथवा नामों के अतिरिक्त साधारण खड़ी बोली का प्रयोग किया है।

<u>मोरझल (1963)</u>-श्याम परमार ने मालवा क्षेत्र के आदिवासी भीलों को अपने उपन्यास 'मोरझल' का विषय बनाया है। इसमें एक प्रेम-कहानी प्रस्तुत की गई है जिसके माध्यम से लेखक ने इस समुदाय का रोचक चित्रण किया है। परमार को इस आदिवासी का अच्छा ज्ञान है और इसीलिए इनका चित्रण भी विश्वसनीय एवं प्रभावशाली बन पड़ा है।

<u>साँवला पानी (1967)</u>-यह अत्यन्त लघु उपन्यास चरितात्मक है और जिसकी कथा के माध्यम से सामाजिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ा है। धर्मांतरित आदिवासी परिवार में पले किशोर के स्कूली दिनों की कथा इसमें वर्णित है। अधिकतर धर्म के अनुयायी गरीबों को छल एवं धोखा देकर अपने धर्म में शामिल करने की जुगाड़ करते हैं, इसका पर्दाफाश भी इस उपन्यास में हुआ है। लेखक ईसाई धर्म की जकड़न से परे दिकू द्वारा शोषित आदिवासियों के पक्ष में जीवन भर लड़ता रहा। यह उपन्यास 'वह

स्नेहपूर्ण मुख', 'राजा, शैतान और ईश्वर', 'कुएँ से तालाब में', 'बड़े होने की छोटी सभ्यता', 'ईश्वर की खोज' और 'अंतहीन यात्रा का आरंभ' जैसे शीर्षकों में विभक्त किया गया है। लेखक के बचपन के दिनों के माध्यम से झारखंड के छोटानागपुर के राँची जिले के ग्रामीण वातावरण का अंकन हुआ है। ईसाई धर्म भले ही कितना ही मानवीय क्यों न हो, किंतु वह अपने धर्म के बाहर उदार नहीं है, यह भी उपन्यास के माध्यम से पता चलता है।

<u>साँप और सीढ़ी (1971)</u>-शानी कृत 'साँप और सीढ़ी' संक्रमण काल से गुजरते हुए बस्तर के आदिवासी जीवन की कहानी है जो उसकी आर्थिक-सामाजिक समस्याओं से उतनी संबंधित नहीं है जितनी उसके जीवन-मूल्यों से। औद्योगीकरण की चपेट में आए जनजीवन और उसके नैतिक संकट का चित्रण इस उपन्यास का विषय है। विज़न की दृष्टि से इस उपन्यास में कोई उल्लेखनीयता नहीं है। मधुरेश का मानना है कि शानी ने अपने 'कस्तूरी' (1961) उपन्यास को बाद में 'साँप और सीढ़ी' (1971) शीर्षक से लिखा अतः 'साँप और सीढ़ी' भी 'कस्तूरी' का पुनर्लेखन है।

<u>क्लावे (1980)</u>-जयसिंह कृत 'क्लावे' (1960) भीलों की एक प्रजाति क्लावे पर लिखा एकमात्र उपन्यास है। मालवा के दक्षिण पठार के छोर से आरंभ अरावली की बीहड़ घाटियों में एक गाँव है-पालगाँव, जहाँ पर क्लावों के दस परिवारों के अलावा एक घर चमार जाति का भी है। जंगल पर निर्भर क्लावे मलेरिया, हैजा और चेचक जैसी बीमारियों से जूझते, ओले, बाढ़ और सूखा जैसी प्राकृतिक विपदाओं से लड़ते, आर्थिक रूप से विपन्न फटेहाल, ठाकुर की साहूकारी, ठेकेदारी तथा पुलिस के आतंक व शोषण में जीते क्लावों की वाद निरपेक्ष कहानी है। राजनैतिक प्रचार और सांस्कृतिक व्यामोह से रहित इस लघु उपन्यास में आँचलिक रंगों का उभार अत्यन्त सावधानी से हुआ है।

<u>पलास के फूल (1985)</u>-'पलास के फूल' उपन्यास की शक्ल में लिखा गया एक शोध-प्रबंध है जिसमें छोटानागपुर के एक प्रखंड विशेष-अंड़की प्रखंड-में रहनेवाली एक आदिवासी विशेष-मुण्डा आदिवास के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक

एवं जीवन के अन्य विभिन्न पहलुओं पर पर्याप्त जानकारी औपन्यासिक कथाक्रम और पात्रों के माध्यम से संकलित है। "कथा नायक सरजू आदिवासी संस्कृति का एक अध्येता है जो अपने शोध कार्य के सिलसिले में तमाड़ के आदिवासी क्षेत्र में जाता है। वहाँ उसका परिचय नीरू नामक एक मुण्डा लड़की से होता है। कालक्रम में यह परिचय प्रेम में और तत्पश्चात् विवाह में परिणत होता है। इसी क्रम में नीरू के भाई लेंगा का भी विवाह शहर की एक गैर-आदिवासी लड़की बंदना से होता है। मिलजुलकर यह लघु उपन्यास इन दो अंतर्जातीय विवाहों को लेकर चलता है और उसी के बीच मुण्डा जनजीवन संबंधी सूचनाएँ पाठक को मिलती हैं। किंतु यह सब सांस्कृतिक सूचनाएँ एक सफल कथा साहित्यिक कृति में जिस तरह गुम्फित होनी चाहिए उस तरह यहाँ नहीं हो पाया है। इन सूचनाओं का अधिकांश लेखक द्वारा अलग से लादा गया सा लगता है-पात्रों के जीवन से यह व्यक्त नहीं लगता। लेखक की भाषा संबंधी भूलें शुद्ध हिंदी के हिमायतियों को अखरेंगी। कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी इधर-उधर हो गए हैं।"[44]

<u>सावधान! नीचे आग है (1986)</u>-इस उपन्यास में संजीव ने झारखंड के झरिया, धनबाद क्षेत्र के कोयला-खदानों में काम करनेवाले मजदूरों की समस्या एवं त्रासदी को अपनी कृति का विषय बनाया है। यह उपन्यास 'सतह के नीचे' और 'सतह के ऊपर' दो खंडों में विभाजित है। मुनाफे की चाह में प्रबंधन न केवल भौतिक एवं मानवीय श्रम का गलत तरीके से दोहन करता है बल्कि खान का अवैध उत्खनन करने से बाज नहीं आता। चंदनपुर के खदान में भयंकर दुर्घटना अवैध उत्खनन का ही परिणाम होता है जिसमें हजारों मजदूर जल-समाधि को प्राप्त हो जाते हैं। "हमारे समाज के ज़िंदा मनुष्य को मार डालने वाला अभिजन-समाज-जिसमें नौकरशाही है, माफिया-गिरोहों के सरदार हैं, सामंतवर्गीय परिवारों के ठेकेदार हैं, धूर्त यूनियबाज़ नेता हैं, तिकड़मी नियम-कानून हैं, अत्याचारी पुलिस तथा तटस्थ और अंधा न्याय-तंत्र है-खुलकर इस उपन्यास में आया है। ... संजीव ने इस उपन्यास के माध्यम से कोयलांचल के अमानवीय शोषण एवं दमन को अखिल भारतीय परिवेश में देखा

---

[44] पलास के फूल (प्रस्तावनाः राम दयाल मुण्डा)

है। जो व्यवस्था कोलयांचल के लाखों लोगों की जान से खेल रही है वही व्यवस्था बेलछी, पिपरा, नारायणपुर, जमशेदपुर, छपरा, पंजाब, भिवण्डी में भयंकर नरसंहार मचाने के लिए दोषी है।"[45] शोध विषय की दृष्टि से खदान में कार्यरत श्रमिक मजदूरों में बहुत से आदिवासी ही हैं। खदान के वास्ते माफिया लोग आदिवासियों को प्रलोभन देकर जमीन कब्जा करने से बाज नहीं आते साथ ही उनका रवैया आदिवासियों के प्रति हिंसक है। कोयला-खदानों की जिंदगी का शोधपरक रेखांकन हिंदी में पहली बार हुआ है। संजीव की भाषा में एक खास परिवेश के ज्ञान-विज्ञान के विचार एवं शब्द-संपदा भी है। चरित्रांकन में बिखराव है। ढेरों तकनीकी जानकारियों और शब्दों से भरा, अनेक प्रकार के भाषिक प्रयोगों से लदा यह उपन्यास पाठन में व्यवधान उत्पन्न करता है। विष्टू दा, मकबूल साहब, मुकुल दा, ऊधमसिंह, आशीष जैसे पात्र श्रमिकों के बीच विचारशील लोग हैं, परंतु वे भी मजदूरों के शोषण के विरुद्ध कोई सक्रिय, सार्थक भूमिका नहीं निभा पाते।

शैलूष (1989)-शिवप्रसाद सिंह का यह उपन्यास भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य क्षेत्र (बनारस के निकटवर्ती कमालपुर और रेवतीपुर) में निवास करनेवाले नटों के कबीलाई जीवन पर आधारित है। नटों के जीवन पर 1957 ई. में ही रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' प्रकाशित हो चुका था। सर्जनात्मक दृष्टि से 'शैलूष' उसमें कुछ नया जोड़ता हो, ऐसा नहीं लगता। उपन्यासकार ने नटों की उत्पत्ति शक-कुषाण कबीलों से जोड़कर इस जाति को एक ऐतिहासिक संदर्भ प्रदान करने की कोशिश की है।

'शैलूष' को कबीलाई जीवन का एक गहन अनुसंधान और उनकी भीतरी दुनिया का एक सजीव दस्तावेज मानते हुए लेखक भूमिका में लिखते हैं-"आपको दुःख हुआ कि नटों को बनाफर कहा गया है। मैं आपके क्लेश को समझ रहा हूँ, पर आपको राजपूत शब्द से इतना मोह क्यों है? स्मिथ से लेकर स्ट्रगल फॉर एन एंपायर तक राजपूतों की उत्पत्ति पर तरह-तरह के मत व्यक्त किए गए। इन्हें भर, गोंड, कंदरावासी, पुरातन गिरिजनों की संतानें कहा गया। आप इन लोगों में

[45] जगदीशनारायण श्रीवास्तव, उपन्यास की शर्त-पृ.96

अपनी गणना कराने के लिए व्याकुल न हों। अगर आपको कबीलाई संस्कृति का ज्ञान होता तो आप खुद ही राजपूतों के लुभावने सिंहासन को लात मार कर चल देते ...।"[46] अतः ऊँच-नीच की हमारी ऐतिहासिक परिभाषाएँ और मान्यताएँ शैलूष में कदम-कदम पर सिर उठाती हैं।

इस उपन्यास में एक पढ़ी-लिखी, लगभग करिश्माई व्यक्तित्व वाली ब्राह्मण युवती सावित्री एक नट युवक जुड़ावन के प्रेम में पड़कर उससे विवाह कर ले' से की जा सकती है। 'शैलूष' की सावित्री नट-पत्नी बनकर उच्च वर्ग के दमन और शोषण से नटों की मुक्ति का संघर्ष छेड़ देती है और उसमें वह आश्चर्यजनक रूप में सफल भी होती है। इस आधार पर उपन्यासकार ने शैलूष को सकारात्मक उपन्यास-पॉजिटिव नॉवेल-मानने का आग्रह भी किया है।

वस्तुतः खानाबदोश नटों के जीवन के संघर्षों को लेखक ने परत-दर-परत उकेर कर 'शैलूष' में सँजोया है। "यायावरी जीवन में घटने वाली तमाम बाह्य शक्तियों के दबाव, अत्याचार, अन्याय और छल-कपट को लेखक ने अपने पात्रों के माध्यम से जीवंत कर दिया है। ... जीवंत पात्रों के इर्द-गिर्द लेखक ने वर्ण-व्यवस्था, वर्ग-भेद और आजादी के बाद पनपे चालाक लोगों के हाथों छले जा रहे मासूम कबीलाई और निचले तबके को वाणी दी है।"[47] इस रूप में शिवप्रसाद सिंह ने स्वातंत्र्योत्तर इतिहास को सूक्ष्मता से छुआ है। विषमता, गरीबी, भावुक आदर्शवाद और उच्च लोगों की तिकड़म और चालाकियों को बयान किया है। यह बयान उनकी पैनी दृष्टि, गहन चिंतन और सशक्त अभिव्यक्ति की बानगी है-"जाब हटा दी जाती है तो बैल इतना गेहूँ खा जाते हैं कि वे उसे पचा नहीं पाते और गोबर में साबुत गेहूँ

---

[46] श्री दामोदर खउसे, शैलूषः बदकिस्मत जिंदगी की गाथा, शिवप्रसाद सिंहः स्रष्टा और सृष्टि-पृ.223

[47] श्री दामोदर खउसे, शैलूषः बदकिस्मत जिंदगी की गाथा, शिवप्रसाद सिंहः स्रष्टा और सृष्टि-पृ.223-224

के दाने गिरने लगते हैं। इसे धोकर पेट पालनेवाले हरिजन और बेसहारा लोगों से आज भी गाँव भरे हुए हैं।"[48]

नट जाति, भारत में औपनिवेशिक शासन के समय से ही उत्पादन के साधनों से रहित एक घोषित जरायमपेशा जाति रही है। समाज की मुख्य धारा में शामिल होने तथा बेहतर सामान्य जीवन के लिए उसका संघर्ष मानवीय अधिकारों की सीमा में आता है। सावित्री उनकी नेता और प्रतिनिधि बनकर यह संघर्ष करती है। इस संघर्ष में तीव्रता इसलिए भी आ जाती है कि उच्च जाति का प्रतिनिधि घुरफेकन तिवारी इसे अपना जातिगत अपमान समझता है। जीत नट-समाज की ही होती है, पर यह विजय यह प्रश्न टाँक जाती है कि क्या यह उपन्यासकार की सुहानी सोच नहीं है? वस्तुतः यह उपन्यास प्रामाणिक अनुभव पर नहीं, लेखक की 'सहानुभूति' पर आधारित है। नट-कबीलों की सामान्य जीवन-धारा से कटी, रहस्यमय जिंदगी का प्रामाणिक अनुभव एक नगरवासी लेखक के लिए कदाचित् संभव भी नहीं है। इस कारण 'शैलूष' में नटों की जिंदगी का बहुत प्रभावशाली चित्रण नहीं हो पाया है। औरत में नारी के शोषण, दमन और पीड़न, साथ ही उसके तेज़, साहस, शौर्य और विवेक का चित्रण किया गया है। इस चित्रण में अनुभूति की गहराई कम और आंदोलन का जोश ज्यादा है।

शिवप्रसाद सिंह ने नटों के जीवन के लोक-सांस्कृतिक पहलू को प्रस्तुत करने की अच्छी कोशिश की है पर उनकी अभिशप्त जिंदगी को उसकी तीव्रता में प्रस्तुत करने में उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली है। 'शैलूष' उपन्यास नटों के जीवन का वैसा प्रभावशाली चित्र नहीं बन सका है, जैसा रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ'। "लेखक समूचे कबीले के संघर्ष को कुछ व्यक्तियों में रेड्यूस कर देता है और रचनावस्तु के प्रति किसी सघन सम्पृक्ति के अभाव में यह सारा आयोजन उपन्यास

---

[48] श्री दामोदर खउसे, शैलूषः बदकिस्मत जिंदगी की गाथा, शिवप्रसाद सिंहः स्रष्टा और सृष्टि- पृ.224

को एक प्रायोजित रचना में बदल देता है।"[49] 'शैलूष' की मुख्य दुर्बलता उसमें आत्मीयता और विश्वसनीयता का अभाव है।

पाँव तले की दूब (1990)-'पाँव तले की दूब' संजीव की उपन्यासिक या लघु उपन्यास है, जो 'हंस' पत्रिका के दो अंकों, अगस्त 1990 एवं सितंबर 1990 में प्रकाशित हुआ था। यह लघु उपन्यास सुदीप्त नाम के एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है, जो अपनी आदर्शवादिता का, अपनी दुविधा का शिकार होकर एक त्रासद् मृत्यु को प्राप्त करता है। झारखंड के "आदिवासी इलाके में नियुक्त एक अधिकारी सुदीप्त, जो संवेदनशील लेखक और आदिवासियों का समर्थक है, के माध्यम से संजीव ने झारखंड आंदोलन की भिन्न धाराओं, आदिवासी जीवन के अंधविश्वास, यातना-चक्र एवं संघर्ष का अंतर्गुम्फन अत्यंत दक्षता के साथ किया है। आदिवासियों के प्रति गैर-आदिवासियों का दृष्टिकोण, विकास के नाम पर आदिवासियों का विस्थापन, वैकल्पिक जीवन-पद्धति के बिना पारंपरिक जीवन-शैली का लोप, वर्गीय राजनीति की सीमित सफलता, यह सब आत्मीय ब्यौरे के साथ बीज-रूप में इस उपन्यासिका में उपस्थित है।"[50] इस उपन्यास के केंद्र में झारखंड आंदोलन की गूँज है, जो वर्तमान में स्वतंत्र राज्य बन चुका है। झारखंड राज्य बन जाने पर भी आदिवासियों का भला होने पर लेखक प्रश्नचिह्न लगाता है जो कि झारखंड राज्य के अस्तित्व और कार्य प्रणाली को देखते हुए इससे असहमत होने का कोई कारण नज़र नहीं आता है। उपन्यास में लेखक ने अनावश्यक ब्यौरों व अतिवर्णन से बचते हुए कई प्रविधियों को भी अपनाया है। कथा के भीतर कथा की प्रधान प्रविधि के अतिरिक्त कहानी कहने के लिए डायरी, पत्र, उद्धरण, स्वप्न आदि का भी उपयोग किया गया है। किंतु इन प्रविधियों से उपन्यास की पठनीयता, कथा का अविच्छिन्न प्रवाह खंडित हो जाता है। यह उपन्यास 'मेटाफिक्शन' की शैली में लिखा गया है।

जंगल जहाँ शुरू होता है (2000)-'जंगल जहाँ शुरू होता है' की कथावस्तु के केंद्र में पश्चिमी चम्पारण (बिहार) जिले की डाकू समस्या और उससे प्रभावित थारु

[49] मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास-पृ.205

[50] वीरेंद्र यादव, नवें दशक में औपन्यासिक परिदृश्य (पहल, मार्च 1998)-पृ.34

आदिवासी है। इस उपन्यास में पश्चिम चंपारण के समूचे जीवन को आत्मसात कर थारु आदिवासी का यथार्थ, पुलिस, प्रशासन तथा नेता आदि का प्रजातंत्र के नाम पर चलने वाले माखौल को पूरी मार्मिकता के साथ उजागर किया गया है। शासन-व्यवस्था डाकू-उन्मूलन हेतु विभिन्न अभियान चलाती रहती है, लेकिन डकैत बनने के मूल कारणों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। शासन-व्यवस्था भ्रष्ट एवं दबंग तत्वों की चेरी होने के साथ ही अफसरों की खानापूर्ति की मानसिकता और भ्रष्टाचार के कारण कोई भी समस्या जड़ से कभी खत्म नहीं होती। डाकुओं की सूची में 'काली' ऐसे थारु युवक का नाम है, जो न चाहते हुए भी, अस्वस्थ समाज-व्यवस्था, आर्थिक बदहाली, लचर-प्रशासन तथा बहरी न्याय-व्यवस्था के कारण, डाकू बनने पर मजबूर हो जाता है। वस्तुतः डाकू-समस्या के मूल में भूमि-सुधार का न होना, ढीला प्रशासन, राजनैतिक संरक्षण, रोजगार की समस्या, धर्म का दुरुपयोग आदि है। डाकू-उन्मूलन हेतु चलाए गए 'ऑपरेशन ब्लैक पाइथर' के दौरान थारु आदिवासी किस प्रकार प्रभावित होते हैं इसे दिखाने के लिए लेखक ने उनकी सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों की जानकारी विभिन्न पात्रों के माध्यम से दी है। उपन्यास में उस विशिष्ट क्षेत्र में व्याप्त जंगल-राज की पर्तों को भी उघाड़ने का सफल प्रयास किया गया है।

थारु एवं निम्नवर्गीय लोगों का जीवन आर्थिक एवं सामाजिक विषमता के कारण दयनीय हो चुका है। इनकी जीवन-दुर्दशा का कारण अशिक्षा, बेरोजगारी, गरीबी एवं अंधविश्वास है जिसका फायदा समाज के उच्चवर्गीय सेठ, साहूकार, जमींदार अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उठा रहे हैं। वहीं दूसरी तरफ थारु आदिवासी तथा निम्नवर्ग की स्त्रियों पर समाज के तथाकथित उच्चवर्ग के लोगों, डाकू तथा पुलिस द्वारा अत्याचार किया जा रहा है। उपन्यास में अनेक उत्सवों एवं धार्मिक अनुष्ठानों का चित्रण हुआ है। थारु सहोदरा माई के मेले में पूरे उत्साह के साथ बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं तथा थारु स्त्रियाँ झमटा नृत्य एवं गान करती हैं। थारुओं में लोक-विश्वास, अज्ञानता तथ अशिक्षा के कारण अनेक भ्रांत धारणाओं, रूढ़ियों के रूप में मौजूद हो चुके हैं। थारु गाय का दूध नहीं पीते, वे मानते हैं कि

इससे लेरु (गाय का बच्चा) की आत्मा कलपती है तथा हरिना मारने-खाने से हैजा होता है। इस तरह की अनेक रूढ़ियाँ इनके विकास के लिए बाधक हुई हैं। थारुओं में विभिन्न संस्कारों का अपना ढँग पाया जाता है, उनमें विवाह से पूर्व सगाई होती है तथा सर्प-दंश से मृत्यु होने पर वे शव को प्रवाहित कर देते हैं।

इसके इतर उपन्यास में वर्तमान राजनीति के अपराधीकरण की विडंबना का भी रेखांकन हुआ है। समाज में व्याप्त गरीबी, भुखमरी के अलावा तस्करी, स्मगलिंग तथा औरतों की खरीद-फरोख्त का धंधा व्यापक रूप में फैल चुका है जिसका चित्रण लेखक ने किया है। वस्तुतः उपन्यास में लेखक ने जंगल को प्रतीक मानकर मनुष्य और समाज में व्याप्त जंगल को उजागर किया है।

पठार पर कोहरा (2003)-राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'पठार पर कोहरा' झारखंड के वर्तमान आदिवासियों के जीवन पर लिखा गया है। यह उपन्यास आज़ादी के बाद आदिवासी गाँवों की परिस्थितियों, जटिलताओं एवं शोषण के दुष्चक्र की कथा कहता है। ब्रिटिश सरकार ने जिस मनोविज्ञान के तहत आदिवासी समाज को देखा-समझा था, स्वाधीन भारत के शासक वर्ग का दृष्टिकोण उससे ज्यादा भिन्न नहीं है। तरह-तरह के कानून बनाकर जल, जंगल एवं जमीन पर से उनके अधिकारों को संकुचित किया गया, जो आज भी जारी है। विकास के नाम पर आदिवासियों की बस्तियाँ उजाड़ी जाती हैं। यह विडंबना है कि जिस विकास से आदिवासियों को कोई लाभ नहीं होता उसके लिए सर्वाधिक बलिदान उन्हीं से लिया जाता है। आज़ादी के बाद सभी आदिवासी इलाके की भाँति झारखंड में भी एक नई शोषक संस्कृति (साहू, बाबू और बंदूक की संस्कृति) का उद्भव हुआ। जिसका नतीजा हुआ कि झारखंड का औसत आदिवासी महाजन के कर्ज में जन्म लेता है, बाबू की बेगारी खटता है और साहू के कर्ज में मर जाता है। 'पठार पर कोहरा' के सुगना मुंडा, मुलकी, हरमू, भड़ीमन सहित सभी आदिवासी इसी शोषण के शिकार हैं। गजलीठोरी गाँव के आदिवासी बेचू तिवारी एवं गगनबिहारी साहू की दासता में इस क़दर घिर चुके हैं कि उन्हें मुक्ति का रास्ता नहीं दिखता है। उन्हें एक ईमानदार शिक्षक संजीव मुक्ति का सपना दिखाता है। संजीव के सपने को फलीभूत होते देख

शोषक वर्ग उसकी नृशंस हत्या करवा देता है। संजीव पठार पर फैले शोषक के इस कोहरे के खिलाफ़ संघर्ष करता है। अंततः शहीद होता है। संजीव लेखक के सकारात्मक सोच एवं समतामूलक सपने को रेखांकित करता है। इसके इतर पति की मृत्यु के बाद हताशा में घिरी एक आदिवासी युवती रंगनी के आत्मसंघर्ष एवं नारी-मुक्ति की कहानी भी इसमें चित्रित हुआ है। वस्तुतः झारखंड के आदिवासियों का शोषण विकास की मौजूदा अवधारणा का परिणाम है। श्रम, उद्यम और सहभागिता के लिए संघर्षशील आदिवासी की यह कथा इस उत्तर की बेचैन खोज भी है कि हिंदू धर्म के विराट कैनवास पर उनकी क्या जगह है? इस कृति में झारखंड के इस खुरदरे यथार्थ एवं जंगल के विरूपित होते चेहरे के समानांतर लोक-जीवन एवं प्रकृति का तरल स्पंदन भी है।

रेत (2008)-'रेत' उपन्यास में भगवानदास मोरवाल ने हरियाणा और राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्रों में बसनेवाली कंजर विमुक्त आदिवासी के जीवन-संघर्ष और द्वंद्व को उभारने की कोशिश की है। कंजर आदिवासी का इतिहास, रीति-रिवाज और उसके सामाजिक जीवन का प्रामाणिक चित्रण करने के लिए लेखक ने काफी श्रम एवं शोध किया है। लेखक ने उपन्यास में दिखाया है कि कंजर आदिवासी का मुख्य पेशा अवैध शराब बनाना और अपने समाज की कुँवारी लड़कियों द्वारा वेश्यावृत्ति कराना ही रहा है। मेवों की संस्कृति की तरह कंजर आदिवासी में भी हिंदू और मुसलमान दोनों के मिले जुले रीति-रिवाज़ मिलते हैं। हालांकि मान्य और प्रचलित धार्मिक परंपराओं और देवी-देवताओं से कंजरों का बहुत वास्ता नहीं रहा। उनके अपने अलग आदिवासीय देवी-देवता हैं। इनमें सबसे बड़े उनके कुलदेवता 'माना गुरु' माँ नलिन्या, मारी, प्रभा और भुइयाँ आदि हैं। माना गुरु और माँ नलिन्या के संतान इस कंजर आदिवासी की त्रासद् जीवन-गाथा उकेरने के लिए लेखक ने गाजूकी नाम कंजरों की बस्ती, विशेष रूप से उसके कमला सदन के एक परिवार को आधार बनाया है।

कंजर आदिवासी के पुरुष प्रायः कोई भी काम-धंधा नहीं करते जबकि अविवाहित लड़कियाँ वेश्यावृत्ति का पेशा अपनाती हैं। इस आदिवासी में

मातृसत्तात्मक व्यवस्था के अवशेष मिलते हैं, जिसके सत्ता शीर्ष पर कमाई करने वाली यही अविवाहित लड़कियाँ होती हैं जिन्हें 'खिलावड़ी' कहा जाता है। लेकिन विपर्यय यह है कि इसी समाज की लड़कियाँ शादी के बाद भाभी कहलाती हैं, जिनके लिए तो यह पेशा वर्जित होता है किंतु उनकी स्थिति परिवार में दयनीय खटने वाले नौकरों जैसी होती है। कंजर आदिवासी के इस अंतर्विरोध को लेखक ने केंद्र में रखा है। कमला सदन में एक साथ, इस कंजर आदिवासी की सात्विक परंपरा एक तरफ है तो दूसरी तरफ उस परंपरा को नष्ट करने का प्रचलन भी, यहाँ की भाभियों का विद्रोह भी। इसी पृष्ठभूमि में वेश्यावृत्ति करनेवाली एक खिलावड़ी से लेकर राज्य की उपमंत्री बनने तक रुक्मिणी की पूरी कहानी दिलचस्प है। अपनी देह के बल पर यह सब हासिल करने का गुरुमंत्र उसे भगवा पार्टी की राजनीतिक कार्यकर्ता और समाज सेविका सावित्री मल्होत्रा देती है, जो उससे कहती है कि 'अपनी देह की तू खुद मुख्तार है और इसी से अपना भाग्य पलट सकती है।' स्थानीय नेता का रुक्मिणी के इच्छा के बगैर देह से खिलवाड़ भी उसे प्रतिहिंसा के साथ चुनाव लड़ने को मजबूर करती है। और इस तरह कंजर समाज की जरायम पेशा करनेवाली रुक्मिणी राजनीति में शामिल होकर इस समाज को मुक्ति दिलाने की दिशा में सक्रिय होती है।

भगवानदास मोरवाल की सजगता व संयम ने इस उपन्यास को 'अश्लील' एवं 'देह-विमर्शी' होने से बाल-बाल बचा लिया है, क्योंकि उनका मक़सद था कि गलीज और तिरस्कृत मानव समूह अगर समाज के, देश की मुख्य धारा में शामिल होकर, जिसका कि उसे अधिकार है एक आम सभ्य भारतीय बनने की कोशिश में है तो बजाय उसे हतोत्साहित और उपेक्षित, तिरस्कृत करने के, सहारा और आसरा देना। 'रेत' उपन्यास इस तक़ाजे को पूरा करता है। क्षेत्र विशेष की बोली और खासकर कंजर आदिवासी के लोगों में प्रयुक्त होनेवाले खास शब्दों और मुहावरों को प्रामाणिक बनाने का भरसक प्रयास किया गया है। उपन्यास में जगह-जगह घटिया, जासूसी उपन्यासों की तरह 'रहस्य' और 'रोमांच' पैदा करने की कोशिश

की गई है, फिर चाहे वह वर्णित स्थितियाँ हों या घटनाक्रम। पात्रों के बीच के संवाद प्रभावी नहीं लगते।

सीता-'सीता' रमणिका गुप्ता का पहला लघु उपन्यास है जो संभवतः किसी भी महिला कथाकार द्वारा कोलफील्ड पर लिखा गया हिंदी का पहला उपन्यास है। लेखिका ने उपन्यास की लघुता में 'सीता' जैसी सरल एवं अग्निधर्मी आदिवासी महिला के माध्यम से कोयला खदानों में मजदूरों, खास तौर से महिला मजदूरों के शोषण-दोहन और संघर्षों का वस्तुनिष्ठ और प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत किया है। सीता पात्र नहीं, प्रतीक है आदिवासी नारी की संघर्षशील चेतना की। यह लेखिका के कोयला खदान के संघर्षों की प्राप्ति है।

राँची जिला के खूँटी गाँव से सीता अपने पिता, माँ सहित अन्य तीन बहनों के साथ केदला कोलियरी में राजा साहब के नए खदान में मजदूरी का काम करती है। इन आदिवासी मजदूरों के माध्यम से वहाँ के बहिरंग और अंतरंग स्थितियों का यथार्थ चित्रण किया गया है। 'सीता' का संघर्ष दो स्तरों पर है एक व्यक्तिगत जीवन में दूसरा मजदूरों के अधिकारों की प्राप्ति हेतु। वह खदानों में काम करनेवाली स्त्रियों की समस्याओं की विशेष चिंता करती हैं। उनकी अपने ढँग की समस्याएँ होती हैं। शोषण, अत्याचार एवं बेरोजगार कर दिए गए मजदूरों के अधिकारों के लिए जान जोखिम में डालकर सीता अनवरत् संघर्ष करती है। धनिया की ही तरह ओजमयी एवं विसंगतियों का विरोध करनेवाली चरित्र की सृष्टि लेखिका ने की है।

कोलियारी के समाज को लेखिका ने 'साझी संस्कृति वाला समाज' कहा है। यहाँ बिलासपुर, राँची, पलामू, गया-सभी जगह के मजदूर मिलकर रहते हैं। लेकिन समय बदलने लगा है। यहाँ भी साझी संस्कृति अब दरकाई जा रही है। कोलियारी की अपनी भाषा है। अपने उपयोग के लिए बनाई मिश्रित भाषा, जिसका कोई नाम नहीं है। लेकिन अर्थ और प्रयोग है। यहाँ की भाषा मगही, खोरठा, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, नागपुरिया और हिंदी का मिश्रण थी। उपन्यास में इसका उपयोग सहज भाव से हुआ है। यौन संबंध भी कोलियरी के मजदूरों के लिए कोई टैबू नहीं है। यहाँ औरतों को मर्द चुनने और बदलने की स्वतंत्रता है। सती सावित्रीपन में उनका कतई

विश्वास नहीं है। इस उपन्यास में किसी राजनैतिक विचारधारा का बेजा दबाव नहीं है, यह अच्छा संकेत है।

समर शेष है-'समर शेष है' पत्रकारिता से जुड़े विनोद कुमार का पहला उपन्यास है। यह संथाल समाज की संघर्ष गाथा के विगत साढ़े तीन दशकों की घटनाओं को अपनी कथावस्तु में समाविष्ट करती है। 'समर शेष है' औद्योगिकीकरण और विस्थापन के मकड़जाल में फँसे आदिवासी समूहों के जीवन संघर्ष का विश्वसनीय चित्र है। यह उपन्यास अपने विवरणों की प्रामाणिकता के लिए झारखंड आंदोलन के कई चर्चित राजनीतिकों के निजी जीवन-संदर्भों को औपन्यासिक आख्यान के कलेवर में शामिल कर लेता है। इस उपन्यास में झारखंड मुक्ति मोर्चा के गुरुजी शिबू सोरेन और मार्क्सवादी समन्वय समिति के कामरेड ए.के.राय जैसे कई जाने सुने चरित्र उपस्थित हैं। इस उपन्यास के कथानक में जीवनी और संस्मरण की सीमाएँ औपन्यासिक सीमांतों का अतिक्रमण करती लग सकती है।

मीणाघाटी (1996)-'मीणाघाटी' सोहन शर्मा का पहला उपन्यास है। इस उपन्यास का कथा-काल है-20 वीं शती का प्रारंभिक दौर। कथा-परिवेश राजस्थान की मेवाड़ रियासत का है। रियासत में बसे भील, मीणें, छोटे किसान तथा सामान्य जनता अंग्रेज हाकिमों और राजे-रजवाड़े के दोहरे शोषण की शिकार है। मेवाड़ के अरावली पर्वत की मीणाघाटी के भील-मीणें शोषण और जुल्म के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करते हैं। शोषण से मुक्ति के लिए संघर्ष का शंखनाद करनेवाले विद्रोही भील सरदार अमरा के रूप में इस उपन्यास में एक ऐसा पात्र सजीव हुआ है जो भावी पीढ़ियों के लिए आदर्श बना रहेगा। यह उपन्यास 'मीणाघाटी' के आसपास बसी सात गाँवों की बस्ती रावपुरा के तत्कालीन सामंती समाज को उसकी संपूर्णता में साकार करने के साथ देहाती जीवन के तीज-त्यौहारों, रीति-रिवाजों और खेल-तमाशों का जीवंत चित्रण ग्रामीण जीवन के यथार्थ को पूरी प्रामाणिकता में मूर्त रूप कथा कहने की विशिष्ट शैली के माध्यम से देता है।

रक्तयात्रा (1978) - यह उपन्यास पूर्वोत्तर के नागाओं के जीवन पर केंद्रित है। भूमिका 'रक्तवेदी', शीर्षक से एवं उपन्यास तीन खंडों में 'आदिम

जीवनःशिरच्छेदक', 'युगांतरःगोरे आए', 'नया सवेराःसंघर्षों की राह' में विभाजित है। नागाओं के कई शतकों की मानवीय आकांक्षाओं और पीड़ाओं की इस औपन्यासिक कथा-यात्रा में प्रस्तुत की गई है। नागाओं के हैड हंटर पुरखों के जीवन से लेकर राजनीतिक आकांक्षाओं से उत्तेजित आधुनिक नागाओं के जीवन-बोधों को समेटा गया है। 1963 को भारतीय संघ के अंतर्गत सोलहवें राज्य के रूप में नागालैंड राज्य की स्थापना के साथ ही इस उपन्यास का अंत हो जाता है, पर नागाओं के अंडरग्राउंड वर्ग की यात्रा समाप्त नहीं होती। वर्षों से अंडरग्राउंड नागाओं का यही प्रयास रहा है कि नागा समस्या को राष्ट्रसंघ में उठाकर उसे अंतर्राष्ट्रीय रूप या प्रश्न बना दिया जाय। स्कॉट जैसे मिशनरी ने उग्रपंथी फिजो का साथ दिया और भारत के विरुद्ध विष-वमन किया। मिशनरी की भूमिका आपत्तिजनक और अविश्वसनीय ही नहीं बल्कि स्वयं नागाओं के हितों के विरुद्ध थी। "चीनी सहायता से बल पाकर अंडरग्राउंड नागाओं की आतंकवादी गतिविधियों से आम नागाओं को बेहद मुसीबतें झेलनी पड़ीं। राज्य में हिंसा का वातावरण प्रबल हो उठा। चीन को लेकर स्वयं अंडरग्राउंड नागाओं में फूट पड़ गई। दीखु, त्वेनसांग और सेमा क्षेत्र के अंडरग्राउंड नागाओं ने अपनी पृथकता घोषित कर दी। तथाकथित जनरल केटो ने फिजोवादियों से पृथक अलग ही अपनी सैनिक सरकार बना ली और वह उग्र तत्वों के विरुद्ध भारतीय सेनाओं के साथ सहयोग करने लगा। इस अवधि में जितना रक्तपात हुआ कदाचित् इससे पूर्व विगत बीस वर्षों में कभी नहीं हुआ था। सुरक्षा सेनाओं ने भी कड़ी कार्रवाई की। छुये नागा माओत्से तुंग के इन विचारों से प्रेरित होकर कि 'लड़ो, असफल होने पर फिर लड़ों, जब तक विजय न पा लो लड़ते जाओ, गहरी क्षति उठाकर भी संघर्ष करते रहो।' यह निरर्थक संघर्ष आज समाप्त प्राय है। नागालैंड में कई आम चुनाव हो चुके हैं, फिर भी फिजो की ओर उन्मुख असंतुष्ट तत्व अपनी हरकतों से बाज नहीं आए हैं।"[51]

प्रस्तुत उपन्यास में सामसामयिक इतिहास और कतिपय व्यक्तित्वों का भी समावेश हुआ है ताकि नागा जीवन और संघर्ष का रेखाचित्र पूर्ण हो सके। इस

---

[51] रक्तयात्रा ('रक्तवेदी' शीर्षक भूमिका से)-पृ.10

उपन्यास के माध्यम से हिंदी के पाठक इस अंचल और इस जन-समुदाय के बारे में जान सकने की पहल कर सकते हैं। भारतीय संघ के अंतर्गत ही नागा की समस्या को देखने के कारण लेखक का नज़रिया बहुत हद तक आदर्शवादी है।

गाथा भोगनपुरी (1986)-इस उपन्यास के केंद्र में उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड (तहसील भोगनपुर) से संबंधित एक कोल आदिवासी बंधुआ मजदूर बँगडू की कहानी है। सामंत ठेकेदार से अपने बाप-दादा के बीस रुपये के कर्ज चुकाने हेतु बँगडू सपरिवार पीढ़ी-दर-पीढ़ी के रूप में बंधुआ मजदूरी करता आ रहा है। बंधुआ मजदूर को पता नहीं होता है कि वह बंधुआ मजदूर है यह इन शोषित लोगों की सबसे त्रासद नियति है। शोषक समाज द्वारा गरीबों को जबरन काम करना, मजदूरी कम देना ही बंधुआ मजदूरी की श्रेणी में आता है। बँगडू को कभी यह जानने की इच्छा ही नहीं हुई कि वह ठेकेदार दादूसिंह के यहाँ क्यों बंधुआ मजदूरी करता है। बल्कि कर्ज की सूद के एवज में बचपन से बँगडू ने अपने बाप को यहाँ बंधुआ मजदूरी करते देखा था और अब वह मजदूरी करने लगा है। सरकार द्वारा बंधुआ मजदूरी को हटाने एवं पुनर्वास संबंधी योजनाओं का इसमें चित्रण किया गया है। ठेकेदार, नेता एवं भ्रष्ट अफसरशाही के गठजोड़ के कारण यह योजना असफल हो जाती है। यही कारण है कि सरकार के बंधुआ मजदूरी के खात्मे एवं पुनर्वास संबंधी योजना में शामिल होकर भी जब बांगडू कुछ भी नहीं हासिल कर पाता है तो विक्षिप्त अवस्था का शिकार हो जाता है। इस उपन्यास को एक ऐसे युवा प्रशासनिक अधिकारी के प्रतिवेदन को पढ़ा जा सकता है जिसमें हमारे समाज और हमारी राजनीति को 'अंदरूनी' निगाह से देखा गया है। इस कृति की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि यह भावुकता, दया या करुणा की बैसाखियों का सहारा नहीं लेती वरन् वास्तविकता का बयान बड़ी ठेठ भाषा में करती है। इसे उपन्यास कहा जाए, लंबी कहानी, रिपोर्ताज या एक विस्तृत रपट यह समस्या उठ खड़ी होती है।

जंगल के आसपास (1980)-यह उपन्यास दमकड़ी अँचल के आसपास के आदिवासियों का उच्च वर्ग द्वारा शोषण पर आधारित है। कानूनन जमींदारी उन्मूलन हो गया लेकिन आज भी रायसाहब के ठाठ एक राजा की तरह हैं। युगीन परिवेश में

अपनी सत्ता कायम रखने हेतु षडयंत्र से राजनीति में प्रवेश करके विधायक बन जाते हैं। पुलिस स्टेशन, अदालत सभी उन्हीं के इशारे पर चलते हैं। दमकड़ी का सारा इलाका पूँजीपति, महाजन, पुलिस और नेताओं से अत्यधिक आतंकित है। उपन्यास में ओझा का चरित्र भी अमानुष का प्रतीक बनकर प्रवेश करता है। ओझा और राय साहब की मर्जी के खिलाफ बहुत कम लोग हैं जो कदम उठाने का साहस करते हैं। पहली बार एक युवा शिक्षक दिनेश इन ताकतों का प्रतिरोध करते हुए आदिवासियों में चेतना फैलाने का काम करते हैं तो उसके साथ भी अमानुष व्यवहार किया जाता है। उपन्यास में सोन नदी के किनारे फैले जंगल और पहाड़ियों में दमकड़ी अँचल के पिछड़े और शोषित आदिवासियों का आधुनिक सभ्यता से अलग एवं अभिशप्त जीवन उजागर हुआ है। इसमें अधिकारियों द्वारा आदिवासी नारी का शोषण, आदिवासियों का अंधविश्वाास, आदमखोर की समस्या के साथ-साथ आदिवासियों में जागृत संघर्ष चेतना का भी चित्रण यथातथ्य रूप में किया है। आतंक, अन्याय, शोषण, पिछड़ापन, जंगली जानवरों की समस्या, अभाव और नई चेतना भी कथा के महत्वपूर्ण तथ्य हैं।

<u>गगन घटा घहरानी</u> (1991)- 1991 में प्रकाशित होने से पहले से पहले यह उपन्यास 'कतार' पत्रिका के वार्षिक विशेषांक के रूप में प्रकाशित होकर प्रसिद्ध हो चुका था। झारखंड, विशेषकर पलामू और आसपास के इलाकों में सामंती अवशेषों और पुलिस-प्रशासन के खिलाफ उराँव आदिवासियों के संघर्ष और उनकी संस्कृति पर 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास केंद्रित है। "सामंती खंडहर अब भी जिन अंचलों में पायेदार बने हुए हैं उनमें झारखंड का पलामू क्षेत्र भी है। उत्तर और मध्य बिहार में इन काली ताकतों के निशाने पर मुख्यतः दलित जातियाँ हैं तो झारखंड में आदिवासी कबीले। पलामू उन विरल अपवादों में है जहाँ सामंती जुल्म की गिरफ्त में आदिवासी और सदान दोनों रहे हैं। आदमीयत के इस बियावान से परिचय करना हो तो 'गगन घटा घहरानी' में लोक तत्व और जनचेतना के सहकार से एक प्रामाणिक साक्षात्कार सुलभ हो सकता है-पौराणिक और मिथकीय रुझान से अलग।

इस अर्थ में यह आँचलिक उपन्यास है कि यहाँ आकर नागर संस्कृति का बौद्धिक व्याकरण और भाषाई तिलिस्म टूटते हैं।"[52]

लुपुंगा, खजुरी और सोनाहातू गाँव, बोगारी पहाड़ और मोरंगा जंगल के आसपास उराँव आदिवासियों और सदानों की जो सहज शांत दुनिया बसी है, उस पर विकृत सामंती अवशेषों के रूप में जगनधारी राय और उसके पालतू चीते का आतंक हावी है। आदिवासियों के बद्धमूल धार्मिक संस्कारों के कारण जागो न केवल शोषण का शिकार होता है वरन् राय साहब के यहाँ बंधुआ मजदूरी करने को भी अभिशप्त होता है। मेहनतकश आदिवासी सूखा पड़ने पर अपने खेत जमींदार जगधारी राय के पास रेहन रखने के लिए विवश होते हैं और अपने खेत, घर, गाँव से बेदखल होकर शोषण के चक्र में फँसने को मजबूर होते हैं। फिर रायबहादुर और सरकार के बीच में काम करनेवाले भ्रष्ट बिचौलिए (दलाल) हैं, जो सबके सब अपनी-अपनी जगह स्वार्थ साधने में लगे हैं। कालांतर में जागो का रायबहादुर के यहाँ आने से इनकार करने पर रायबहादुर जबरदस्ती जागो को पकड़वाकर हिंसक चीता के सामने डालने का आदेश देते हैं क्योंकि-"जागो से अब गढ़ी का काम न होगा। सुनकर तन-बदन में आग लग गई थी राय बहादुर को। इस समय उसे इस तरह छोड़ देने का मततलब सिर्फ एक आदमी को, एक चाकर को छोड़ देना भर नहीं था, एक परंपरा की शुरुआत करना था, अपने ही हाथों अपनी उँगली काट लेना था।"[53] यह घटना सुनकर सोनाराम लुपुंगा गाँव के अन्य आदिवासियों के साथ मिलकर जागो को छुड़ाने हेतु रायसाहब की गढ़ी पर धावा बोल देते हैं। इस प्रकार सोनाराम आदिवासी को न केवल आज़ाद जिंदगी के सपने दिखाता बल्कि क्रियान्वित करने की कोशिश भी करता। बाद में एक दिन आदिवासी लोग, रायबहादुर के खेत से दिन-दहाडे धान काटकर ले आते हैं। यहाँ संकेत में ही लेखक नक्सलबाड़ी आंदोलन का जिक्र भी करता है। सोनाराम के विचारों से परंपराप्रिय पैरुगुनी तक अपने दकियानूसी विचार त्यागकर अपनी कौम के अस्तित्व के प्रति चिंतित होकर

---

[52] विद्याभूषण, आदिवासी अस्मिता और हिंदी उपन्यसा, काािक्रम, अक्तूबर-दिसंबर 2001-पृ.76
[53] गगन घटा घटरानी-पृ.60

सोचने लगता है। उपन्यास में ही रामणी और सोनाराम के प्रेमगाथा संबंधी कोमल प्रसंगों को भी स्पेस मिला है।

'गगन घटा घटरानी' में वर्णित कथानक सामंती अवशेषों के जिन घिनौने रूपों को सामने रखता है, वह केवल आदिवासी को ही केंद्र में नहीं रखता बल्कि गैर-आदिवासियों को भी इस उपन्यास में संघर्षरत होने का अवसर देता है। लेखक ने कबीर के पद 'गगन घटा घटरानी साधो' को उद्धृत किया है जिसका संकेत स्पष्ट है कि जहाँ अन्याय होगा वहाँ उसका प्रतिरोध भी होगा ही। उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक है जो आदिवासी विद्रोह के बढ़ने की सूचना देती है। अतः यह उपन्यास नये भूमि-संबंधों और शोषितों, आदिवासियों में पनप रही अधिकार भावना तथा परिवर्तनकामी चेतना का उपन्यास बन जाता है।

बाजत अनहद ढोल(2005)-यह उपन्यास 'संताल हूल' की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इतिहास सदैव सत्य ही नहीं कहता। संताल-क्रांति वस्तुतः अंग्रेज़ां को भारत से भागने की पहली संगठित जनक्रांति थी, परंतु ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़कर 'संताल हूल' के परिप्रेक्ष्य को भी सीमित और विरूपित करने के प्रयास किए गए।" संतालों ने खेत खलिहान जला कर तत्कालीन कंपनी सरकार की शासन व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और न्यायव्यवस्था के विरुद्ध हथियार उठाए थे, परंतु यूरोपीय इतिहासकारों ने खून में नहाई इस महान क्रांति को विद्रोह के खाते में डाल दिया। अपने जल-जंगल-जमीन के नैसर्गिक अधिकार हेतु संघर्षरत 'वैलियंट फाइटर ऑफ द कॉज', संताल हूल के नायकों, सिदो-कान्हू-चाँद-भैरव को इतिहास में 'रेबेलियन' के रूप में दर्ज किया, क्योंकि ऐसे दासों को इतिहास में गौरवान्वित नहीं किया जा सकता था जो पाश्चात्य इतिहासकारों की दृष्टि में असुर, जाहिल, गँवार या अर्धमानुष और जिनके आराध्य टीलों, ढूहों, मेड़ों, नदियों या वृक्षकोटरों में बसते थे।"[54] किंतु यह उपन्यास तत्कालीन इतिहास को सत्ता की आँखों से न देखकर साहित्य की आँख से देखकर तत्कालीन देशकाल के जनजीवन के इतिहास

[54] बाजत अनहद ढोल (फ्लैप से), राकेश कुमार सिंह

को ईमानदारी व प्रामाणिकता के साथ पेश करती है। यह उपन्यास तत्कालीन जनजीवन से जुड़ी आस्थाओं, विश्वासों, लोककथाओं, किंवदंतियों, दंतकथाओं आदि के यौगिक से निर्मित है। किंतु इसके बावजूद आदिवासी समाज को रूमानी नज़रिये से देखने की प्रवृत्ति इसमें मौजूद है।

धार (1990)- धार उपन्यास का शीर्षक अरुण कमल की कविता से लिया गया है और इसकी कहानी 1979 से 1982 के बीच सन्थाल परगना के देवघर सब-डिवीजन के चित्रा कोयला क्षेत्र के सहारजोड़ी नामक स्थान में घटी सच्ची घटना पर आधारित है। पी.यू.डी.आर. (पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स) दिल्ली की एक संस्था ने इस घटना की रिपोर्ट प्रकाशित की जिसका उपयोग संजीव ने उपन्यास की कहानी में किया है। उपन्यास के केंद्र में संथाल परगना का बाँसगड़ा अँचल और संथाल आदिवासी है। संथाल आदिवासी जीवन के संघर्ष और शोषण को उपन्यास में प्रधानता मिली है। उपन्यास के पूर्वाध में आदिवासी जीवन और पूँजीपति वर्ग द्वारा किया जानेवाला अमानुष शोषण चित्रित हुआ है तो उत्तरार्द्ध में नई चेतना, अधिकारबोध और संघर्ष की रचनात्मक पहल का अंकन हुआ है। कथा के केंद्र में आदिवासी नारी मैना है। उसी के परिप्रेक्ष्य में आदिवासी जीवन, संघर्ष और चेतना का विस्तार होता है। आदिवासी समाज, पिछड़े हुए इलाकों में नई औद्योगिक संस्कृति और वामपंथी आंदोलन इन तीनों के मिल जाने से ही मैना का संघर्षशील चरित्र उभरा है। पूँजीपतियों की कुटिलता, भ्रष्ट अधिकारी एवं पुलिस, माफिया का आतंक और व्यवस्थागत विसंगतियों के कारण विस्थापन से गुजरते संथाल आदिवासियों के जीवन को उपन्यास ने विभिन्न कोणों से आंका है।

मैना और जनमोर्चा के लीडर अविनाश शर्मा शोषण के व्यूह को तोड़ने के लिए आदिवासियों की सहायता से सहकारिता के परिप्रेक्ष्य में जनखदान का निर्माण करते हैं। संगठन, निष्ठा और कड़ी मेहनत से कुछ ही दिनों में जनखदान अपनी महत्वपूर्ण पहचान बनाती है। किंतु पूँजीपतियों की कुटिलता और भ्रष्ट व्यवस्था जनखदान के स्थान पर पूँजीपति महेंदर बाबू की अवैध कोयला खदान को राष्ट्रीयकरण कर देती है। इस निर्णय से दुर्दम्य जिजीविषा और ईमानदारी से विषम

परिस्थितियों में कार्यरत आदिवासी आहत हो जाते हैं। व्यवस्था द्वारा उन्हें सहयोग तो दूर बल्कि बुलडोजर से न केवल उनके जनखदान का ध्वंस किया जाता है बल्कि अनेक निरपराध आदिवासी और संघर्ष की प्रतिरूपा मैना के अस्तित्व को भी खत्म कर दी जाती है।

कोयला खदान की सही तस्वीर और आदिवासियों का जीवन इस कृति के उल्लेखनीय संदर्भ हैं। कोयला खदान और कारखानों के परिणामस्वरूप बाँसगड़ा अँचल का प्राकृतिक परिवेश प्रदूषित मिलता है। कोयला अंचल की संथाल आदिवासी बाह्य शक्तियों के शोषण से अत्यधिक त्रस्त मिलता है। अतः "अंतर-बाह्य रुग्णता के परिणामस्वरूप आदिवासियों को अत्यन्त निम्न कोटि का जीवन जीना पड़ता है। दिन-रात खदानों में कडी मेहनत करने के बावजूद उन्हें दो जून की रोटी मयस्सर नहीं होती। गरीबी, भुखमरी, कच्चा मांस खाना, गंदगी, अभाव, बेहाली, संबंधों की कटुता, नारी देह का खुला व्यापार, बालविवाह, वधू मूल्य, सदोष जाति पंचायत, धार्मिक आडंबर, व्यसनाधीनता संथालों के जीवन का यथार्थ है। अज्ञान के कारण उनमें जादू-टोना, भूत-प्रेत, बलि प्रथा, तंत्र-मंत्र, भाग्यवादिता और ओझा का आतंक पाया जाता है। ईसाई धर्म प्रचारक उनकी गरीबी का लाभ उठाकर उन्हें ईसाई बनाते हैं। परिणामस्वरूप उनके धार्मिक जीवन में हलचल मचती है। उपन्यास में बधना, सरहुल, करमा, लोकनृत्य के धुंधले चित्र मिलते हैं। अभाव और शोषण ने मानो लोकसंस्कृति का रस चूसकर उसे अपाहिज बनाया है। इसी कारण पर्व-त्यौहारों में उल्लास और जोश नहीं मिलता। लेखक ने लोकसंस्कृति पर हो रहे हमले और उसके अस्तित्व पर चिंता प्रकट की है।"[55]

संथालों के जीवन को बेहतर बनाने के लिए मैना आजीवन जूझती है। वह एक साथ पति, पिता, बिरादरी, गुंडे, पूँजीपति और व्यवस्था से लड़ती है। संथालों की मिटती अस्मिता का प्रश्न उठाकर वह वर्ग-संघर्ष की पीठिका तैयार करती है। पुलिस, माफिया और पूँजीपतियों के शोषण के कारण संथाल विस्थापन से आक्रांत

[55] कोयला अंचल का जीवन संघर्ष, गिरीश काशिद (कथाकार संजीव)-पृ.297

है। अतः विस्थापन से गुजरती अपनी जाति के अस्तित्व हेतु वह आजीवन संघर्ष करती है और अंततः व्यवस्था की क्रूरता का शिकार बनती है। उपन्यास की भाषा परिवेश को मूर्तता प्रदान करने के साथ संथालों की भाषा को सर्जनात्मक इस्तेमाल करती है। धार में संजीव ने भाषा के एक और रूप को अपनाया है और इसे उनके द्वारा भाषा का एक खास प्रयोग कह सकते हैं। औद्योगिक क्षेत्रों में अक्सर हिंदी का एक बिगड़ा हुआ रूप चलता है। 'धार' उपन्यास के लगभग सभी आदिवासी स्थानीय पात्र शुरू से अंत तक इसी भाषा में बोलते हैं।

<u>ग्लोबल गाँव के देवता (2010)</u>-हाल ही में नया ज्ञानोदय पत्रिका में 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास प्रकाशित है। रणेन्द्र का यह उपन्यास कलेवर में छोटा होकर विषय-वस्तु की सूक्ष्म पकड़ के कारण पाठक को सहज रूप में पठनीय बनाता है। आदिम समाज के असुर जनजाति के त्रासद जीवन-स्थितियों का उपन्यास में चित्रण हुआ है। अमेरिका के मूल निवासी रेड इंडियन की तरह यह आदिवासी आज अपने अस्तित्व संकट से लगातार जूझती नज़र आ रही है। असुर आदिवासी की अद्‌भुत जिजीविषा एवं संघर्ष की मारक शक्ति के बावजूद निजी कंपनियों का सत्ता-राजनीति संगठनों एवं अफसरशाही के गठजोड़ ने उसे हर प्रकार रौंदा-कुचला है। असुर समाज के अस्तित्व में वैश्वीकरण की क्रूर नियति का भी संकेत उपन्यास में मिलता है।

नाटक

<u>हिरमा की अमर कहानी (1985)-</u>आदिवासियों के जीवन-यथार्थ की प्रारंभिक नाट्य रूप में उपस्थिति हबीब तनवीर के नाटक 'हिरमा की अमर कहानी' (1985) से मानी जानी चाहिए। इस नाटक की मूल विषय-वस्तु है-"यह कहानी आदिवासी रियासत तितुरबसना की है। तितुरबसना के शासक महाराज हिरमादेव सिंह गंगवंशी के गद्दी पर बैठने के कुछ ही महीने बाद, रियासत तितुरबसना भी दूसरी रियासतों की तरह हिंदुस्तानी शासन में शामिल कर ली गई... एक सबसे बड़ा सवाल यह था कि सामंतवाद को खत्म करके लोकतंत्र किस तरह स्थापित किया

जाय? आज भी मेरे सामने यही सवाल है। सच तो यह है कि तितुरबसना रियासत की पूरी आबादी आदिवासी है,उसका जीवन आदिवासी जीवन है और आदिवासी जीवन को सामंती जीवन नहीं कहा जा सकता।"[56] इस नाटक में आदिवासी जीवन का यथार्थ, उनके दुख, उनकी गरीबी, उनके अभाव, उनकी सरलता और भोलापन सब उपस्थित हुए हैं। इस नाटक की रोचकता यह है कि कल्हन जो आई.सी.एस. का आदमी है उसकी पत्नी रेणुका हिरमा देव के खजाने से एक अंगूठी ले लेती है जिसे हिरमा देव उससे लेकर जनता के खजाने के रूप में रख देता है। इस अंगूठी की वजह से हिरमा देव की रियासत और जीवन दोनों चले जाते हैं। यह इस नाटक का त्रासद पहलू है। जैसे-माड़िया आदिवासी नृत्य का एक गीत दृष्टव्य है-

"एक अंगूठी न मिलने की खातिर... अंगूठी पे गद्दी भी छीनी गई... अंगूठी पे जिंदगी भी छीनी गई।"[57]

इस नाटक का वैशिष्ट्य है-इसमें सरकार, प्रशासन, पुलिस-तंत्र, वन अधिकारियों इन सबको आदिवासियों को लूटते-खसोटते हुए दिखाया है। जो आज के भारत का सच भी है। आदिवासियों के विकास के लिए इन सबका उदासीन रवैया और आदिवासियों से संपर्क न करके लूट को बढ़ावा देना इनकी नीति बन चुकी है। इस रूप में देखें तो पाते हैं कि आदिवासियों के जीवन की समस्याओं को इस नाटक में प्रमुखता से उठाया गया है। इस नाटक में आदिवासियों के लोक-नृत्यों, लोक-पर्वों, लोक-गीतों आदि के गायन रूप को भी पकड़ने की कोशिश नाटककार ने की है।

एक बार फिर (2000)-यह नाटक डॉ.सुनील कुमार 'सुमन' द्वारा लिखा गया। लेखक के निर्देशन में ही 17 सितंबर, 2000 को जे.एन.यू. में 'यूनाइटेड दलित स्टूडेंट्स फोरम' की ओर से इसका मंचन किया गया। नाटक का प्रकाशन 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' नामक पुस्तक में वर्ष 2004 को हुआ। यह नाटक केवल 14 पृष्ठों का है। इस नाटक में समसामयिक भारतीय समाज का संदर्भ

---

[56] हिरमा की अमर कहानी-पृ.8-9

[57] हिरमा की अमर कहानी-पृ.7

भी उपस्थित हुआ है। दलितों, आदिवासियों की प्रगति को देखकर द्विज मानसिकता से युक्त बाबाओं, राजनेताओं की खोज-खबर इस नाटक को विशिष्ट बनाती है। इसकी संवाद योजना भी विशिष्ट है। हिंदुत्व की कमान संभाले लोगों की दृष्टि में आदिवासी केवल वनवासी है। इस नाटक में एक श्री चिरकुटनाथ जी महाराज उर्फ चिरकुंडा बाबा है जो हिंदुत्व के प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं उन्हीं का शिष्य सुरसुरानंद झा का एक वक्तव्य जो आदिवासियों और दलितों की एकता को तोड़ने का वाचक है-"जय चिरकुंडा, तोड़ो मुण्डा!!"[58] (पृ.276) इस नाटक में अंबेडकरवादी विचारधारा को दलितों और आदिवासियों से जोड़ कर रचनाकार ने देखने का प्रयास किया है।

<u>मोर्चा मानगढ़' (2009)-</u>यह घनश्याम सिंह भाटी 'प्यासा' द्वारा लिखा गया ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक का नायक गोविंद गुरु है जो बंजारा समाज का सदस्य होते हुए राजस्थान और गुजरात की सीमा पर भीलों में जन जागृति फैलाने का अभूतपूर्व कार्य करता है। गोविंद गुरु आर्य समाज से प्रभावित व्यक्ति थे। जिन्होंने बेगारी, गुलामी, नशापान इत्यादि से मुक्ति के लिए भीलों में नवीन चेतना का प्रसार किया। इन्होंने 'संप सभा' ओर 'धूणियों' की स्थापना की। मानगढ़ स्थान पर अंग्रेज़ी सरकार एवं जागिरदारों द्वारा निहत्थे आदिवासियों के ऊपर गोलियाँ चलाना किस समाज व्यवस्था का न्याय है? मानगढ़ भारत का पहला जलियां वाला है लेकिन इतिहासकारों ने इसे इतिहास में दर्ज नहीं किया। यह कैसा इतिहास-लेखन हे? इस घटना में 1500 से अधिक महिलाएँ, बच्चे और पुरुष मारे गए जो आदिवासी जन थे। क्या आदिवासियों के जीवन का मूल्य आज़ादी पूर्व से लेकर आज 'आपरेशन ग्रीन हंट' तक कुछ भी नहीं है? स्वाधीन चेतना, सहजात जीवन, सामूहिकता की भावना, प्रकृति के साथ नैसर्गिक संबंध से जीने वाला आदिवासी जन क्या सरकार नाम की जम्हूरियत के आगे सरेंडर करें? यह नाटक इन सवालों को उठाता है। लेकिन इस नाटक में ऐतिहासिक तिथियों और प्रमाणों के साथ न्याय नहीं

[58] आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, खंड-1-पृ.276

बरता गया है। गोविंद गुरु अहिंसा के पुजारी थे। इन पर झूठा मुकदमा दायर करके इन्हें फांसी दे दी गई।

धरती आबा (2010)-बिरसा मुंडा के जीवन पर केंद्रित नाटक 'धरती आबा' की प्रथम प्रस्तुति 4 दिसंबर, 2007 को अंतरंग, भारत भवन, आदिवासी विद्रोही नाट्य समारोह, स्वराज संस्थान, भोपाल में हुई। प्रस्तुति निर्माण कला मंच, पटना के निर्देशन में हुई, इस नाटक के रचनाकार ह्षीकेश सुलभ हैं। इस नाटक का निर्देशन संजय उपाध्याय ने किया। इस नाटक का प्रकाशन वर्ष 2010 है। बिरसा ने अंग्रेज़ी हुकूमत और जागीरदारों के खिलाफ उलगुलान (आंदोलन) छेड़ा था। य उलगुलान कभी खत्म नहीं होने वाला क्योंकि जब तक भूख, गरीबी, अभाव, स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित एवं समान अवसरों से वंचित आदिवासी जनसमुदाय रहेगा तब क यह निरंतर चलनेवाली एक जंग है-

"बिरसा-'उलगुलान खत्म नहीं होगा।आदिम खून है हमारा। ... काले लोगों का खून है यह। भूख... लांछन... अपमान... दुख... पीड़ा ने मिल-जुलकर बनाया है इस खून को। इसी खून से जली है उलगुलान की आग। यह आगे कभी नहीं बुझेगी... कभी नहीं। ... जल्दी ही लौटकर आऊँगा मैं।'"[59]

कविता संग्रह

बोलो मोहन गांजू (2008)-यह कविता संग्रह आदिवासी जीवन में आ रहे बदलावों को शिनाख्त करता है। 'बोलो मोहन गाँजू' की कविताओं में जंगल एक स्वतंत्र अस्तित्व रखता है और दूसरी तरफ जंगल के उतार-चढ़ाव से उनकी धड़कनों से बेखबर रहता है। लेकिन आज जंगल वर्ग-विभक्त समाज के राजनीतिक-आर्थिक व्यवहार तर्क झेल रहा है और जैसा कुमारेंद्र बार-बार स्मरण कराते हैं, बाकी जीवंत चीज़ों की भाँति खतरे में हैं।"[60]

---

[59] धरती आबा-पृ.19-20
[60] बोलो मोहन गांजू (फ्लैप से)

वंशी और मादल (1959)-ठाकुर प्रसाद सिंह का यह काव्य-संग्रह आँचलिक लेखन के दौर में रोमांटिक भाव-बोध से अग्रसर कवि की मानसिकता का परिचायक है। आदिवासी जीवन को देखने का रवैया पर्यटीक जैसा लगता है। किंतु शुरुआती लेखन के कारण नोटिस लेने योग्य है।

एकलव्य और अन्य कविताएँ (1990)-श्याम सिंह शशि का यह काव्य-संग्रह एकलव्य को अपनी काव्य वस्तु में केंद्रीय स्थान देता है। प्राचीन काल में छले गए आदिवासी जीवन के सच को मार्मिक रूप से उल्लेख करता है।

कहानी संग्रह

महुआ-आम के जंगल (1984)

इसमें 16 कहानियाँ हैं जिसमें अधिकांश का संबंध आदिवासी जीवन से है। 'जंगल के फूल' उपन्यास की विविध उपकथाएँ ही यहाँ अलग चरित्र के रूप में स्वतंत्र कथा के रूप में विकसित नज़र आती है।

जंगल का जादू तिल-तिल (2008)-युवा समकालीन कहानीकार प्रत्यक्षा के इस संग्रह की दो कहानियों 'जंगल का जादू तिल-तिल' व 'दिलनवाज़, तुम बहुत अच्छी हो' का संबंध ही आदिवासी जीवन से है। बदले हुए परिवेश में आदिवासी जीवन की त्रासदी उकेरने में प्रत्यक्षा सिद्धहस्त हैं।

रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ-'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास के लेखक रणेंद्र की इस कहानी-संग्रह की तीन कहानियाँ 'रात बाकी', 'वह बस धूल थी', 'चम्पा गाछ, अजगर और तीलियाँ' का संबंध आदिवासी जीवन से है। "रणेंद्र की कहानियाँ 'मार्जिनालाइजेशन' की प्रक्रिया का 'मेटाफर' रचती हैं। आदिवासी इनके यहाँ 'कर्न्सन' के रूप में मौजूद हैं। ... ये कहानियाँ ऐसे इलाके से सिर उठाने की जुर्रत करती हैं जहाँ अशिक्षा, गरीबी और बदहाली के घने जंगलों में व्यवस्था के हिंसक नरभक्षी मनमाना शिकार किया करते हैं।"[61]

[61] रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ (फ्लैप से)

विविध

शाल वनों का द्वीप (1967)-गुलशेर खाँ शानी कृत 'शाल वनों का द्वीप' गोंडों की उपजाति माड़िया गोंडों के जीवन से संबंधित उपन्यास है। यह गोंड निवासी बस्तर के आदिवासी हैं। आदिवासी के जीवन, रीति-रिवाज एवं धार्मिक मान्यताएँ सुंदरता के साथ चित्रित की गई है। इस उपन्यास में आरेछा गाँव का समग्र रूपात्मक वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रामांचल के पर्व अन्य गाँवों से सर्वथा भिन्न हैं। इसके मनाने के ढंग भी पृथक् हैं। यहाँ के समाज में 'काकसार' नामक पर्व का प्रचलन है। यह त्यौहार गर्मियों के अंत एवं वर्षा के आरंभ में बोनी से पूर्व संपन्न किया जाता है। इस पर्व के पश्चात् ही शादी-ब्याह आरंभ होते हैं और इष्ट देव की आराधना की जाती है। इस उत्सव को बहुत उत्साह के साथ मनाया जाता है। लेखक ने इस पर्व के संबंध में एक स्थल पर लिखा है-"काकसार की कोई एक ही निश्चित तिथि नहीं होती। प्रत्येक गाँव का काकसार हर दूसरे से भिन्न तारीख को रखा जाता है। दरअसल यह वह अवसर है जब कि अच्छी फसल के लिए गोटा देवता की प्रार्थना की जाती है और उसे हर तरीके से प्रसन्न किया जाता है। उस देव को, जो परंपरा के अनुसार ग्राम देवता से अधिक महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली माना जाता है।"[62] प्रत्येक काकसार की तिथि इस उद्देश्य से भिन्न रखी जाती है कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति हर व्यक्ति के साथ खुशी मना सके। इस गाँव में अंधविश्वास अभी भी इतने व्यापक रूप से विद्यमान है कि शीतला माता के प्रकोप के लिए दवाइयाँ नहीं खायी जातीं, प्रत्युत् सारा गाँव 'पेन लस्तिकाल' जैसे समारोहों का आयोजन सामूहिक रूप से करता है, जिसमें माता-विदा की प्रार्थना की जाती है।

लेखक स्वयं भी उपन्यास का एक पात्र है जिससे कथा के विस्तारों को और भी प्रामाणिकता प्राप्त हो गई है। कैलीफोर्निया स्टेट कॉलेज, हावर्ड के एन्थ्रोपोलोजी के प्रोफेसर जे.जे.एडवार्ड के साथ शानी ने भी प्रचुर मात्रा में सामग्री एकत्र की और

[62] शानी, शाल वनों का द्वीप-पृ.72

माड़िया आदिवासी का निकट से निरीक्षण किया। यह अध्ययन और निरीक्षण इस उपन्यास के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ।

2.8.3 हिंदी आदिवासी साहित्य : गौण रूप में

गोदान (1935-36)-प्रेमचंद ने अपने महत्वपूर्ण उपन्यास 'गोदान' (1935-36) में आदिवासी जीवन की विशिष्टता यथा-त्याग, श्रम आदि का अति संक्षेप में किंतु सूक्ष्म विवेचन किया है। जब मेहता, मालती, रायसाहब, मिर्जा, खन्ना शिकार के लिए जंगल में जाते हैं तो आदिवासी युवती की सरल, सहज स्वभाव की क्रियाओं पर लेखक मेहता के माध्यम से प्रतिक्रिया व्यक्त करवाते हैं कि-

"इस युवती के प्रति मेरे मन में जो प्रेम और श्रद्धा है वह ऐसी है कि अगर मैं उसकी ओर वासना से देखूँ तो आँखें फूट जायँ। मैंने अपने किसी घनिष्ट मित्र के लिए भी इस धूप और लू में उस ऊँची पहाड़ी पर न जाता। और हम केवल घड़ी-भर के मेहमान हैं, यह वह जानती है। वह किसी गरीब औरत के लिए भी इसी तत्परता से दौड़ जाएगी। मैं विश्व बंधुत्व और विश्वप्रेम पर केवल लेख लिख सकता हूँ, केवल भाषण दे सकता हूँ, वह उस प्रेम और त्याग का व्यवहार कर सकती है। कहने से करना कहीं कठिन है।"[63] कहना न होगा कि प्रेमचंद की प्रस्तुति काल्पनिक होते हुए भी यथार्थ से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

मृगनयनी (1950)-इस ऐतिहासिक उपन्यास में 15 वीं सदी में ग्वालियर के राजा मानसिंह के सुसंपन्न राज्य का चित्र अंकित हुआ है। अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने मानसिंह के राज्यकाल को तोमर-शासन का स्वर्णयुग कहा है। मानसिंह ने सिकंदर लोदी सरीखा योद्धा को बारंबार पराजित किया। इसमें अपूर्व सुंदरी एवं तीरन्दाज गूजर युवती निन्नी अर्थात् मृगनयनी का राजा मानसिंह एवं अहीर युवती लाखी का गूजर युवक अटल से प्रेम और विवाह का जिक्र हुआ है। साधारण लोगों के विवाह में जाति-बंधन है जबकि राजा के लिए नहीं। जीवन और कला, स्वसुख और जन-सेवा का सम्यक मेल इस उपन्यास में हुआ है। मुगल वस्तु एवं स्थापत्य कला के

---

[63] प्रेमचंद, गोदान, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 1988-पृ.

निर्माण में हिंदू वास्तु-कला की भी अहम भूमका रही है। उपन्यास में तत्कालीन धार्मिक कट्टरता का भी जिक्र हुआ है।

किंतु शोध विषय की दृष्टि से इस उपन्यास में विमुक्त आदिवासी नट के क्रिया-कलापों का ही संक्षिप्त रूप में चित्रण मिलता है। मालवा का ऐय्याश राजा गयासुद्दीन अपनी वासनापूर्ति के साधन विशेषकर सुंदर स्त्री लाने का कार्य नट-बेड़ियों के द्वारा करवाते। 'मृगनयनी' उपन्यास में लाखी और अटल की कथा के साथ नटों का संबंध है। जादू-टोना, नाच, रास्ते पर ढोल्की बजाते हुए दौड़ना, कुलाँचे, एक पेड़ से दूसरे पर उछलकर पहुँचना, बंदरों के खेल और अनगिनत नट के करतब का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। नट स्त्री की फूहड़ छवि इसमें पेश की गयी है जो हमेशा पुरुषों को लुभाने के साथ सुंदर स्त्री के साथ भी छल करती हुई नज़र आती है।

<u>मैला आँचल (1954)</u>-फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा लिखित 'मैला आंचल' संभवतः पहला उपन्यास है, जिसमें संथाल आदिवासियों के थोड़े-से जीवन प्रसंग हैं। "हालाँकि ये जीवन प्रसंग इस नाते गौरतलब हैं कि उनसे, आदिवासियों से हिंदी भाषी समाज की दूरी के कारण समझ में आते हैं और एकता का संभावित सूत्र दिखलाई पड़ता है।"[64]

पूर्णिया में जमींदार संथाल आदिवासियों को कृषि-कार्य के लिए लाए थे। संथालों ने जंगल काटकर खेत भी बनाया था। जमींदारी प्रथा खत्म होने की घोषणा से उन्हें लगता है कि जमीन उनकी हो जाएगी। जब जमीन पर कब्जे के नारे के साथ सोशलिस्ट पार्टी सदस्यता अभियान चलाती है, रेणु ने लिखा है कि तब 'संथाल टोली का एक भी आदमी गैर-मेंबर नहीं रहा।' इसके बावजूद जमीन बंदोबस्ती के वक्त संथाल अकेले पड़ जाते हैं। सभी जातियों के भूस्वामी एकजुट होकर उन्हें बाहरी घोषित कर देते हैं। यहाँ तक कि कांग्रेस, हिंदूवादी और सोशलिस्ट पार्टियों का भेद खत्म हो जाता है। आदिवासी हक के लिए लड़ते हैं, परिणामस्वरूप चार

---

[64] प्रधान संपादक-रामजी राय, आदिवासी प्रश्न वास्तविक लोकतांत्रिक राष्ट्र के निर्माण का प्रश्न है (पहला पन्ना), समकालीन जनमत, सितंबर 2003 (आदिवासी : मिथ और यथार्थ)-पृ.6

संथाल जान गँवाते हैं, सात घायल होते हैं और उनकी औरत के साथ बलात्कार होता है। पूर्णिया में आज भी आदिवासी किसान-मजदूरों का भूस्वामी के खिलाफ प्रतिरोध मौजूद है। मैला आँचल में कानून और पुलिस प्रशासन का चेहरा भी आदिवासी विरोधी दिखलाई पड़ता है। देश की आज़ादी की घोषणा के साथ मुकदमे का जो फैसला आता है, वह सुराज का चित्र स्पष्ट कर देता है। रेणु लिखते हैं- "मुकदमा में भी सुराज मिल गया। सभी संथालों को 'दामुल हौज' (आजीवन कारावास) हो गया।"[65]

धपेल-आठवें दशक में उठी लघु कथा आंदोलन से संबद्ध रचनाकार श्याम बिहारी श्यामल की औपन्यासिक रचना 'धपेल' है। पुस्तक के फ्लैप पर लिखा गया है, यह पलामू के जनजीवन में सूखा, अकाल, गरीबी और पिछड़ेपन के खिलाफ जारी संघर्ष का चित्रण करने वाला हिंदी का पहला उपन्यास है। वस्तुतः धपेल शहर के एक पुरोहित का लोकप्रचलित नाम है जिसे श्राद्ध कर्म में दशमी के दिन मृतात्मा की क्षुधा तृप्ति के नाम पर अभीष्ट भोजन दिया जाता है। ऐसे पात्र भोजनभट्ट के रूप में सामाजिक उपहास के मॉडल बनते हैं तो भी वे इस अवसर का आयोजन अपनी वृत्ति का विशेषाधिकार मानते हैं। इस उपन्यास में यह नाम-शीर्ष सर्वभक्षी का अर्थपूर्ण प्रतीक बन गया है।

इस उपन्यास का कथानक एक प्रवासी चरित्र घनु बाबू की दो हफ्ते की घर वापसी के दरम्यान उनकी देश-दर्शन की सदिच्छा के इर्द-गिर्द पसरता है। बारह साल तक गाजियाबाद में एकमुश्त बिताकर जहाँ वे वकालत में जम गये हैं, घनु बाबू अपने गृह नगर आये हैं। विगत की स्मृतियाँ हर मोड़-पड़ाव पर उन्हें घेर लेती है, लेकिन घर वापसी की तफरी ही छोटी-सी अवधि में उनका मातृभूमि की दुर्दशा पर द्रवित हो जाना स्थितिजन्य साक्ष्य से समर्थित नहीं हो पाता खास तौर पर तब जब वे पंद्रह दिनों में से अंतिम दो दिन अकाल और सूखा पीड़ित स्थलों के निरीक्षण में व्यतीत करते हैं। चार पात्रों की गाड़ी में बतकही और यात्रा वर्णन के क्रम में पलामू के अकाल दर्शन का सच उजागर हो जाता है। "'धपेल' अन्य पुरुष के शिल्प

[65] फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आंचल-पृ.

में लिखा गया उपन्यास है जिसे विवरण शैली भी कहते हैं। चरित्रों की स्थापना में भी इस शैली का तनिक और बढ़-चढ़कर उपयोग किया गया है। ... चरित्रांकन में यह अति हस्तक्षेप उपन्यास में इतना अधिक है कि चरित्रों की बुनावट के रेशे धुँधले पड़ गये हैं। कथानक के घटनात्मक विकास की जगह स्केच और रिपोर्ताज के शार्टकट के सहारे यह उपन्यास आगे बढ़ता है।"[66]

निष्कर्ष

आदिवासी साहित्य वनसंस्कृति से संबंधित उन वंचितों का इतिहास है जिनके प्रश्नों के उत्तर अतीत में कभी दिया ही नहीं गया। इस साहित्य में अभिव्यक्त विद्रोह आदिवासों के अस्मिता व भारतीय आदिवासी समुदाय के मानसिकता में आये व्यापक दबलाव को भी रेखांकित करती है। वस्तुतः आदिम जीवन-शैली, आदिम-सोच, आदिम सरलता, आदिम स्वाभाविकता, आदिम गरिमा, आदिम सामूहिकता, श्रम की महिमा, प्रकृति प्रेम, बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध प्रतिरोध आदि की सहज अभिव्यक्ति की बात आदिवासी साहित्य करता है। इस साहित्य में जड़ता नहीं वरन् गत्यात्मकता होती है, भद्र-साहित्य के जड़ व कठोर प्रतिमानों से बिल्कुल भिन्न दशा का बोध कराती है। आदिवासी साहित्य एक विशेष प्रकार का लोक साहित्य है जिसके केंद्र में सामूहिक जीवन-अनुभव प्रतिबिंबित होते हैं। प्राथमिक रूप में आदिवासी साहित्य पहचान के सवाल से जुड़ा है, अतः केवल आदिवासी ही सच्चा आदिवासी साहित्य लिख सकता है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है। किंतु आदिवासी साहित्य लेखन के अंतर्गत गैर-आदिवासियों को भी शामिल करने की पहल कतिपय आदिवासी चिंतकों व लेखकों की जमात में से करते हैं।

* * *

[66] राजेंद्र यादव (सं.), विद्याभूषण, 'झारखंड और हिंदी उपन्यास', हंस, अगस्त 1999-पृ.63

तृतीय अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री: आत्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ

3.1 आत्मिक संदर्भ

3.1.1 युवागृह के भीतर विकसित विवाह-पूर्व प्रेम संबंध

3.1.2 युवागृह से बाहर विकसित विवाह-पूर्व प्रेम संबंध

3.2 पारिवारिक संदर्भ

3.2.1 बालिका की स्थिति

3.2.2 दाम्पत्य संबंध में पत्नी की स्थिति व भूमिका

3.2.3 माँ की भूमिका

3.3 सामाजिक संदर्भ

3.3.1 स्वास्थ्य

3.3.2 शिक्षा व साक्षरता

3.3.3 विवाह

3.3.4 स्त्री की विविध स्थिति

3.3.5 सामाजिक सक्रियता

3.3.6 स्त्री शोषण के विविध कारक

3.3.6.1 बाह्य या विदेशी कारक

3.3.6.2 आंतरिक या देशी कारक

3.3.7 वैश्वीकरण

3.3.7 विस्थापन

तृतीय अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री:आत्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ

आत्म, परिवार एवं समाज की प्रकृति

आत्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ एक दूसरे से संबंधित हैं। 'आत्मिक' शब्द को आत्म के द्वारा विश्लेषित किया जा सकता है। आत्म के माध्यम से व्यक्ति, परिवार एवं समाज से जुड़ पाने में समर्थ हो पाता है। 'आत्म' स्वयं के बोध अर्थात् अपने अस्तित्व से परिचित कराता है। किसी व्यक्ति के अनुभवों एवं चेतनता की अभिव्यक्ति 'आत्म' द्वारा ही मिलती है। इस रूप में कहीं-न-कहीं यह व्यक्ति की सार्थकता के प्रश्न से प्रत्यक्षतः जुड़ जाता है।

आत्म के द्वारा व्यक्ति परिवार व समाज से कालांतर में जुड़ता है। परंपरागत दृष्टि से भारतीय समाज की सबसे छोटी संरचनात्मक इकाई परिवार है। किंतु नई प्रजातांत्रिक व्यवस्था में अब समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार न होकर व्यक्ति है। प्रत्येक समाज में, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक पूर्व का हो या पश्चिम का, परिवार पाया जाता है। व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से परिवार एक मौलिक संस्था रही है। जन्म लेते ही बालक परिवार का सदस्य बन जाता है। परिवार ही मुख्यतः उसका समाजीकरण करता है, उसे मानव बनाता है और समाज को समर्पित कर देता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक साधारणतः व्यक्ति परिवार का सदस्य बना रहता है। मेकाइवर और पेज ने परिवार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि-"सभी प्राथमिक समूहों में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, परिवार सबसे महत्वपूर्ण है। परिवार समाज को कई रूपों में प्रभावित करता है। पारिवारिक परिवर्तन संपूर्ण सामाजिक संगठन में प्रतिध्वनित हो उठते हैं। मानव समाज में

असंख्य रूपों में अवतरित होने तथा परिवर्तनों के मध्य अपनी निरंतरता और स्थायित्व बनाये रखने की इसमें अपूर्व क्षमता है।"[1] इस प्रकार परिवार मानव जीवन के विकास के स्तर पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। इस दृष्टि से परिवार एक सार्वभौमिक संस्था रही है। मानव समाज के बीच हो रहे परिवर्तनों के बीच भी परिवार अपनी निरंतरता एवं स्थायित्व बनाये रखती है।

परिवार को परिभाषित करते हुए बर्गीस और लॉक ने लिखा है-" एक परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के संबंधों में एक-दूसरे से बंधे रहते हैं, जो एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं, जो पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री और भाई-बहिन की निजी सामाजिक भूमिका में, एक-दूसरे के साथ अंतःक्रिया और अंतःसंचार करते रहते हैं और जो एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं तथा उसे बनाए रखते हैं।"[2] परिवार की यह परिभाषा काफी व्यापक स्वरूप को इंगित करती है। मरडाक ने परिवार को परिभाषित करते हुए लिखा है- "परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और प्रजनन, विशेषताओं के रूप में पाए जाते हैं। इसमें दोनों लिंगों के वयस्क सम्मिलित होते हैं जिनमें कम से कम दो में सामाजिक दृष्टि से स्वीकार यौन-संबंध होता है और यौन-संबंधों में बँधे इन वयस्कों के स्वयं के अथवा गोद लिए हुए एक या अधिक बच्चे होते हैं।"[3] इन परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि परिवार के अर्थ के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। फिर भी इतना कहा जा सकता है परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसे सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग एवं प्रजनन के आधार पर अन्य समूहों से अलग किया जा सकता है। परिवार के सदस्यों में सामान्यतः दो विषम लिंगी व्यक्तियों में यौन-संबंध पाये जाते हैं और इनके स्वयं के अथवा गोद लिए हुए बच्चों के पालन-पोषण की निश्चित और स्थायी व्यवस्था

[1] Maclver, R.M & Page, C.H., Society-p.240
[2] Burgess, E.M & Locke, H.J., The Family-p.8
[3] Murdock, Social structure-p.1

होती है। पारिवारिक समूह में पति-पत्नी और स्वयं के बच्चों के अतिरिक्त एक या दो सदस्य और भी हो सकते हैं जो निकट रक्त-संबंधी या गोद लिए हुए होते हैं।

सामाजिक संगठन किसी भी समूह अथवा समाज की अनिवार्य आवश्यकता है। समाज के स्थायित्व एवं उसके विकास की प्रक्रिया के संचालन हेतु सामाजिक संगठन की आवश्यकता होती है, जिसकी महत्वपूर्ण इकाई परिवार है। मानव समाज में परिवार के निर्माण के लिए विवाह संस्था का होना अनिवार्य है। जनजातीय समूहों में विवाह के विभिन्न प्रकारों की मान्यता के प्रचलन के परिणामस्वरूप परिवार की संरचना और प्रणाली भी प्रभावित होती है। जनजातीय समाजों में मातृवंशी और बहुपतिक समाज भी पाये जाते हैं। इसलिए अध्ययन की पूर्णता हेतु इनका वर्णन भी किया गया है।

परिवार विवाह के आधार पर निर्मित होते हैं और विवाह दो अलग-अलग समूहों या दो भिन्न परिवारों को एक दूसरे से नातेदारी संबंधों से जोड़ते हैं। इसलिए विवाह और परिवार के साथ-साथ नातेदारी-प्रणाली का उल्लेख भी जनजातीय संदर्भ में किया जा रहा है।

3.1 आत्मिक संदर्भ

आदिवासी स्त्री के विवाह-पूर्व प्रेम संबंधों को आत्मगत संदर्भों के अंतर्गत रखा गया है। हिंदी आदिवासी साहित्य में यह प्रेम दो तरह से विकसित हुआ है-(1) घोटुल के भीतर विकसित विवाह-पूर्व प्रेम संबंध तथा (2) युवागृह से बाहर विकसित विवाह-पूर्व प्रेम संबंध।

3.1.1 युवागृह के भीतर विकसित विवाह-पूर्व प्रेम संबंध

अनेक आदिवासी समूहों में युवक व युवतियों की युवागृह में रहने की परंपरा रही है। बचपन से नियमित युवागृह में जाना उनके जीवन का हिस्सा रहा है। यहाँ रहते हुए परस्पर एक दूसरे को जानने के क्रम में नेह धीरे-धीरे विकसित होता जाता है। युवागृह के नियमानुसार युवक व युवतियों को अपने-अपने प्रेमी के साथ सोना पड़ता था। कहीं-कहीं अलग रहने का भी रिवाज़ था। दिन भर के श्रम से मुक्ति पाने

हेतु युवागृह का स्वच्छंद जीवन सर्वथा उपयुक्त था। एक दूसरे से परस्पर दुःख सुख की बात करते हुए वे अक्सर सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भी भाग लिया करते थे। नृत्य-गायन के अवसर पर नेह और भी विस्तार पाता था-"न जाने कितने युवकों से नाच और गाने में वह होड़ लगा चुकी थी और कितने ही युवकों की प्रेम-भरी नज़रें उस पर सीधी थीं, पर वह जिसे चाहती थी वह था-सीतल। तीन-चार साल सीतल के साथ उसने हँसी-खुशी में बिताये थे। ... लहकी उसे खूब आते थे और करमा के पैंतरे में अपनी देह केंचुए की तरह सिकोड़ता था। वह अपने नाच के लिए दूर-दूर प्रसिद्ध था।"[4]

सिर्फ स्त्रियाँ ही नहीं वरन् पुरुष भी समान रूप से नृत्य व गायन कला में पारंगत होते हैं। 'विभाजन' कहानी में गोंड आदिवासी स्त्री का लगाव अपने प्रेमी समर के नृत्य व गायन में निपुणता के कारण होती है।

युवागृह जाते समय युवतियाँ श्रृंगार करती हैं ताकि प्रेमी आकर्षित हो सके। यही नहीं सभी युवक व युवतियाँ अपने-अपने प्रेमी के उपहार (प्रेम-चिह्न) भी धारण किए रहते हैं जिसका उल्लेख 'सिरदार' कहानी में मिलता है। मोटियारी (घोटुल का स्त्री सदस्य) अपने चेलिक (युवागृह का पुरुष सदस्य) के प्रेम के प्रतीक स्वरूप बालों में 'पड़िया' (बालों में खोंसने की कंघी) धारण की रहती हैं जबकि चेलिक अपनी मोटियारी के दिए हुए गले में रंग-बिरंगी मालाओं को। घोटुल के प्रेमी एक सच्चे साथी के रूप में रहते हैं।

अक्सर यह मान लिया जाता है कि युवागृह की संस्कृति में आदिवासी युवक व युवती को पूर्ण स्वच्छंदता रहती है, किंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। घोटुल में विकसित प्रेम महज वहीं तक सीमित रहता है। आदिवासी समाज व परंपरागत नियम इस प्रेम को ज्यादा तरजीह नहीं देता क्योंकि युवती को अपने चुने गए प्रेमी के इतर विवाह करना पड़ता है। वर्षों से साहचर्य में विकसित प्रेम को भुला देना संभव नहीं होता। आए दिन प्रेम की पुरानी स्मृतियाँ तकलीफ देती हैं जिसे समाज नहीं देख पाता। पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री की इच्छाओं के लिए कोई 'स्पेस' नहीं रहता,

---

[4] विभाजन (महुआ आम के जंगल-कहानी संग्रह)-पृ.74-75

वह स्त्री को शरीर के धरातल पर परखता है। प्रेम में छली गयी युवती का जीवन किन त्रासद् स्थितियों से गुजरता है इसका विस्तृत जिक्र 'तीर का तिनका' कहानी में मिलता है-

"बीते दिन याद आ जाते हैं बुधिया। सोलह बरस पहले तेरी तरह मेरा भी एक साइगुती (साथी) था। खूब खेली उसके साथ, पर छली गयी। यहाँ कोई हमें हँसता नहीं देख सकता। हम सब मक्खी की तरह हैं। कब कौन पीसकर मिटा दे, क्या पता? जो मुझ पर बीती है, तुझ पर बीते, बुधिया। लोग सोचते होंगे कि मैं अपने नये घर में आकर ऐसी समा गयी, जैसे कभी कुछ हुआ ही नहीं। पर दिन-रात, हर घड़ी उस भूली हुई दस बरस की जिंदगी के हर छन आँखों के सामने छन-छनाकर आते हैं। उन्हें नहीं भूल पाती। दस बरस की लंबी कहानी कोई कैसे भूले। भुलाने के लिए दस जनम चाहिए। इन यादों को न कोई देख सकता है और न कोई पहचान सकता है। जहाँ के नाते जिस्म से जुड़े हैं, वहाँ अंदर की बात पहचानेगा भी कौन- कैसे? वही देखे-जाने जिसके पास दो आँखें हों और मरद जात के पास वे हैं नहीं। हमारी कोई बिसात हो तो भी ठीक। हम औरत हैं न-नदी के तीर का तिनका।"[5]

उपर्युक्त उद्धरण दो पीढ़ी के स्त्री के बीच सार्थक संवाद है। माँ अपनी बेटी को घोटुल में नेह संबंध विकसित न कर साधारण रूप में रहने की सीख देती है। वह नहीं चाहती कि उसकी बेटी भी पुराने दिनों को याद कर अपने आने वाले जीवन को दुःखद बनाये। अनुभव किस तरह व्यक्ति को परिपक्व बनाता है यह स्त्री जीवन के संकटों से सीखती है।

सिर्फ सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अंतर्गत नाच-गाना ही नहीं बल्कि 'फागुसेंदरा' (आखेट) के वक्त भी युवक-युवती का प्रेम विस्तार पाता है जिसका जिक्र 'भाई-बहन का ब्याह' कहानी के अंतर्गत घोटुल के सदस्य दलसिंह व दुलारी के प्रेम के माध्यम से हुआ है।

---

[5] महुआ आम, तीर का तिनका-पृ.

3.1.2 युवागृह के बाहर विकसित विवाह-पूर्व प्रेम संबंध

युवागृह के बाहर विकसित प्रेम संबंध का चित्रण अधिकांशतः हिंदी आदिवासी साहित्य में हुआ है। प्यार एक अजीबोगरीब अनुभूति है जिसे कोई भी पहचान नहीं पाता। प्यार में होने पर कभी आदमी बिल्कुल स्वच्छंद कल्पना की दुनिया में भ्रमण करता है तो कभी चाहकर भी बाहरी दबावों के कारण ऐसा नहीं कर पाता। प्रेम की इसी विचित्र अनुभूति का जिक्र 'एक प्यास पहेली' कहानी में हुआ है। युवती का मन कभी-कभी अपने हमउम्र साथी के प्रति लगाव नहीं महसूस कर पाता। यही कारण है कि इस कहानी की नायिका चंद्रिका अपने से दुगुने उम्र के विधुर पुरुष पन्ना को जीवन साथी बनाना पसंद करती है।

गोंड समाज में प्रेम प्रकट करने का एक विशिष्ट तरीका होता है। अक्सर सांस्कृतिक कार्यक्रमों विशेषकर नृत्य के दौरान यदि युवक नाच रही युवती की एड़ियों को दबा दे तो माना जाता है कि वह अपना प्रेम प्रकट कर रहा है किंतु इसमें युवती की सहमति अनिवार्य होती है। इस तरह के प्रेम की अभिव्यक्ति 'भाई-बहन का ब्याह', 'जलता सूरज' तथा 'ऊसर खेत' कहानी में देखने को मिलती है। परजात से नेह संबंध आदिवासी स्त्री के लिए संकट का कारण बन जाता है। एक समुदाय के बाहर प्रेम करने की छूट आदिवासी समाज में नहीं है। 'चाँद के पीछेःचाँदनी के नीचे' कहानी में झिरिया द्वारा पंजाबी युवक के प्रति बेपनाह प्यार के बावजूद समाज अपनी परंपरागत रूढ़ियों के कारण इसे मान्यता नहीं देता है। परजात में विवाह को गोंड अशुभ व आनेवाली विपत्तियों का कारण मानता है। गाँववाले झरिया की इस कारण काफी पिटाई करते हैं और उसे एक ऐसे लड़के के साथ कर दिया जाता है जिसे वह बिल्कुल नहीं चाहती। कालांतर में यही उसके मौत का कारण भी बनता है। मरने के बाद झरिया की अतृप्त आत्मा को समाज उसे 'चुड़ैल' की नकारात्मक संज्ञा तक दे डालता है। मरने के बाद भी समाज स्त्री के प्रति हमदर्दी नहीं कायम कर पाता, यह विचित्र स्थिति है।

युवती की इच्छा की कोई कीमत समाज की नज़र में नहीं है। 'हिरौंदा' कहानी इसका ठोस प्रमाण है। यही कारण है कि जब हिरौंदा और जरपू की प्रेम-कहानी गाँव में चर्चा का विषय बनती है तो समाज के पहरेदार सजग हो उठते हैं। हिरौंदा का बाप भी परंपरागत रूढ़ियों का पोषक है जिसमें समाज के नियमों को तोड़ने की ताकत नहीं है। अपनी बेटी के प्रेम को वह बहकावा एवं ऊपरी दिखावा के तौर पर मानता है। परंपरागत सोच की गुलामी में पली-बढ़ी उसकी सखियाँ भी हिरौंदा द्वारा बुजुर्गों की बात न मानने पर निंदा करती है। तमाम विपरीत स्थितियों को झेलते हुए हिरौंदा व जरपू के प्रेम में उस समय व्यवधान उत्पन्न होता है, जब प्रेम-प्रसंग की घटना को लेकर गाँव में घटी हिंसा के दौरान जरपू कत्ल के इल्जाम में जेल चला जाता है। इसके बाद समाज के ठेकेदार हिरौंदा को जबरदस्ती दूसरे के गले बाँध देते हैं।

जहाँ 'हिरौंदा' कहानी की नायिका के तमाम कोशिशों के बावजूद उसका प्रेम सामाजिक दबावों में असफल हो जाता है वही 'जड़ बंधन' की नायिका फुलवा अपने प्रेम को पाने में सफल रहती है। फुलवा, पदम के साथ प्यार करती है। किंतु समाज को पदम के माता-पिता व जाति का पता नहीं है। जाति जाने बगैर समाज प्रेम की अनुमति नहीं दे सकता। यह समझते हुए फुलवा के पिता ननकू अपनी बेटी को अपनी जाति के ही गनपत से संबंध जोड़ने की सलाह देते हैं। किंतु फुलवा पिता के हिंसक कार्रवाई व पंचायत द्वारा गाँव से बेदखल किए जाने पर भी अपने प्रेमी के बगैर समझौता नहीं करती। यह युवती प्रेम में इस कारण से सफल हो जाती है कि एक तो उसकी दृढ़-इच्छाशक्ति दूसरे प्रेमी पद्म के पिता का सरपंच होना। युवक-युवती के प्रेम भरे जीवन में अंधेरा परोसनेवाली महत्वपूर्ण शक्ति पंचायत की हृदयहीनता व पुरानी पीढ़ी के रूढ़िग्रस्तता का अहम योगदान रहा है-"अपनी झूठी मान्यताओं की रक्षा करने के लिए हम समाज के उन अंकुरों को नहीं कुचल सकते जिन पर उसका भविष्य खड़ा है।"[6]

---

[6] जड़ बंधन (महुआ आम के जंगल)-पृ.105-106

प्यार सभ्य समाज की नज़र में खिलवाड़ है। 'जलता सूरज' कहानी का पात्र विलियम पैसे व छल का सहारा लेकर गोंड युवती बंजारी का प्यार हासिल करना चाहता है। प्यार पाने के लिए विलियम रिश्तों को भी दरकिनार करने से बाज नहीं आता है। सरल व निष्पक्ष हृदय की बंजारी को चिकनी-चुपड़ी बातों व पैसे का लोभ देकर विलियम उसके प्रेमी कंगाला से दूर कर देता है-"जब वह रुपयों को देखती है तो उसकी आँखें भर आती हैं। इन्हीं रुपयों ने उसे यहाँ लाकर खड़ा किया। इन्हीं रुपयों ने उससे उसके प्यारे कंगला को छीना था। उस कंगला को, जो नाम से भले ही कंगला हो, दिल का कंगाल नहीं था।"[7]

दरअसल बंजारी भावनाओं में बहकर आनेवाले पूर्व प्रेमी कंगला को छोड़ देती है। उसे प्रेम की कीमत तब समझ में आती है जब विलियम बंजारी को बहन बनाकर उसके साथ छल करके दैहिक संबंध स्थापित करने के बाद अपनाने से मुकर जाता है।

'जलता सूरज' में जहाँ पैसे के लोभ द्वारा युवती के प्यार को छला जाता है वहीं 'भाई-बहन का ब्याह' कहानी में भी गरीब युवती के प्यार को तुच्छ व हीन समझा जाता है। इस हीनता के पीछे युवती की आर्थिक बदहाली को सभ्य समाज मानता है। सभ्य समाज के ठेकेदार एक ओर गोंड युवती के प्रति अपने प्यार का स्वाँग करते हैं वहीं दूसरी ओर जब अपनाने का वक्त आता है तो उसकी इज्जत की चिंदयाँ उड़ाने से बाज नहीं आते-"... जेठिया रंग-रूप में खूबसूरत है तो क्या, है तो एक गरीब गोंड की लड़की, जो चाँदी के चंद टुकड़ों के सामने अपनी इज्जत हर कहीं लुटा सकती है। वह एक ऐसे नाले से कम नहीं है जो हर ढाल पर अपनी लगाम ढीली कर सकता है, भला उसकी भी कोई मर्यादा है।"[8] दरअसल उच्च वर्ग के लोग प्यार के एहसास को नहीं समझ पाते क्योंकि उन्हें लगता है पैसे के बल पर किसी का भी प्यार हासिल किया जा सकता है। प्यार उनकी दृष्टि में छल है क्योंकि उन्हें एक जगह टिकने को बाध्य करता है। युवती की सुंदरता उन्हें काँटा लगता है-"जैसे

[7] जलता सूरज (महुआ आम के जंगल)-पृ.124

[8] भाई-बहिन का ब्याह (महुआ आम के जंगल)-पृ.28

आज जेठिया की खूबसूरती ने मुझे छल लिया, क्या पता यही दादा पर बीती हो। आखिर औरत एक जादू है, न जाने कब किसे कहाँ उलझा ले। औरत एक काँटा है, जो उसे छुए उसी को वह चुभ जाय।"[9]

इसमें उच्च वर्ग के सामंती मानसिकता वाले पुरुष का स्त्री के प्रति दैहिक दृष्टिकोण का साफ पता चलता है। देह के इतर स्त्री को समझने की योग्यता उसमें है ही नहीं। अतः वह औरत को जादू व काँटा की संज्ञा दे डालता है।

3.2 पारिवारिक संदर्भ

दुनिया के प्रत्येक समाज में परिवार एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था रही है। प्रत्येक मनुष्य परिवार से जुड़ा है। मनुष्य का जन्म व विकास परिवार से ही प्रारंभ होता है। परिवार के बिना समाज का अस्तित्व संभव नहीं है। समाज का प्रत्येक सदस्य परिवार में जन्म लेता है। परिवार के सदस्यों के बीच उसका पालन-पोषण होता है। परिवार में रहते हुए अनेक प्रकार की शिक्षाओं को ग्रहण करते हुए कालांतर में स्वयं परिवार निर्माण कर उन्हीं कार्यों को पूर्णता की ओर उन्मुख करता है। परिवार संस्कृति का संरक्षक होने के साथ बच्चे की प्राथमिक पाठशाला भी है। परिवार की परिभाषा देते हुए मेकाइवर और पेज ने लिखा है-"परिवार एक समूह है जो यौन संबंधों द्वारा परिभाषित होता है और जिसका उद्देश्य बच्चों का प्रजनन एवं लालन-पालन द्वारा इनका विकास करना है।"[10]

उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि परिवार में एक पुरुष और एक या अनेक स्त्रियों या एक स्त्री तथा अनेक पुरुषों के मध्य यौन संबंधों द्वारा बच्चों के प्रजनन और संरक्षण के साथ सामाजिक दायित्वों के निर्वाह के लिए उत्तरदायी है।

आकार के आधार पर परिवार का वर्गीकरण

(i) केंद्रक परिवार :- इस प्रकार के परिवार में एक विवाहित दंपति (माता-पिता) तथा उनके अविवाहित संतान होते हैं। यथा-'हो' परिवार केंद्रक

---

[9] भाई-बहिन का ब्याह (महुआ आम के जंगल)-पृ.30

[10] डॉ.श्रीनाथ शर्मा, जनजातीय समाजशास्त्र-पृ.39

परिवार को मूल परिवार, सीमित परिवार, नाभिक परिवार तथा एकाकी परिवार के नाम से भी जाना जाता है। अधिकांशतः ये परिवार नगरीय समाजों में पाये जाते हैं किंतु धीरे-धीरे ग्रामीण समाजों में भी केंद्रक परिवार बढ़ रहे हैं। संयुक्त परिवार के विघटन के परिणामस्वरूप केंद्र परिवार का जन्म हुआ।

(ii) संयुक्त परिवार :- इस प्रकार के परिवार में कई पीढ़ियों के सदस्य परंपरा संबद्ध होते हैं। संयुक्त परिवार हिंदू परिवार व्यवस्था का सर्वाधिक प्रचलित रूप है। अधिकतर आदिवासियों में भी संयुक्त परिवार प्रणाली पायी जाती है। इरावती कर्वे ने संयुक्त परिवार की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है-"संयुक्त परिवार व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो एक छत के नीचे निवास करता है, जो एक स्थान पर बनाये गये भोजन को ग्रहण करता है तथा सामान्य संपत्ति का स्वामी होता है। इसके सदस्य सामान्य रूप से एक ही इष्ट के उपासक होते हैं तथा ये आपस में एक दूसरे के कुटुंबी होते हैं।"[11]

इस प्रकार संयुक्त परिवार को विस्तृत परिवार (आकार बृहद होने के कारण) भी कहा जा सकता है। संयुक्त परिवार ही परिवार का वास्तविक रूप है जिससे आधुनिक युग में केंद्रक परिवार का निर्माण हुआ है।

पारिवारिक सत्ता, वंश एवं निवास के आधार पर भारत के आदिवासियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- (i) मातृवंशीय अथवा मातृसत्तात्मक परिवार, (ii) पितृवंशीय अथवा पितृसत्तात्मक परिवार।

मातृवंशीय अथवा मातृसत्तात्मक परिवारः

संपूर्ण विश्व के परिवारों में पितृ प्रमुखता के बाद आज भी ऐसे अनेक समुदाय हैं जिनमें मातृवंशी व्यवस्था निरंतर चली आ रही है। भारत के भी अधिकांश आदिवासियों में पितृसत्तात्मक परिवार के प्रचलन होने के बावजूद कुछ

[11] डॉ.श्रीनाथ शर्मा, जनजातीय समाजशास्त्र-पृ.43

आदिवासी मातृसत्तात्मक, मातृवंशी तथा बहुपतिक है। इस व्यवस्था के अंतर्गत परिवार में सर्वोच्च स्थान स्त्री को प्राप्त होता है। परिवार सत्ता माता के हाथ में केंद्रित होने के साथ-साथ संपत्ति का हस्तांतरण भी माता से पुत्री को होता है। परिवार के बच्चे अपनी माता के कुल अथवा वंश के नाम से जाने जाते हैं, इसीलिए ऐसे परिवार को मातृवंशिक परिवार कहा जाता है। ऐसे परिवार की विशिष्टता इस प्रणाली में है कि विवाहोपरांत पति अपनी पत्नी के घर पर रहता है और यही आगे जाकर भावी परिवार का निवास स्थान बनता है, इसलिए इस परिवार को मातृस्थानिक परिवार कहा जाता है। बच्चों की देख-रेख से लेकर परिवार के सभी महत्वपूर्ण कार्यों में पिता से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका व अधिकार माता की मानी जाती है। ऐसे परिवारों में स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता होती है, जैसे विवाह के अवसर पर लड़की की पसंद का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। मातृधार्मिक कार्यों में भी स्त्रियाँ पुरुषों से आगे रहती हैं। विश्व के प्रत्येक समाज में इसको अपदस्थ करते हुए पितृ प्रधान परिवारों का उदय हुआ। खासी व गारो आदिवासी मातृसत्तात्मक, मातृवंशी एवं मातृ स्थानिक आदिवासी हैं। मातृसत्तात्मक के कुछ तत्व थारु, संथाल, गौंड तथा भील के बीच भी पाए जाते हैं।

<u>पितृवंशीय अथवा पितृसत्तात्मक परिवार</u>

इस व्यवस्था के अंतर्गत परिवार में सर्वोच्च स्थान पुरुष (पति अथवा पिता) को प्राप्त होता है। बच्चे पिता के कुल अथवा वंश के नाम को ग्रहण करते हैं। पारिवारिक संपत्ति पर भी पूर्ण रूप से अधिकार पुरुष का होता है। विवाह के बाद लड़की अपने माता-पिता के घर पर न रह कर अपने पति के घर जाकर रहती है। पुरुष ही परिवार में अक्सर मुखिया होता है और किसी विषय पर उसकी निर्णय परिवार के अन्य सदस्यों के लिए मान्य होता है। अधिकांश भारत के आदिवासी परिवार पितृ-प्रधान एवं पितृवंशीय है। खड़िया, भील, अंगामी नागी आदि पितृवंशीय आदिवासी हैं। भारत के कई आदिवासियों में पैतृक एवं पितृवंशिक परिवार होते हुए भी अधिक मामलों में स्त्रियों को प्रमुख स्थान प्राप्त है। यथा-उत्तर

प्रदेश की तराई में रहनेवाली थारु आदिवासियों की स्त्रियाँ परिवार की आर्थिक स्थिति को सुधारने में पुरुषों से पीछे नहीं रहती हैं।

3.2.1 बालिका की स्थिति

परिवार निर्माण में बच्चे भी निर्णायक भूमिका निभाते हैं। आरंभ में परिवार के बीच रहकर अपने अस्तित्व का निर्माण करते हैं बाद में खुद परिवार बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। बचपन जीवन की वह आरंभिक दशा है जिसमें बच्चे दुनिया को जानना शुरू करते हैं। इस उम्र में बाल-चपलता एवं बाल सुलभ कौतुक क्रियाएँ अहम हिस्सा होती हैं। ‘महुआ आम के जंगल’ कहानी-संग्रह के ‘जड़ बंधन’ कहानी में बाल सुलभ क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। इस कहानी में बालिका फुलवा के आरंभिक जीवन का चित्र है जिसमें वह अपने हमउम्र पद्‌मसिंह के साथ खेलती एवं तरह-तरह के कपोल कल्पनाएँ रचने में मग्न है। बालिका कभी तितली पकड़कर अपने दोस्त को देती है तो कभी चिड़िया व तितली के विवाह संपन्न करने में मग्न रहती है-"हम इन दोनों का ब्याह रचायेंगे। तुम्हारी चिड़िया दुल्हन बनेगी ओर यह तितली दूल्हा।"[12]

3.2.2 दाम्पत्य संबंध में पत्नी की स्थिति व भूमिका

परिवार के भीतर दाम्पत्य संबंध को प्रगाढ़ करने में पति व पत्नी की विशेष भूमिका रहती है। दाम्पत्य संबंध में पत्नी की स्थिति व भूमिका का विश्लेषण हिंदी आदिवासी साहित्य के अंतर्गत किया जाएगा। आदिवासी कथाकार भी स्त्रियों के प्रति संवेदनशील हैं, इस दृष्टि से शंकरलाल मीणा की कहानी ‘कहानी के बाहर की औरत’ व हजारी लाल मीणा की लघु कथा ‘कौशल्या’ महत्वपूर्ण है। ‘कहानी के बाहर की औरत’ कहानी में उस विकसित आदिवासी पुरुष मानसिकता का पर्दाफाश किया गया है जो कहानी की औरत का सपना पालता है और घर की औरत के प्रति दोयम दर्ज़े का व्यवहार अपनाता है। वह अपनी पत्नी की उपेक्षा नहीं करता वरन् फूहड़ मानकर अजायबघर की चीज़ समझता है। परंपरागत परिवार में शिक्षा-दीक्षा

---

[12] जड़ बंधन-पृ.98

से महरूम स्त्री, विवाह करके किसी भी तरह निपटा दिया जाता है। किंतु हद तो तब हो जाती है जब स्त्री का पति विवाह के छह-सात वर्षों तक अपनी पत्नी के प्रति खास चिंता जाहिर नहीं करता। अपने कैरियर, नौकरी, दैहिक भोग के अलावा पति अपने ही दुनिया में लीन रहता हुआ न तो पत्नी के प्रति कोई दायित्व-बोध महसूस करता है न ही बच्चों के प्रति। पति द्वारा अपने तरफ से कोई भी जिम्मेदारी वहन न करने के बावजूद उल्टे ही असहाय स्थिति में रह रही अपनी पत्नी को दोषी ठहराता है तो पत्नी का यह सवाल तर्कसंगत जान पड़ता है-"सच-सच बताओ इन छह-सात बरसों में क्या आपने मेरे बारे में सोचा? मेरे लिए कुछ किया? मुझे कुछ दिया-चार बच्चों के अलावा? इस अरसे में आप लगातार तो मुझे साथ रख नहीं सकते थे। मैं कभी अपने पीहर में रहती तो कभी आपके घर। ... तीन-चार सौ रुपयों में अपना काम चलाती थी। मंडी से सस्ती सब्जी ढूँढ़ कर लाती थी, एक बार बनाती थी और गर्म कर-करके तीन बार खाती थी। आधा लीटर दूध में अपने लिए दो बार चाय भी बनाती थी और बच्चों को भी पिलाती थी। कई बार तो दूध में इतना पानी डालती थी कि बच्चे को पिलाते हुए शर्म भी आती थी और रोना भी।"[13]

इन तमाम विपरीत स्थितियों से संघर्ष करते हुए कभी भी पति को दोष न देने के बावजूद पति की उपेक्षा व हीनता आश्चर्यजनक है। इतना ही नहीं अपनी पत्नी में विश्वाास की कमी, स्थायी रूप से बीमार, परिवेश के रंग-ढंग में मिसफिट होने का ताना देना पति के हिंसक (शारीरिक व मानसिक) मनोवृत्ति को ही उजागर करता है। एक पत्नी के रूप में घरेलू सारे कार्यों को कुशलता पूर्वक देखरेख करते हुए सभी की चिंता करना भी पति की दृष्टि में फालतू की श्रेणी में आता है।

'कौशल्या' लघु कथा में भी पढ़े-लिखे आदिवासी युवक द्वारा अपनी पत्नी के परंपरागत रूप से घरेलू होने पर उपेक्षा भाव अपनाया जाता है। सुंदर व कार्य में निपुण होने पर भी उसे पत्नी के रूप में यथेष्ट सम्मान नहीं मिलता। किंतु नहनू जब अपने वरिष्ठ अधिकारी सुंडाराम जी द्वारा अपनी पत्नी को सहज राजस्थानी वेशभूषा में रखकर पर्याप्त स्नेह करते हुए देखता है तो उसका हृदय परिवर्तन हो जाता है।

[13] कहानी के बाहरी की औरत (आदिवासी स्वर और नई शताब्दी)-पृ.172

इस तरह से 'कौशल्या' कहानी में पत्नी के प्रति उपेक्षा भाव को तिरोहित होते दिखाया गया है जबकि 'कहानी के बाहर की औरत' में ऐसा कुछ भी नहीं होता।

'ऊसर खेत' कहानी में एक पत्नी का अपने पति के प्रति अगाध समर्पण भाव दिखाया गया है। मुंदरी पति के रूप में एक लमसेना युवक पिन्ना का चुनाव करती है। आरंभ में एक-दूसरे को खूब प्यार करते हैं, लेकिन समय बीतने के साथ जब मूँगा मातृत्व सुख हासिल नहीं कर पाती तो उसके पति का दृष्टिकोण बदल जाता है। पिन्ना आये दिन मुंदरी को सौत लाने की धमकी देने लगा। दरअसल इस कहानी में पति के रूप में पुरुष मनमाना आचरण करते हुए दिखाई देता है जिसके कारण स्त्री को दुःख में भागीदार होना पड़ता है। तमाम उपेक्षा के बावजूद पत्नी की अवश नियति का संकेत इस कहानी में मिलता है-"सब कुछ होते हुए भी वह पिन्ना को जी जान से चाहती है। पिन्ना भी तो उसे भरपूर प्यार देता है। वह सोचती है कि यदि वह प्यार न करता होता तो न जाने कब का सौत ले लाता। मुंदरी को इसी समय अपने पति की वह बात याद आ गई-"छः माह की मुहलत देता हूँ। माँ बनने के लच्छन न दिखे तो सौत ले आऊँगा और तुझे उसकी दासी बनकर रहना होगा।"[14]

कई बार पुरुष अपनी कमी को न देखकर स्त्री की कमी को महत्वपूर्ण मान लेता है। जबकि सच यह है कि मातृत्वहीनता की वजह मुंदरी नहीं बल्कि उसका पति है। पति के कठोर व्यवहार के कारण पत्नी मातृत्व सुख हेतु दूसरे पुरुष से यौन संबंध कायम करने पर मजबूर होती है। यौन संबंध में पत्नी का अपराध करने की प्रवृत्ति कहीं-न-कहीं पुरुष (पति) के आचरण में निहित है।

स्त्री सिर्फ दैहिक संतुष्टि नहीं वरन् मानसिक सुरक्षा भी चाहती है। 'हिरौंदा' कहानी में जब हिरौंदा को जबरन दूसरे के साथ बाँध दिया जाता है तो वह मन मसोसकर रह जाती है। मानसिक स्तर पर अपने प्रेमी के अलावा किसी भी पुरुष पति से संतुष्ट नहीं हो पाती है। पुरुष का अपनी पत्नी के प्रति अक्सर दैहिक सुख की लालसा रहती है। दैहिक सुख के लिए पत्नी की इच्छा को ध्यान रखना पुरुष के सोच

---

[14] ऊसर खेत, महुआ आम के जंगल-पृ.38

से बाहर की बात है। आदिवासी समाज में स्त्री को बहुपति का अधिकार है। किंतु इस अधिकार के होते भी स्त्री खुश व संतुष्ट नज़र नहीं आती है। दाम्पत्य संबंध में पत्नी सब कुछ सह लेती है अभाव, दुःख, हिंसा, किंतु चरित्र के संबंध में लांछन वह बर्दास्त नहीं कर सकती। पत्नी के रूप में हर बार समर्पण करने के बावजूद हिरौंदा छली ही गई। पुरुष का अहं स्त्री को संपूर्ण रूप से पाने में बाधक होता है। संबंधों में ईमानदार होने पर भी पुरुष के छल का शिकार होना ही स्त्री जाति की नियति है-

"हिरौंदा की जिंदगी बहुत जुड़ी है लेकिन जरपू को छोड़कर जहाँ भी वह रही, तन से रही है, मन उसका कोई नहीं पा सका, शायद किसी ने पाने की कोशिश भी नहीं की। पर बार-बार तन के समर्पण की अदला-बदली से वह तंग आ गई थी, इसलिए इस बार सम्पत को उसने मन पर पत्थर रखकर चुना था। चाहे जो हो, वह उसे नहीं छोड़ेगी। कम-से-कम अपनी साँस रहते वह सम्पत के साथ दगा नहीं होने देगी, पर आज सम्पत ही उसे दगा दे गया था। अभी तक बराबर वह छली गई थी, सभी आदमियों ने उसे दगा दिया था, उसने खुद किसी के साथ छल नहीं किया।"[15]

'हिरौंदा' कहानी में जहाँ हिरौंदा एक पत्नी के रूप में कई पुरुषों से अलग-अलग समय में जुड़कर भी संतुष्ट नज़र नहीं आती है वहीं 'एक प्यास पहेली' कहानी में एक पति से कई स्त्री, पत्नी के रूप में अलग-अलग समय पर जुड़कर खुश नहीं रह पाती। दरअसल दाम्पत्य जीवन के भीतर पति अपनी पत्नी के इच्छा को पूरा कर पाने में असमर्थ होता है तब एक-एक करके स्त्री उसके जीवन से बाहर निकल जाती है। इतना ही नहीं पति की तीसरी पत्नी उसकी हत्या करने पर उतारू हो जाती है तो जाहिर है कि पति-पत्नी के संबंधों में काफी दूरी मौजूद है। 'हिरौंदा' कहानी में स्त्री की त्रासदी कहीं-न-कहीं 'एक प्यास पहेली' कहानी से भी जुड़ती है। पत्नी के रूप में स्त्री हर जगह प्रवंचना की शिकार है। पत्नी की असंतुष्टि दाम्पत्य संबंध में कभी-कभार पुत्र को ही अपना पति मानने पर विवश करती है जिसका संकेत 'एक प्यास पहेली' कहानी में मिलता है। पत्नी की चाहत केवल यही होती है

---

[15] हिरौंदा, महुआ आम के जंगल-पृ.59

कि पति उससे सुख-दुःख की बातें कर सके। किंतु पुरुष अपनी जिंदगी जीने में हमेशा स्त्री की आकांक्षा को दफन ही कर दिया करता है। पति का मशीनी जिंदगी, शिकार खेलने हेतु अफसरों के साथ ज्यादा वक्त बिताना ही पत्नी के जिंदगी को रिक्तता से भर देता है। स्त्री चाहती है कि उसका पति उसे समझे और उसे ढेर सारा प्यार करें। किंतु पुन्ना का बहादुर भरा जीवन भी चंदिया के जीवन में वसंत लाने में असमर्थ ही रहता है-

"चंदिया उसकी बहादुरी को जानती है। गाँव-भर उसके किस्से कहता है, पर वह फिर भी औरत है। वह औरत, जिसे केवल प्यार चाहिए। जो केवल प्यार की बातें सुनकर अपनी भूख-प्यास भुला सकती है। वह जिंदगी-भर प्यार के किस्से सुनती रहेगी, कभी ऊबेगी नहीं। उमर का बंधन उसे नहीं सतायेगा। पर आदमी, वह भला क्या करे? जानकर भी काश कर पाये! फिर पुन्ना, वह तो आदमी से ज्यादा मशीन है।"[16]

3.2.3 माँ की भूमिका

परिवार में सबसे अहम स्थान माँ का होता है। माँ ही बच्चे को जन्म देकर संतति निर्माण की प्रक्रिया को पीढ़ी-दर-पीढ़ी कायम रखती है। अपने संपूर्ण जीवन को परिवार की खातिर बलिदान करने के बावजूद इतिहास में माँ की भूमिका को लगातार नज़रअंदाज किया जाता रहा है। परिवार में माँ और बच्चे के बीच रागात्मक संबंध जग जाहिर है। रागात्मक संबंध के कारण माँ अपने बच्चे के प्रति अक्सर चिंतित रहा करती है। माँ और बेटे के बीच संबंध को सबसे पुख्ता ढंग से 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में जिक्र मिलता है। पति के मरने के बाद किस प्रकार एक माँ तमाम प्रतिकूलताओं से जूझती हुए अपने बेटे के भविष्य के निर्माण में लगातार जुटी रहती है यह मुण्डा आदिवासी स्त्री रंगेनी के चरित्र से सीखा जा सकता है-"अपने लिए तो काँस-फूल की झोपड़ी भी ठीक ही थी, पर जो नया जीव उसके घर में आनेवाला था, उसे झर-बरसात की सिगसिगी (नमी) से बचाकर रखना

[16] एक प्यास पहेली (महुआ आम के जंगल)-पृ.150

जरूरी थी। जाड़े में थोड़ा गरम घर चाहिए। नये जीव को तेल-पानी... सेक-माँड जरूरी है और इसके लिए जरूरी था मोटी दीवारों वाला बढ़िया छप्पर जो हवा-बरसात झेल सके। रात-बिरात चूने न लगे।"[17]

माँ का अपने बच्चे के प्रति स्नेह जन्म से ही रहता है। माँ आये हुए दुःख को स्वयं सहन करते हुए बच्चे पर किसी भी प्रकार का आँच आने देना नहीं चाहती है। मातृत्व भावना ही बच्चे के प्रति चिंता भाव को दर्ज़ करती है। अक्सर माना जाता है कि आदिवासी समाज में स्त्री को काफी स्वतंत्रता मिली हुई है। किंतु ऐसा मिथ तब टूटता है जब अधिकांशतः हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री अपने पति द्वारा पिटती हुई दिखती है। पितृसत्ता का बाहुल्य आदिवासी समाज में भी कायम है। स्त्री पिटकर भी अपने बच्चे पर किसी प्रकार का आँच न आने देना चाहती है-

"दुलारी अपने ऊपर होते अत्याचारों को तो सह लेती, पर जब दसरू उसकी भोली-भाली लड़की पर हाथ उठाता, उसे खाने न देता और कभी-कभी रात को घसीटकर घर के बाहर कर देता, तो उसका कलेजा मुँह को आ जाता था। उसके तन-बदन में दवाँर लग जाती और उसका मातृत्व चीख उठता। आखिर खून खून पर ही गिरता है। कितना भी हो वह पराये बाप की लड़की थी, दसरू को उसकी सुख-सुविधा की फिकर क्यों हो?"[18]

आदिवासियों का जीवन किसी-न-किसी रूप में जंगल पर निर्भर रहता है। रंगेनी न केवल अपने बेटे को जंगल के परिवेश से परिचित करवाती बल्कि जीने के हुनर भी सिखलाती है-"रंगेनी ने सोनारा को बाप बनकर भी पाला है और माँ बनकर भी पोसा है। जितना कुछ उसके पास था, वह जंगल के रहस्य सोनारा को देती रही है।"[19]

तथाकथित सभ्य समाज से आदिवासी इस मायने में अलग हैं कि स्त्री के पुनः विवाह के बाद उसके बच्चे को भी स्वीकार किया जाता है। सभ्य समाज की स्त्रियाँ

---

[17] पठार पर कोहरा-पृ.71

[18] भाई-बहिन का ब्याह-पृ.25

[19] पठार पर कोहरा-पृ.46

जहाँ सौत के बच्चे के प्रति घृणा का रवैया अपनाती है, उसे प्रताड़ित करती हैं वहीं आदिवासी स्त्री एक माँ के रूप में सौत के बच्चे को अपना समझती है और उसे स्नेह देती है। इस पहलू का जिक्र 'हिरौंदा' कहानी के अंतर्गत हुआ है। आदिवासी समाज की स्त्रियों में सौत के बच्चे के प्रति वैमनस्य भाव नहीं रहता, वहीं पुरुष दूसरे के कोख से उत्पन्न संतान को कई बार स्वीकार करने की स्थिति में नहीं होता। पुरुषवादी मानसिकता के कारण उसका अहं कई बार बच्चे के प्रति हेय दृष्टि दखने को बाध्य करता है। मातृत्व हासिल करके भी इस परिस्थिति में माँ के रूप में स्त्री का जीवन संकटग्रस्त होता है। इस सोच की विडंबना को 'सूरज किरण की छाँव' उपन्यास व 'जलता सूरज' कहानी के माध्यम से भी व्यक्त किया गया है।

दरअसल पुरुष से संतानों की परवरिश ठीक से संभव नहीं है। अतः वह इस कार्य के लिए अपनी पत्नी की मौत के बाद दुलारी को स्वीकार करता है। दुलारी भी अपने पति के मौत के बाद खुद व बच्चे की खातिर पुरुष की सुरक्षा का विकल्प चुनती है। किंतु यह विकल्प तब मनहूस रूप लेता है जब उसका पति आये हुए उसे व उसकी बेटी को पराये की संतान मानकर अत्याचार करता है-"कटकटाती और ठिठुरती ठंड में आधी रात को बेतों की मार के बाद 10 बरस की उस लड़की को घर के बाहर निकाल दिया गया था और वह भी उस समय जब गाँव के बाहर जंगल से रह-रहकर चीते की भयानक आवाज़ सुनाई दे रही थी। दुलारी का ममता-भरा हृदय भला यह कैसे सहन कर सकता था। उसी कटकटाती रात को वह भी घर के बाहर चली गई। इसके सिवाय उसके पास चारा ही क्या था।"[20]

माँ अपने ऊपर हुए किसी भी अत्याचार को सह सकती है किंतु पुत्र के प्रति नहीं। अतः बारंबार आए दिन अपने पति द्वारा पुत्री को असहनीय कष्ट देने पर वह अपने पति को छोड़कर अकेले रहने का निर्णय करती है।

पुरानी पीढ़ी की माँ का अपने नयी पीढ़ी के बच्चे जो कि स्वयं माँ के रूप है, के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण है इसका उल्लेख भी हिंदी आदिवासी साहित्य के

---

[20] भाई-बहिन का ब्याह-पृ.26

अंतर्गत हुआ है। सभ्य समाज से लेकर आदिवासी समाज में भी यदि स्त्री माँ नहीं बन सकी अर्थात् संतति वृद्धि कायम में सक्षम न हो सकी तो उसे हेय दृष्टि से देखा जाता है। अपनी माँ, पति व परिवार के अन्य सदस्यों से उसे बारंबार ताने सुनने को मिलते हैं। वस्तुतः स्त्री की सार्थकता परिवार व समाज में मातृत्व के स्तर पर ही है अन्यथा उसके प्रति दोयम दर्जे का व्यवहार अपनाया जाता है। इस प्रकार की अतार्किक दृष्टि का चित्रण कहानी में मिलता है। इतना ही नहीं पारंपरिक जड़ता की आड़ एक माँ को निर्दोष प्रमाणित करने हेतु उसे अपने बच्चे की बलि भी देनी पड़ती है। एक माँ के प्रति समाज की इस हृदयहीनता का मार्मिक वर्णन भी 'उसर खेत' कहानी के माध्यम से हुआ है। बच्चे के मौत के बाद स्त्री यदि पुनः मातृत्व की स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाती है तो उसे 'डायन' की संज्ञा से भी ज्ञापित किया जाता है।

पुत्र के प्रति अत्यधिक स्नेह ही माँ को कई बार विशेष सलाह अपने बच्चे को देने को बाध्य करता है। अतीत में जो भी यातना माँ भोग चुकी है वह नहीं चाहती है कि उसके संतान भी इन कष्टों को उठाये। 'तीर का तिनका' कहानी में 'दूध लौटाने' की एक विशेष सामाजिक प्रथा के तहत जिसमें एक युवती को अपने घोटुल (युवागृह) के वर्षों के प्रेमी से बिछुड़ने को मजबूर किया जाता है। यही युवती जब माँ बनती है तो बेटी द्वारा पुनः घोटुल में प्रेमी के साथ प्रगाढ़ संबंध (नेह) विकसित न करने पर जोर देती है। माँ अपनी बेटी को घोटुल में चेलिक (युवक) से सामान्य रूप में संबंध को ही विकसित करने पर बल देती है ताकि सामाजिक बंधनों की आड़ में जब उसे अपने घोटुल के साथियों से अलग होना पड़े तब दुःख न हो। दरअसल घोटुल में लंबे समय के साहचर्य से विकसित प्रेम संबंध को खत्म करके दूसरे के साथ जुड़ना संभव नहीं होता। अतः माँ अपनी बेटी को भविष्य में मानसिक रूप से कष्ट न उठाना पड़े इसके लिए अनुकूलित करने की कोशिश करती है।

3.3 सामाजिक संदर्भ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः वह मानव समूह में रहना पसंद करता है। इन समूहों के संगठन को समाज कहते हैं। समज के ये संगठित समूह समान

हितों और समान नेतृत्व के आधार पर इसका निर्माण करते हैं। जनजातीय समाजों में या सरल समाजों में किसी व्यक्ति का समाज में स्थान, उसके अधिकार और कर्तव्य, संपत्ति पर अधिकार प्रायः दूसरे सदस्यों के साथ उसके जन्मजात संबंधों पर निर्भर करते हैं।

3.3.1 स्वास्थ्य

आदिवासी समुदाय सामान्यतः अन्य भारतीय की तुलना में अधिक स्वस्थ माने जाते हैं, पंरतु बाहरी लोगों के संपर्क में आने के पश्चात् तथा अपने क्षेत्र से पलायन कर दूसरे क्षेत्रों में निवास करने तथा गरीबी आदि के कारण आदिवासियों का स्वास्थ्य एक गंभीर चिंता का विषय बनता जा रहा है। आज आदिवासी लोग कई प्रकार के संक्रमण से विभिन्न बीमारियों का शिकार बनते जा रहे हैं। वैसे तो आदिवासी बहुत सी बीमारियों से ग्रस्त रहते हैं परंतु सबसे अधिक मात्रा में उनमें जल संक्रमण से उत्पन्न रोग पाए जाते हैं। इसका मुख्य कारण आदिवासी क्षेत्रों में पीने के लिए स्वच्छ जल की उपलब्धता की कमी है। जिन क्षेत्रों में जल उपलब्ध है वहाँ भी यह जल गंदा व दूषित होता है। इसके फलस्वरूप अधिकतर आदिवासियों में आँत, चर्म तथा अन्य प्रकार की बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। साथ ही दूषित जल के प्रयोग से वे कॉलरा, पेचिश, अतिसार, नहरुआ आदि बीमारियों से ग्रसित हो जाते हैं।

आदिवासी में बीमारी का कारण खनिज तथा अन्य तत्वों की कमी भी है। "हिमालय क्षेत्र में निवास करनेवाले आदिवासी घेघा जैसे गले की बीमारी से ग्रसित हैं जो कि आयोडीन की कमी के कारण होती है। हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों के आदिवासियों में यौन रोग का बहुतायत है। पोषण तत्वों में कमी के कारण आदिवासियों में तपेदिक (क्षय) रोग का आधिक्य है। अधिकतर आदिवासी लोगों के शरीर में सभी प्रकार के प्रतिरक्षक का विकास नहीं हुआ है। अतः ये लोग आसानी से किसी भी नयी बीमारी का शिकार हो जाते हैं। कुछ रोग संपूर्ण भारत में व्याप्त हैं। अतः आदिवासी भी इससे अछूते नहीं रहे।"[21] आदिवासी समाज में नशीले

---

[21] डॉ.ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय भारत-पृ.174

पदार्थों के सेवन का भी रिवाज़ है। सरकार द्वारा नशाबंदी लागू करने के पश्चात् ये लोग सस्ती और जहरीली शराब पीकर विभिन्न प्रकार की बीमारियों का शिकार होते हैं। आदिवासियों के स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को दूर करने के लिए आज कई गैर सरकारी संगठन, विश्व संगठन तथा स्वयं सेवी संस्थाएँ आगे आ रही हैं तथा इस दिशा में गंभीरता से प्रयासरत हैं। सरकार भी आदिवासी क्षेत्रों में स्वास्थ्य और चिकित्सा की दिशा में अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान करने के लिए प्रयासरत हैं लेकिन सरकार की योजनाओं सहित अधिकांश योजनाएँ ठीक से क्रियान्वयन नहीं होने के कारण सफल नहीं हो पा रही हैं।

3.3.2 शिक्षा व साक्षरता

सन् 1991 की जनगणना के अनुसार आदिवासियों में साक्षरता का प्रतिशत 29 था जबकि देश की साक्षरता 52 प्रतिशत है। जाहिर है शिक्षा के क्षेत्र में आदिवासियों में निरक्षरता दूर करने के लिए बहुत कुछ किया जाना बाकी है। आदिवासी महिलाओं में साक्षरता दर और भी कम है। उत्तर-पूर्वी राज्यों में खासी तथा गारो आदि आदिवासियों को छोड़कर जो ईसाई मिशनरियों के संपर्क में आने के पश्चात् शिक्षित हुए हैं, पूरे आदिवासी समाज में शिक्षा का स्तर अच्छा नहीं है। चूँकि शिक्षा समान अवसरों को प्राप्त करने का प्रभावी मापदंड है। ऐसी स्थिति में आदिवासी समाज देश के अन्य लोगों से बहुत पीछे रह जाते हैं। स्वतंत्रता से पहले आदिवासियों को शिक्षित करने के लिए सरकार के पास कोई ठोस नीति नहीं थी। किंतु संविधान के प्रभावी होने के पश्चात् अनुसूचित आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार करना केंद्र तथा राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व हो गया है। शिक्षा के महत्व को समझते हुए संविधान निर्माताओं ने संविधान के अनुच्छेद 15 (4) तथा 46 में आदिवासियों में शिक्षा के प्रसार हेतु विशिष्ट प्रावधान किए हैं।

आदिवासियों में औपचारिक शिक्षा का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। आदिवासी द्वारा शिक्षा की ओर कम ध्यान देने के आर्थिक कारण भी हैं। एल्विन के अनुसार-"एक जनजातीय परिवार के लिये अपने बच्चों को स्कूल भेजना आवश्यक रूप से आर्थिक

स्थिति पर निर्भर करता है। इससे इनके जीवन-यापन के संघर्ष तथा पारंपरिक श्रम विभाजन की योजना गड़बड़ा जाती है-बहुत से माँ-बाप ऐसी स्थिति में नहीं होते हैं कि अपने बच्चों को स्कूल भेज सकें।"[22] इसके अलावा शिक्षा के लिए आदिवासी समुदाय के सामाजिक पक्ष को समझना भी महत्वपूर्ण होता है। इनके लिए ऐसी शिक्षा नीति लाभदायक होगी जिसके अंतर्गत उन्हें शिक्षित करने के साथ-साथ उनके अंधविश्वासों तथा पूर्वाग्रहों को भी दूर किया जा सके। संचार माध्यमों की कमी तथा आदिवासी भाषा एवं साहित्य की शिक्षा में उपेक्षा भी आदिवासी शिक्षा के विकास में एक बड़ी बाधा है। आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार वर्ष-दर-वर्ष बढ़ रहा है तथापि यह सामान्य स्तर से काफी नीचे है। साथ ही आदिवासी महिलाओं में साक्षरता की स्थिति और भी चिंताजनक विषय है। एक ओर मिजोरम जैसे राज्य हैं जहाँ आदिवासी महिला की साक्षरता 60% से अधिक है तो दूसरी ओर राजस्थान जैसे राज्य हैं जहाँ आदिवासी महिला की साक्षरता 10% से भी कम है।

3.3.3 विवाह

समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र में विवाह को मानव समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। विवाह सामान्यतः पुरुष व स्त्री के मध्य यौन संबंधों को स्थापित करने की अनुमति प्रदान करनेवाली संस्था मात्र नहीं वरन् वह समाज के स्वस्थ निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। लावी के अनुसार- "विवाह स्पष्टतः उन स्वीकृत संगठनों को प्रकट करता है जो यौन संबंधों की संतुष्टि के पश्चात भी अस्तित्व में रहता है तथा बाद में पारिवारिक जीवन की आधारशिला के रूप में आता है।"[23] इस प्रकार विवाह महज यौन संबंधों की संतुष्टि का साधन नहीं वरन् व्यक्ति की यौन इच्छाओं को नियंत्रित करते हुए पारिवारिक जीवन में निर्णायक रोल अदा करती है। आदिवासियों में आर्थिक दृष्टि से विवाह अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है ताकि विवाह के बाद दोनों मिलकर आर्थिक कठिनाइयों का

---

[22] डॉ.ए.आर.एन.श्रीवास्तव, जनजातीय भारत-पृ.185

[23] डॉ.श्रीनाथ शर्मा, जनजातीय समाजशास्त्र-पृ.31

सामना कर सके हैं। तथाकथित सभ्य जातियों में प्रचलित वैवाहिक प्रथा से कई पहलुओं में भिन्न यह प्रथा आदिवासियों में मौजूद है। प्रायः आदिवासियों के विवाह-प्रथा में धर्म को कोई महत्व नहीं दिया जाता है तथा विवाह अत्यन्त साधारण रूप में संपन्न किया जाता है। अनेक आदिवासी समूहों में लड़कों के साथ-साथ लड़कियों को भी जीवन-साथी के चुनाव में स्वतंत्रता दी जाती है। किंतु हिंदू जातियों के साथ संपर्क के कारण आदिवासी में भी बाल-विवाह का प्रचलन दिखाई देने लगा है। यौन-संबंध में ढीलेपन को अक्सर सभ्य समाज के नुमाईंदों द्वारा आदिवासी के विवाह-पद्धति को अतिरंजित रूप 'स्वच्छंद' अथवा 'स्वतंत्र यौन' या 'यौन साम्यवाद' में पेश किया जाता है क्योंकि संसार के किसी भाग में संग्रहीत नृजातीय आँकड़े इस परिकल्पना की पुष्टि नहीं करते।

विवाह के प्रकार

एक विवाह-प्रणाली (Monogamy): विवाह का वह स्वरूप जिसमें एक पुरुष किसी एक समय में एक स्त्री से अधिक विवाह नहीं कर सकता। भारत के आदिवासियों में वर्तमान समय में इस प्रथा का प्रचलन आधुनिक सभ्यता के संपर्क से अधिक बढ़ गया है। यथा-असम के 'हो' आदिवासियों में अत्यधिक कन्या मूल्य के कारण भी एक से अधिक विवाह संभव नहीं था।

बहुविवाह (Polygamy): जब एक से अधिक व्यक्तियों से विवाह होता है तब उसे बहुविवाह की संज्ञा दी जाती है। अर्थात् जब एक पुरुष और अनेक स्त्रियाँ यया एक स्त्री तथा कई पुरुष आपस में यौन संबंधों को स्थापित करने हेतु विवाह की आवश्यकताओं की पूर्ति महसूस करते हैं तब उसे बहुविवाह कहा जाता है।

बहुविवाह साधारणतः दो रूप में होते हैं-

1) बहुपत्नी विवाह (Polygyny) : जब कोई समाज पुरुष सदस्यों को एक से अधिक स्त्रियों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करने की इजाजत देता है तब उसे 'बहुपत्नी विवाह' कहा जाता है। बहु पत्नी विवाह नागा, गोंड, बैगा, लुशाई तथा मध्य भारत की अधिकांश ऑस्टेलाइड आदिवासियों में पाया जाता है। किंतु वर्तमान कानून बगैर तलाक लिए एक से अधिक विवाह की

अनुमति नहीं देता है। समाज में यह सम्मान, प्रतिष्ठा एवं पितृसत्ता का प्रतीक माना जाता है।

2) बहुपति विवाह (Polyandry) : इस प्रकार के विवाह में स्त्री एक से अधिक पुरुषों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करने के लिए स्वतंत्र होती है। वर्तमान में विवाह की यह पद्धति प्रतिबंधित है। आदिकालीन समाज में बहुपति का प्रचलन आरंभ हुआ। अभी भी भारत में कुछ आदिम समुदाय बहुपति विवाह को मान्यता प्रदान करती हैं। 'तियान लौडा', 'टोडा', कोटा खास (जौनसारी) तथा लद्दाखी वोटा में तिब्बतियों में भी यह प्रथा प्रचलित है। बहुपति प्रथा के फलस्वरूप संतानोत्पत्ति में कमी, स्त्रियों में बाँझपन, गुप्त रोगों के बढ़ने के साथ ही स्त्री के सामाजिक प्रतिष्ठा में कमी महसूस की गई है। भारत में बहुपति प्रथा दो रूपों में मौजूद है-

i) भ्रातृबहुपति विवाह:- इसमें एक स्त्री द्वारा रक्त संबंधी भाइयों से वैवाहिक संबंध स्थापित की जाती है। यथा-जौनसार बावर के खासा तथा टोडा (नीलगिरि पर्वत पर निवास करनेवाली) वर्तमान में इसके उदाहरण हैं।

ii) अभ्रातृबहुपति विवाह :- इसमें स्त्री के साझेदार पतियों में सगे भाइयों (रक्त संबंधी नातेदार) का होना ही आवश्यक नहीं है। स्त्री भाइयों के अतिरिक्त भी अन्य किसी व्यक्ति को पति के रूप में चुन सकती है। दक्षिण भारत के नायर, इरावान के पिछड़े आदिवासियों तथा मलाबार की शिल्पियों में यह प्रथा मौजूद है। अब यह प्रथा समाप्त प्राय है। के.एम.पन्निकर के शब्दों में-"अब अभ्रातृ-बहुपति प्रणाली का चलन नहीं है केवल भ्रातृ-बहुपति के प्रकार देखने में आते हैं।"[24]

3) अपहरण विवाह :- जब कोई पुरुष एक स्त्री को बलपूर्वक उसके गाँव से छीन लेता है और उससे विवाह कर लेता है तो उसे अपहरण विवाह कहते हैं। यह विवाह की प्राचीनतम प्रथा रही है। बहुत से आदिवासी समाज इस प्रकार के

---

[24] हरिश्चंद्र उप्रेती, जनजातीय संस्कृति-पृ.72

विवाह को स्वीकृति देते हैं, जो वीरता और शौर्य का प्रतीक है। इस प्रकार का विवाह उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की नागा आदिवासियों में लोकप्रिय रहा है जहाँ एक गाँव के नागा अपने शत्रु गाँव पर आक्रमण करते थे तथा वयस्क लड़कियों को बंदी बना लेते थे। भारतीय दंड संहिता के व्यापक प्रयोग तथा लोगों की बढ़ती चेतना के कारण इस प्रथा में अत्यधिक कमी आ गई है। फिर भी, आज भी कुछ आदिवासियों में इस पुरानी प्रथा को निभाने हेतु अपहरण-विवाह का ढोंग रचा जाता है। यथा-गोंड, भूमिज, भोटिया, मुण्डा, संथाल आदि। 'हो' आदिवासियों में कन्या मूल्य की अधिक कीमत होने के कारण अपहरण-विवाह का रास्ता खुल जाता है। खड़िया तथा बिरहोहर आदिवासी में भी जब लड़की का आसानी से अपहरण नहीं किया जा सकता है तो लड़का मेले अथवा अन्य सार्वजनिक स्थानों में लुका-छिपी कर लड़की के कपाल पर कुंकुम लगा देता है, इस प्रकार लड़की पर उसका अधिकार माना जाता है। अपहरण विवाह इस रूप में अभिनयात्मक एवं उत्सविक अपहरण का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। अपहरण विवाह को सामाजिक स्वीकृति अपहरणकर्ता द्वारा मुआवज़ा या भोज देने के उपरांत मिलती है।

नागा आदिवासियों के जीवन पर केंद्रित उपन्यास 'रक्तयात्रा' में अपहरण विवाह का उल्लेख हुआ है-"तुमने इस तरह शादी कहाँ की थी। चुपचाप मुझे घर में बिठा लिया था और कबीले के लोगों को खबर कर दी थी कि तुमने मुझे अपनी बीवी बना लिया है। ... और करता भी क्या। मेरे पास इतना कहाँ था जो तुम्हारे बाप की माँग पूरी करता।"[25]

इस प्रसंग में रिछाले की पत्नी के वक्तव्य से अपहरण विवाह का संकेत मिलता है। पारंपरिक नागा रिवाज़ के अनुसार लड़के को शादी करते वक्त लड़की के पिता की माँग को पूरा करना पड़ता था। किंतु माँग पूरा न कर पाने की स्थिति में

---

[25] हरिश्चंद्र उप्रेती, जनजातीय संस्कृति-पृ.85

कई बार अपहरण ही एकमात्र विकल्प बचा रह जाता था। अपहरण विवाह में लड़की की सहमति भी अनिवार्य रूप से जरूरी होती है।

अपहरण विवाह का ही एक रूप 'इतुत बाप्ला' का जिक्र 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास के अंतर्गत हुआ है। 'संथालों' में विवाह शब्द 'बाप्ला' नाम से जाना जाता है। इन लोगो ंमें विवाह के (बाप्ला) आठ प्रकार प्रचलित हैं-संग बाप्ला, कुदाम बाप्ला, किरिंग बाप्ला, घदी जवे बाप्ला, अपंगिर बाप्ला, तुँकी दिपिल बाप्ला, इतुत बाप्ला, निर्बोलोक बाप्ला। 'इतुत बाप्ला' तब किया जाता है जब लड़की अथवा लड़के के माता-पिता लड़के-लड़की को, जो विवाह करना चाहते हैं, विवाह की स्वीकृति नहीं देते हैं अथवा लड़के को यह शंका होती है कि वह जिस लड़की से विवाह करना चाहता है शायद वह उसे स्वीकार नहीं करे। ऐसी स्थिति में लड़का इस बात की प्रतीक्षा करता है कि किसी मेले अथवा अन्य स्थान पर लड़की के माथे पर जबरदस्ती सिंदूर लगा सके। बहुधा इस प्रकार का विवाह वैधानिक माना जाता है बशर्ते लड़की की सहमति हो। 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास का नायक हारिल मुरमू जब अपनी प्रेमिका लाली से विवाह कर पाने में असमर्थ पाता है तो 'इटूट बापला' के माध्यम से विवाह कर परस्पर एक होना चाहते हैं। उराँव में सगोत्रीय विवाह वर्जित होने के साथ विजातीय विवाह पर भी सामाजिक पाबंदी होती है। अतः संथाल युवक हारिल मुरमू के पास अपनी प्रेमिका लाली को प्राप्त करने का एकमात्र विकल्प बच जाता है-'इटूट बापला'। 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में 'इटूट बापला' का जिक्र निम्न रूप में हुआ है-

"यदि लाली मान गयी तो समाज-गोतिया लाली से हारिल के विवाह की अनुमति दे या न दे, बिचौलिया न सही, मत रहे बाजा-गाजा। नायके, माँझी, गोड़ाईत या परानिक की भी आवश्यकता नहीं होगी यदि हारिल मुरमू लाली से 'इटूट बापला' कर लेगा।

'इटूट ब्याह' में न किसी मध्यस्थ की भूमिका आवश्यक थी, न ही परिजनों की उपस्थिति अनिवार्य। हारिल को अकेले पलाशखाँड़ जाना था, लाली को कंधे पर उठाकर भागना था और घने जंगल में जा छुपना था। ब्याह के लिए सहमत होने के

बाद भी लाली को दिखावे के लिए तनिक ना-नुकुर करना था। इसके बाद हारिल को लाली की माँग में सिंदूर डाल देना था।

'इटूट बापला' बलात् ब्याह था परंतु इस ब्याह को जंगल में मान्यता प्राप्त थी। हर समाज 'इटूट' का मान रखता था। अतः हारिल-लाली के जोड़े को बाघामुण्डी और पलाशखाँड़ में मान्यता भी मिलनी तय थी। 'इटूट' को न बाघामुण्डी का माँझी तोड़ सकता था, न ही लाली का पिता...। बस, विवाह योग्य हो गयी हो लाली। परिपाटी के अनुसार ताड़पत्तों की चटाई बुनना सीख चुकी हो। हारिल को तो हल चलाना आता ही था।"[26]

जाहिर है तमाम सामाजिक प्रतिबंधों के बावजूद आदिवासी समाज में प्रेमी युवक व युवती की इच्छा का कहीं-न-कहीं कद्र था। लेकिन यह छूट पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर हो सकने की स्थिति में ही था। आज के सभ्य समाज में अपहरण विवाह एक घृणित रूप ले चुका है जिसमें प्रायः एक दूसरे को तनावपूर्ण स्थिति में जीने को बाध्य किया जाता है। इस उपन्यास में संथालों में होनेवाले विवाह (बापला) की अन्य स्थितियों 'सादाई बापला', 'गोलाइटी बापला', 'टुनकी दिपिल बापला' या 'घरदी जवाँय बापला', 'अपगिर बापला', 'निर्बोलक बापला' या 'राजा-राजी बापला', 'कीरिग जाँवाय बापला' का भी संक्षेप में उल्लेख मिलता है।

(4) विनिमय विवाह :- आदिवासी समाज में जीवन साथी का चुनाव लड़कियों के आपसी विनिमय द्वारा भी होता है। इसे गोलट विवाह कहा जाता है। इस प्रकार के विवाह में दो परिवार महिलाओं का विनिमय एक दूसरे से करते हैं। इस विधि में एक व्यक्ति अपनी बहन अथवा अपने घर की किसी अन्य को किसी दूसरे व्यक्ति को जीवन साथी के रूप में देता है तथा उस व्यक्ति की बहन या अन्य स्त्री को जीवन साथी बनाता है। विनिमय द्वारा विवाह का विकास मूल रूप में कन्या-मूल्य से बचने के साधन के रूप में हुआ। भारत के आदिवासियों में भी इस प्रकार के विवाह के

[26] जो इतिहास में नहीं है-पृ.90

उदाहरण प्राप्त होते हैं, लेकिन ऐसे विवाहों की संख्या नगण्य ही है। अपवाद के रूप में मेघालय की 'खासी' आदिवासी विनिमय विवाह की अनुमति नहीं देती है।

(5) क्रय-विवाह :- विवाह की यह पद्धति आदिवासियों में अत्यधिक प्रचलित है। इसमें विवाह के इच्छुक युवक को कन्या के माता-पिता या अन्य रिश्तेदार को वधू मूल्य चुकाना पड़ता है। भारत के आदिवासियों में कन्या-मूल्य नकद अथवा वस्तु दोनों के रूप में देने का रिवाज है। संथाल, हो, ओराँव, गोंड, खड़िया, भील, नागा आदि अनेक आदिवासियों में यह प्रथा विद्यमान है। लेकिन साथ ही इन्हीं आदिवासियों में जब 'घरजवाँई' रखते हैं तो क्रय-विवाह की प्रथा होते हुए भी कन्या-मूल्य नहीं लिया जाता। लॉवी ने इस बात पर बल दिया है कि "यद्यपि इस प्रकार के लेन देन के आर्थिक स्वरूप को कम नहीं किया जा सकता, फिर भी दुल्हन के मूल्य का भुगतान करने को विक्रय अथवा क्रय की संज्ञा देना गलत होगा। यह केवल महिलाओं की उपयोगिता का प्रतीक हो सकता है तथा उसके माता-पिता के परिवार को मुआवजे के रूप में दिया जाता है।"[27] किंतु बील्स तथा हाइजर जैसे विद्वानों ने इसकी भर्त्सना भी की है।

कन्या-मूल्य का खराब परिणाम बिहार में छोटानागपुर के 'हो' आदिवासियों में पाया जाता है। इन स्थितियों का उल्लेख 'वनके में मन में' उपन्यास में मिलता है-

"लुकना-लेकिन यह क्या अच्छी बात है, मेंजो? माँ-बाप का पन (वर पक्ष से कन्या-पक्ष को दिया जानेवाला तिलक-दहेज। शुद्ध 'हो' भाषा में 'गोनों' कहते हैं) माँगना ठीक ही था जब सिंगबोंगा के समय से हमारे यहाँ रीति चली आ रही है।

मेंजो-अगर पन न दे सके तो? तब क्या ब्याह ही न हो? लड़का-लड़की तुम्हारे इसी नीति के लिए क्वाँरे रह जायँ? रीति बड़ी है या लड़का-लड़की का सुख और जीवन?"[28]

---

[27] आर.एच.लॉवी, सोश्यल ऑर्गनाइजेशन, लंदन, 1956-पृ.51

[28] वन में मन में-पृ.39

यहाँ 'हो' युवक-युवती लुकना एवं मेंजो के संवाद से परंपरागत कन्या-मूल्य की रीति के कारण विवाह में उत्पन्न समस्या का जिक्र हुआ है। प्रायः सामाजिक पद एवं प्रतिष्ठा की आड़ में कन्या-मूल्य की निरंतर बढ़ती हुई कीमत ने आर्थिक रूप से कमजोर 'हो' आदिवासी युवक एवं युवतियों को अविवाहित रहने को बाध्य करते हैं। कन्या मूल्य के दबाव के कारण युवक-युवती अपहरण विवाह करने के लिए मजबूर होते हैं और युवती को प्रायः अपमान भोगना पड़ता है। कई बार विवाह की स्वाभाविक इच्छा उन्हें साहूकार के जाल में फँसाकर बँधुआ बनने पर विवश करते हैं।

(6) <u>सह-पलायन विवाह</u> :- पारस्परिक सहमति तथा पलायन भी आदिवासियों में विवाह की एक विशिष्ट प्रणाली रही है। इस विधि में विवाह के इच्छुक लड़का-लड़की अगर अपने माता-पिता से विवाह के संबंध में सकारात्मक उत्तर नहीं पाते हैं, तब वे अपने घर से भाग कर किसी के रिश्तेदार अथवा साथी के यहाँ चले जाते हैं। वे तब तक वहाँ साथ-साथ रहते हैं, जब तक कि माता-पिता उन्हें पति-पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं कर लेते। इस अवधि में अगर उन्हें संतान की प्राप्ति हो जाती है, तब वे वापस अपने घर लौट आते हैं। बिहार के 'हो' आदिवासी लोग इसे 'राजी-खुशी' विवाह की संज्ञा देते हैं जो वर-वधू की सहमति से होता है। यह प्रथा अपवाद स्वरूप सभी भारत के आदिवासियों में पाई जाती है। दरअसल बाल-विवाह भारत के आदिवासी समाज में अपेक्षाकृत नयी परिघटना है। पहले आदिवासियों में बाल-विवाह का प्रचलन नहीं था किंतु उन्होंने अपने पड़ोसी हिंदुओं से संस्कृति-संपर्क के फलस्वरूप इस विकृति को अपनाया है। धीरे-धीरे बाल-विवाह के प्रचलन आरंभ होने के कारण सह-पलायन विवाहों की संख्या में कमी लगातार देखने को मिल रही है।

'वन के मन में' उपन्यास में 'हो' युवती जिनकी का लगाव लुकना के प्रति रहता है। किंतु लुकना का लगाव मेजो के प्रति होता है। जिनकी अपने प्रेमी को पाने हेतु प्रलोभन देती है कि मेरे घर में 'गोनो' (कन्या-मूल्य) ज्यादा न होगी, यदि ज्यादा होगी भी तो मैं अपने माता-पिता को कम लेने पर भी राजी कर लूँगी। साथ

ही जिनकी अपने प्रेमी लुकना से यह कहती है कि समाज के दबाव में माता-पिता यदि इसके लिए राजी न हुए तो हम लोग अपनी इच्छा से भागकर विवाह कर लेंगे-"मेरे यहाँ इतनी माँग नहीं होगी। इसलिए नहीं कि हम किसी से कम हैं, या हमारा परिवार किसी से दब है। ना, केवल इसीलिए कि मैं तुम्हें दिल-जान से प्यार करती हूँ और माँ-बाप मुझे बहुत मानते हैं, तुम जो कुछ भी दोगे उसी पर उन्हें मना लूँगी। अगर किसी तरह समाज के दबाव से माँ-बाप अड़ भी गये तो हम-तुम माघे या बा-परब में निकल भागेंगे।"[29]

इस प्रसंग में एक कुमारी युवती का अपने प्रेमी के प्रति लगाव के कारण पक्षधरता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अपने प्रेमी को पाने हेतु परिवार में दबाव बनाने से लेकर पलायन तक का विकल्प चुनने को मजबूर होती है। समाज अपनी पारंपरिक जड़ता की आड़ में युवाओं के मनोविज्ञान को समझ सकने में अक्षम होती है। अतः वे असामाजिक कार्यों की ओर प्रवृत्त होते हैं।

(7) सेवा विवाह :- आदिवासी समाज में सेवा के माध्यम से भी जीवन साथी प्राप्त करने का रिवाज़ है। आर्थिक विपन्नता के कारण विवाह में 'कन्या-मूल्य' दे सकने में असमर्थ होने पर विवाह के इच्छुक युवक को कन्या के पिता के घर रहकर सेवा करनी पड़ती है। जब लड़की के माता-पिता उसकी सेवा से प्रसन्न हो जाते हैं तब अपनी कन्या का विवाह उस युवक के साथ कर देते हैं। गोंड, बैगा, बिरहोर आदि आदिवासियों में गरीब व्यक्ति इस प्रथा को अपनाते हैं। गोंड ऐसे व्यक्ति को 'लामानाई' तथा बैगा आदिवासी में उसे 'लामसेना' की संज्ञा दी जाती है। मध्यप्रदेश के आदिवासियों में इस तरह का 'लामसड़े' या 'लमसेना' (घर-जमाई) रखने का बहुत रिवाज़ है। बिरहोर आदिवासी में भावी ससुर अपने भावी दामाद को कन्या-मूल्य चुकाने हेतु रुपया उधार देता है और दामाद सेवा द्वारा ही उस ऋण (कन्या-मूल्य) को लौटाता है। हिमाचल प्रदेश के गूजर तथा उत्तर प्रदेश के खस आदिवासियों में भी इस व्यवस्था का प्रचलन देखने में आता है।

[29] वन के मन में-पृ.23

(8) <u>हठात् विवाह</u> :- अपहरण विवाह के विपरीत भारत के आदिवासियों में अनधिकार प्रवेश द्वारा विवाह या घुसपैठ विवाह का भी प्रचलन पाया जाता है। ऐसे विवाह में लड़की को जब उस व्यक्ति की स्वीकृति प्राप्त नहीं होती, जिसे वह चाहती है, तो वह उस व्यक्ति से बलपूर्वक विवाह करती है। इस विवाह में लड़की अपने प्रेमी के घर, प्रेमी तथा उसके माता-पिता की इच्छा के बिना जाकर रहने लगती है व उसे विवाह के लिए बाध्य करती है। विवाह के इच्छुक उक्त लड़की को कठोर यातनाओं व अपमान का सामना भी करना पड़ता है, परंतु यदि वह इनसे विचलित नहीं होती है तो अंत में उसका विवाह कर दिया जाता है। छोटानागपुर के 'विरहोर' तथा 'हो' एवं कमार, संथाल आदि आदिवासियों में अपवाद स्वरूप विवाह का यह रूप पाया जाता है। 'हो' लोग इसे बिलकुल उचित ही 'अनादर' पुकारते हैं जिसका अर्थ अपमान अथवा असमान है। संथालों में इसे 'निर्बोलोक बाप्ला' कहा जाता है।

(9) <u>परीक्षा विवाह</u> :- भारत के कुछ आदिवासियों में अपना जीवन-साथी प्राप्त करने की एक विधि है। इस प्रकार के विवाह का उद्देश्य उन नवयुवकों का शक्ति-परीक्षण करना होता है जो कि विवाह करने के इच्छुक होते हैं। व्यक्तिगत साहस तथा बहादुरी किसी नवयुवक में वांछित योग्यता के रूप में स्वीकार की जाती है। भावी दूल्हे को, इससे पहले कि वह मनचाही लड़की का हाथ माँगने का दावा करे, अपनी शक्ति को सिद्ध करना पड़ता है। इस प्रथा का उदाहरण सबसे लोकप्रिय रूप में गुजरात के भील आदिवासियों में है जिसमें होली के अवसर 'गोल गदेदों' नामक लोकनृत्य का आयोजन किया जाता है। विवाह की यह प्रथा संभवतः प्राचीन स्वयंवर प्रथा का अवशेष है।

(10) <u>परिवीक्षा विवाह</u> :- परिवीक्षा द्वारा विवाह को आधुनिक कोर्टशिप की पद्धति का आदिम रूप कहा जा सकता है। इस पद्धति के अंतर्गत भावी पति तथा पत्नी को दुल्हन के घर में कुछ समय के लिए साथ रहने की अनुमति दी जाती है। यदि वे एक दूसरे को पसंद करते हैं तथा विवाह करने का निर्णय लेते हैं तो बुजुर्ग लोग उनके विवाह की व्यवस्था करते हैं। यदि दोनों एक दूसरे का स्वभाव एक दूसरे की मुताबिक नहीं पाते हैं तो वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं तथा पुरुष को लड़की के

माता-पिता को इसका मुआवज़ा देना पड़ता है। अगर लड़की परिवीक्षा की अवधि में गर्भ धारण कर लेती है तब लड़के को हर हालत में विवाह करना पड़ता है। असम की 'कुकी' आदिवासियों में यह रिवाज़ पाया जाता है।

(11) <u>अधिमान्य विवाह</u> :- कुछ हिंदू जातियों की भाँति आदिवासियों में भी कहीं-कहीं विवाह के लिए निकट रिश्तेदारी को ही प्राथमिकता दी जाती है, जैसे-ममेरे, चचेरे, फुफेरे आदि भाई-बहनों में विवाह। मणिपुर के 'पुरुष कुकियों' में मामा की लड़की से विवाह उत्तम समझा जाता है। गोंड आदिवासी में ममेरे, फुफेरे भाई बहिनों में विवाह सर्वोत्तम एवं आवश्यक माना जाता है। जिसे ये 'दूध लौटाना' (दूध लौटावा) कहते हैं। नीलगिरि के 'टोडा', असम के नागा एवं दक्षिण के हिंदू आदिवासियों में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं।

3.3.4 स्त्री की विविध स्थिति:

<u>विधवा</u> (वैधव्य) :- रणेन्द्र के कहानी-संग्रह 'रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ' के 'वह बस धूल थी' कहानी में आदिवासी स्त्री के विधवा होने की स्थितियों का जिक्र किया गया है। इस कहानी की पात्र सोमा कुजूर की 1999 में भारतीय महिला हॉकी टीम को एशिया कप दिलवाने में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। किंतु पारिवारिक संकटों के कारण खेल में शीर्ष तक पहुँचने के बावजूद गाँव के स्कूल में पढ़ाते हुए जीवन-यापन करती है। उसका पति सोमनाथ गाँव की भलाई हेतु तरह-तरह की योजनाएँ बनाता। 'सरना सेवा संस्थान' का जलछाजन का प्रोजेक्ट वगैरह किसी संकट के पास होने पर आदिवासी उराँव जमात के ही भ्रष्ट अधिकारी बी.डी.ओ. की नज़र में उसका पति काँटा बन जाता है। भ्रष्ट अधिकारी नक्सल सेना एम.सी.सी. का उपयोग कर न केवल उसके प्रोजेक्ट को बर्बाद करता है बल्कि एक साथ पाँच लोगों को मौत के घाट उतार देता है-"ऐसी चरम वारदात कि कोई सोच भी नहीं सका था पलक झपकते घुप्प अंधेरा। पाँच-पाँच विधवाओं के विलाप से धरती काँप उठी। रात की आँखों में नींद कहाँ? गाँव-जवार से ठट्ट-के-ठट्ठ भीड़ जुटने लगी। सब उकमकाए औरत बच्चे फूट-फूटकर रोते हुए। अनर्थ हो गया।

सोमा तो बार-बार बेहोश हो जा रही थी। माँ बनने वाली थी। देह कमजोर हो चली थी।"[30]

एम.सी.सी. उग्रवादी संगठन द्वारा बिहार-झारखंड में खूनी खेल कोई नया नहीं है। इस नक्सल संगठन को कहीं-न-कहीं सत्ता का भी समर्थन हासिल होता है। भ्रष्ट अधिकारी अनिल लकड़ा के कारण सोमा न केवल विधवा बनती है बल्कि कानून की आड़ में पति की संपत्ति से भी बेदखल की जाती है। सास-ससुर भी अपने बेटे को योजना में मिली संपत्ति को हड़पने हेतु सोमा के प्रति हिंसक रवैया अख्तियार करते हैं। अपने संबंधियों सास-ससुर एम.सी.सी. एवं भ्रष्ट उराँव अधिकारी के करतूतों के चलते सोमा न केवल विधवा बनती है बल्कि संपत्ति से बेदखल किए जाने पर कालांतर में मौत की त्रासद् जीवन से भी जुड़ने को अभिशप्त हो जाती है। दरअसल सभ्य समाज का परिवार अपने बहू के प्रति बहुत संवेदनशील नहीं होता। अतः पुत्र के लाखों रुपए के प्रॉजेक्ट का पता चलते ही संपत्ति के लोभ में बहू के प्रति हिंसक कारवाई से भी बाज नहीं आते।

किसी भी स्त्री के विधवा होने में परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। आदिवासी स्त्री के इस संदर्भ में यह बात और भी ध्यान देने लायक है। 'वह बस धूल थी' कहानी में सोमा कुजूर का विधवा होना जहाँ एम.सी.सी. के नक्सली आतंक के कारण है वहीं 'जंगल के गीत' उपन्यास में उराँव स्त्री झरिया का विधवा होना प्राकृतिक आपदाओं के कारण है। झरिया का पति पेड़ के नीचे बरसात के दिनों में बिजली के आघात से मौत का ग्रास बनता है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास की नायिका रंगेनी का पति होकना ठेकेदार द्वारा अवैध लकड़ी के तस्करी करते समय जंगली हाथी के हिंसक रवैये के कारण मारा जाता है। पति की अनुपस्थिति में एक मुण्डा विधवा स्त्री की जिंदगी किस तरह संकटग्रस्त हो जाती है इसकी दास्तान 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में मिलती है। समाज के हिंसक लोगों से बचने के लिए वह ओझा (भगतिन) बन जाती है। किंतु ओझा बनने से पहले वह कई पुलिसों द्वारा खेत में बलत्कृत होती है। पुनः औघड़ बाबा भी अपनी वासना का शिकार बनाते

[30] वह बस धूल थी (रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ)-पृ.42

हैं। कई लोगों द्वारा जबरन दैहिक संबंध स्थापित होने पर जब वह गर्भवती होती है तो पंचायत के सामने सच का खुलासा करने पर रंगेनी के चरित्र पर शक किया जाता है तथा उसे जलील एवं अपमानित कर सामाजिक बहिष्कार की सजा सुनाई जाती है। तमाम विपरीत स्थितियों को झेलते हुए विधवा रंगेनी न केवल अपने पुत्र को जन्म देती है बल्कि पुरुषों के कुकृत्य के कारण अकेले रहने का निर्णय (वैधव्य की स्वीकृति) भी करती है। विधवा होने पर भी जबरन दूसरे के अंश से पुत्र के प्रति स्नेह आदिवासी स्त्री में ही संभव है-"ईमान की बात यही है कि माई होने के बावजूद नहीं जानती रंगेनी कि किसका बीज है सोनारा। रेलवई के उन राकस (राक्षस) सिपाहियों में से किसी का था कि उस दाढ़ीजरैने ओघड़वा का जिसने...

रंगेनी तो बस इतना जानती है कि सोनारा उसकी देह से जनमा है। अपनी देह में उसने नौ महीनों तक रखा है सोनारा को। रंगेनी के दूध-खून पर पलाया-पोसारा है उसका सोने जैसे सोनारा। रंगेनी की देह का एक अंश है सोनारा। अपनी देह को काटकर कैसे फेंक सकती थी माई?"[31]

विधवा स्त्री का अपने पुत्र के ममत्व रत्नकुमार सांभरिया की 'बेस' कहानी में भी दिखलाई देता है किंतु यह ममत्व साधारण परिस्थितियों के बरक्स है। इसी तरह का लगाव धर्मांतरित उराँव विधवा स्त्री का अपने बच्चों के प्रति 'काला पादरी' उपन्यास में भी मिलता है। किंतु इन दोनों में विधवा की स्थिति का चित्रण उम्र के अंतिम पड़ाव का है।

परित्यक्ता

परित्यक्ता 'हो' आदिवासी स्त्री का जिक्र 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में मिलता है। किसुन कुम्हार परिवारवाले के बगैर सहमति के 'हो' युवती टुनियाँ से भागकर शादी करता है किंतु कुछ दिनों के बाद ही सामाजिक बहिष्कार सहन न कर पाने पर अपनी पत्नी को छोड़कर वापस परिवार-समाज में लौट आता है-"गोतिया-समाज से कटकर रह नहीं सका किसुन! परिवार से टूटकर ब्याह किया था परंतु जैसे

[31] पठार पर कोहरा-पृ.33

ही नयी-नोहर बहुरिया का नशा उतरा, टुनियाँ को छोड़कर घर लौट आया। तब परित्यक्ता टुनियाँ के पेट में थी हँसुली।"[32]

पुरुष अपने क्षणिक कामनाओं हेतु स्त्री को हमेशा के लिए दुःखी कर जाता है। एक तो समाज से बहिष्कृत स्त्री ऊपर से गर्भवती फिर भी पुरुष अपने स्वार्थ हेतु थोड़ा भी नहीं सोचता। पुरुष के करतूतों का फल स्त्री को ही भोगना पड़ता है, उसे थोड़ी सी भी शर्मिंदगी अपने कर्मों के प्रति नहीं होती। कालांतर में टुनियाँ की बेटी हँसुली का भी वही ह्रास होता है। हँसुली की सुंदरता से प्रभावित होकर गाँव का मुखिया बिसनू मानकी उसके साथ विवाह कर लेता है। किंतु हँसुली की ओझा-भगतिन में रुचि के कारण उसे पति द्वारा घर से बाहर निकाल दिया जाता है- "कुँवारेपन से ही जंतर-मंतर, बिसाहा-बिसाही और ओझा-सोखा में रुचि लेने लगी थी हँसुली। बिसनू को हँसुली के भगतिन होने का पता चला था तो वह खौल उठा था। घर में डायन कौन बसाए?

"डइनी बहुरिया सूअर का लेंड़। न लीपने लायक, न जराने जोग...! के पेट निकल घर से... भाग डइनी!"

अपनी माँ के भाग्य का प्रतिबिंब बनी हँसुली...! परित्यक्ता हँसुली के पेट में भी तब बिसनू का अंश था।"[33]

पुरुष कुछ भी कार्य करने को स्वतंत्र हैं जबकि आदिवासी स्त्री को भी यह स्वतंत्रता हासिल नहीं हैं क्योंकि वहाँ स्त्री का भगतिन बनना बुरा नहीं माना जाता। आदिवासी समाज में भी अधिकांशतः पितृसत्तात्मक होने के कारण पुरुषों का वर्चस्व है और स्त्रियाँ उनकी मनमानी रवैया का शिकार होने के लिए बाध्य होती हैं।

<u>पुनर्विवाहिता</u>

'जंगल के गीत' उपन्यास में उराँव स्त्री झरिया के पति का प्राकृतिक प्रकोप (बिजली गर्जन) के कारण मृत्य होने पर कम उम्र में ही विधवा हो जाती है। विवाह के अनेकों प्रस्ताव आने पर भी झरिया राजी नहीं होती। किंतु नन्हें से पुत्र पुधना की

---

[32] जो इतिहास में नहीं है-पृ.409

[33] जो इतिहास में नहीं है-पृ.409

मौत आदमखोर भेड़िया के द्वारा होने पर वह नितांत अकेली हो जाती है। भावी भविष्य की चिंता एवं सुरक्षा हेतु फगुवा के शादी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है-"आगे अनदेखे भविष्य का एक लंबा, बेतरतीब सिलसिला था। अकेली औरत कब तक उन टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों में चल सकती है। नारी तो एक लता होती है, जिसे किसी दरख्त की परछाइयाँ और सहारे की बेहद जरूरत होती है।"[34]

स्त्री की यह मानसिकता कहीं-न-कहीं पुरुष प्रधान समाज के बीच पलने के कारण है। यहाँ स्त्री के वैधव्य जीवन से निष्कृति का चित्रण है।

<u>संतानहीनता (बाँझपन)</u>

संतानहीनता को लेकर स्त्री की उपेक्षा समाज के लिए कोई नयी चीज़ नहीं है। किंतु कई बार पुरुष की कमियों की गलती के कारण स्त्री को ही दुःखी होना पड़ता है। 'महुआ आम के जंगल' कहानी-संग्रह के 'ऊसर खेत' कहानी में मुदीवी संतानहीनता के कारण पति द्वारा उपेक्षा की शिकार हुई है। गोंड युवती मुंदरी माँझी की लड़की है, किंतु अपने पिता का कर्ज चुकाने हेतु नियुक्त लमहादा पिन्ना से विवाह करती है। पति से अत्यधिक स्नेह करने के बावजूद मुंदरी अपने पति से संतानहीनता के कारण बारंबार तिरस्कृत होती है-पति हर वक्त सौत लाने की धमकी देता है। मुंदरी का बाप बीरा भी उससे बिगड़ गया है। गाँव भर में कहता रहता है कि अकेली लड़की, वह भी उभन निकली। माँ जब कभी उससे मिलती है, कहती है-"बेटी, औरत एक खेत है। यदि खेत ऊसर हो जाय तो उसकी जगह नया खेत तैयार कर लेना चाहिए।"[35]

मुंदरी में संतानहीनता आरंभ से नहीं रही है बल्कि आदिवासी पंचायत में अपने पुत्र की हत्या के बाद वह पुनः माँ नहीं बन सकी। गोंड आदिवासी समाज में स्त्री को कभी-कभार न्याय के वास्ते अपने पुत्र का भी बलिदान करना पड़ता है। संतान काफी अरसे तक न होने की स्थिति में न केवल पति बल्कि अपने माँ-बाप भी उसे लगातार ताने देने लगते हैं। पति मुंदरी को सौत लाकर दासी बनाने की धमकी

[34] जंगल के गीत-पृ.65-66

[35] ऊसर खेत (महुआ आम के जंगल)-पृ.34-35

देने लगा। इन तमाम स्थितियों में मुंदरी मातृत्व सुख प्राप्त करने एवं स्वयं को दोषमुक्त साबित करने हेतु दूसरे युवक से संबंध कायम कर पुत्र प्राप्त करना चाहती है। समाज, पति एवं अपने संबंधियों के आक्रामक रुख के कारण स्त्री कई बार मातृत्व सुख प्राप्त करने हेतु अपराध करने को विवश नियति की ओर अग्रसर होती है। मुंदरी प्राकृतिक रूप से बाँझपन की शिकार नहीं है बल्कि पुरुष की कमियों के कारण मातृत्व से हीन है।

3.3.5 सामाजिक सक्रियता

अर्थगत सक्रियता

आदिवासी समाज में स्त्री की सक्रियता सर्वाधिक होती है। न केवल घरेलू कार्यों में बल्कि अर्थोपार्जन के लिए घर से बाहर भी उसकी सक्रियता पुरुष से अधिक होती है। सभ्य समाज में अर्थोपार्जन के लिए घर से बाहर स्त्रियों की सक्रियता नैतिकता के दबाव से अपेक्षाकृत कम रहती है भले ही वे भूखे क्यों न मर जाएँ। घर से बाहर खेतों के अधिकांश काम आदिवासी स्त्री के ही जिम्मे रहते हैं जिसे वे हँसते-गाते सहज ढँग से निपटा जाती हैं। कृषि कार्य से लेकर वनोपज संग्रह में आदिवासी स्त्री की निर्णायक भागीदारी होती है, जिसका उल्लेख साहित्य में बहुलांशतः मिलता है। इतना ही नहीं मुख्यधारा के स्त्रियों की तरह रोजगार के प्रति लगाव का न होना, इनकी मानसिकता से बाहर की बात है। वैसे मुख्यधारा के स्त्रियों का भी रोजगार के प्रति मानसिकता में बदलाव आ रहा है। भू-अधिग्रहण एवं वनोपज पर पाबंदी के कारण आदिवासी स्त्री मजदूर बनने की त्रासद् नियति से भी जुड़ती है। मजदूर के रूप में अर्थोपार्जन करते हुए एक ओर वह खेतिहर मजदूर बनती है तो दूसरी ओर श्रमिक मजदूर। आदिवासी स्त्री के श्रमिक मजदूर के अधिकांश चित्र संजीव के उपन्यासों 'सावधान! नीचे आग है', 'धार' एवं रमणिका गुप्ता के उपन्यास 'सीता-मौसी' में दिखाई देता है। खेतिहर मजदूर के रूप में आदिवासी स्त्री का वर्णन छिटपुट ढंग से आदिवासी साहित्य में मिलता है।

आर्थिक जहालत एवं अशिक्षा के कारण आदिवासी समाज सरकारी/गैर सरकारी नौकरी में काफी सीमित रूप में हैं। किंतु आधुनिक युग में ईसाई मिशनरी द्वारा शिक्षा के प्रचार एवं चेतना के कारण इस ओर इनकी भागीदारी धीरे-धीरे शुरू हो रही है। लेकिन फिर भी शिक्षा से नौकरी प्राप्त आदिवासी स्त्री के चित्र साहित्य में दुर्लभ रूप में मिलते हैं। हाल ही में प्रकाशित 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में असुर युवती सलोनी का लड़का कंपनी में अस्सिस्टेंट के तौर पर कार्यरत दिखाया गया है। इस नौकरी पर परिवार आश्रित है। 'सागर, लहरें और मनुष्य' उपन्यास में कोली आदिवासी रत्ना पढ़कर होटल व्यवसाय में पति का साथ देती है।

सेवा भाव (समाज-कल्याण)

हिंदी आदिवासी साहित्य में आदिवासी स्त्री को कई रूपों में समाज कल्याण के प्रति समर्पण भाव में लीन दिखलाया गया है। आदिवासी स्त्री में सेवा भाव दो रूपों में वर्णित हुआ है-पहला, स्त्री ने जीवन के विपरीत परिस्थितियों से तंग आकर सेवाभाव के प्रति उन्मुख हुई, दूसरा, स्त्री ने सहज रूप से जीवन में सेवा भाव को स्वीकारा है। असहज परिस्थितियों में जीवन से टूटकर जिन आदिवासी स्त्रियों ने सेवा भाव को चुना है उसका चित्रण 'लौटते हुए', 'सूरज किरण की छाँव', 'सागर, लहरें ओर मनुष्य', 'वनलक्ष्मी' आदि उपन्यासों में मिलता है।

'लौटते हुए' उपन्यास की नायिका सलोमी राँची के एक छोटे से गाँव से आर्थिक जहालत के कारण महानगर दिल्ली की ओर पलायन करती है। आयागिरी (नौकरानी) करते हुए उसे बारंबार बलात्कार का शिकार होना पड़ता है। अतः पुनः वह अपने गाँव आकर घर-परिवार से अलग मदर टेरेसा के सिस्टरों के संरक्षण में 'निर्मल ह्दय' में रहते हुए सेवा-कार्य से जुड़ जाती है-"मैं अब यहीं रहती हूँ। एक तरह से अब यही मेरा घर है। मैं यहाँ रहते हुए यहाँ के बच्चों की देखभाल करती हुई अपनी बेकार जिंदगी को साकार करने की कोशिश कर रही हूँ।"[36] कालांतर में सलोमी अपने पूर्व प्रेमी से शादी कर गाँव की लड़कियों को

[36] लौटते हुए-पृ.318

आत्मनिर्भर एवं चेतनशील बनाने के कार्य में लग जाती है 'सूरज किरण की छाँव' उपन्यास की केंद्रीय चरित्र गोंड युवती से धर्मांतरित मिसेज बेंजो पति द्वारा बेच दिए जाने पर होटल में देह व्यवसाय से मजबूरन जुड़ती है। किंतु अपनी सहेली ग्रेसरी द्वारा मुक्त कराने पर गाँव जाकर लोगों की सेवा करने का निश्चय करती है। 'सागर, लहरें और मनुष्य' की मुख्य पात्र रत्ना पढ़कर भी मुंबई के महानगरीय जीवन से काफी प्रभावित होकर पैसे का दिखावटी करनेवाला अधेड़ माणिक के संग विवाह कर लेती है। पति के लगातार हिंसक व्यवहार के कारण पति को छोड़कर कालांतर में जीवन-संघर्ष करती हुई रत्ना, शादी के लुभावने वायदे कर कई लड़कियों का जीवन-बर्बाद करनेवाला अधेड़ सेठ धीरुवाला के लुभावने झाँसे में पुनः आ जाती है। अंत में इस जीवन से ऊबकर रत्ना नर्स के रूप में सेवा करने लग जाती है। पूर्व जीवन को भुलाने के लिए मरीजों की सेवा तत्पर होकर करने लगती है।

'वन लक्ष्मी' उपन्यास में 'हो' आदिवासी युवती बुधनी आरंभ में जीवन के वैभव के प्रति काफी आकर्षित रहती है, किंतु जीवन का मर्म जानकर अपने ऐश्वर्यपूर्ण जीवन को त्यागकर सेवा-भाव में जी-जान से लग जाती है। अपने धनाढ्य अंग्रेज़ पति के विदेश चले जाने पर वह अपनी सारी संपत्ति अनाथालयों और चिकित्सालयों को दान दे देती है। इसके बाद भी बुदनी गरीब बच्चों की भलाई एवं सामाजिक परोपकार में लगी रहती-"उसकी कुटिया ठीक आश्रम सी लगती-वही देवोचित स्वच्छता, वही शांत वातावरण, वही पुनीत वायुमंडल। बुदनी ने सिलाई सीख रखी थी, दिन भर गरीब बच्चों के लिए कुरता-बंडी सिया करती। शाम को शिवदत्त के यहाँ जो सामाजिक बैठक हुआ करती उसमें बुदनी अवश्य जाती। इस बैठक में कंपनी का काम-धंधा या व्यक्तिगत चर्चा वर्जित थी। प्रसंग छिड़ता केवल नीति और धर्म का। ... छावनी में जहाँ कहीं कोई बीमार पड़ता कि बुदनी वहाँ पहुँच जाती। रोगी की सेवा-सुश्रूषा वह अपने हाथ में ले लिया करती थी। अथक परिश्रम

उसका, मोहक थी कर्म-निष्ठा।"[37] इतना ही नहीं बुदनी अपने सेवा-कार्य का दायरा बढ़ाते हुए शिक्षा की ओर भी उन्मुख होती है। जाहिर है आदिवासी स्त्री बुधनी का सेवा-भाव बहुत विस्तृत एवं व्यापक है-"सेवा-कार्य के अतिरिक्त अब शिक्षा-प्रसार की भी व्यवस्था हुई। मनोरमा ने एक रात्रि-पाठशाला खोली। श्रम-जीवी मर्द, औरत, बच्चे और गृहणियाँ, सभी के लिए यह स्कूल था। ... बुदनी भी पढ़ने आती और बड़े मनोयोग से अपना पाठ याद करती।"[38] शिक्षा के द्वारा न केवल स्वयं को बुधनी चेतनशील बनाती है बल्कि अधिकांश लोगों को जोड़ने की कोशिश भी करती है। शिक्षा द्वारा समाज के व्यापक समुदाय बच्चे, गृहणी, पुरुष-स्त्री को शामिल कर वह सामाजिक कल्याण में महत्वपूर्ण भागीदारी निभाती है।

'रक्तयात्रा' उपन्यास में नागाओं के आदिम से लेकर स्वाधीन भारत के जीवन-संघर्षों का चित्रण है। 'नया सवेराःसंघर्षों की राह' शीर्षक के तहत स्वाधीन हो रहे भारत के राजनीतिक परिदृश्य के समानांतर नागा-मुक्ति संघर्ष के रूप में स्वतंत्र नागालैंड बनाने की माँग का उल्लेख हुआ है। नागा युवती विचो आरंभ में इस मुक्ति-संघर्ष से जुड़कर जो नागा युवक मुक्ति-संघर्ष के दौरान घायल होते उसकी चिकित्सा करती थी। नर्सिंग की ट्रेनिंग स्त्रियों को देने में मिशनरी की महती भूमिका रही है। बिचो का सेवा भाव मूलतः अपने अंडरग्राउंड नागाओं के प्रति है जो मुक्ति-संघर्ष से जुड़े हैं। "उसने नर्सिंग की ट्रेनिंग ली थी। वह आसाम राइफल के जवानों से मुठभेड़ों में घायल होमगार्डों की मरहम-पट्टी करती। उनके घावों को देख-देखकर नफरत की आग से भर उठती।"[39] किंतु कालांतर में हिंसक आंदोलन के कारण अपने ही लोगों की नृशंस हत्या, लूटपाट, आगजनी, जबरन वसूली, स्कूल एवं अस्पताल को ध्वस्त किये जाने आदि से विरक्त होकर सामान्य जीवन जीने की चाह में अपने माँ के गाँव जोतसोमा आकर होमगार्डों की वर्दियाँ बनाती है। फिर

---

[37] वन-लक्ष्मी-पृ.178-179
[38] वन-लक्ष्मी-पृ.181
[39] रक्तयात्रा-पृ.195

गाँव में बर्ड फ्लू बीमारी फैलने पर फौजी डॉक्टर के साथ मिलकर मरीजों की देखभाल करने लगती है।

राजनीतिक गतिविधि में भागीदारी

आदिवासी स्त्री की राजनीतिक गतिविधियों में सक्रियता की दृष्टि से ‘रेत’ उपन्यास सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसमें विमुक्त कंजर समुदाय की स्त्री रुक्मिणी की राजनीतिक गतिविधियों में संलिप्तता दिखाई देती है। जब युवा नेता मुरली के सुझाव पर पार्टी ‘जनजाति महिला प्रकोष्ठ’ बनाने की अनुमति देती है तो रुक्मिणी को प्रदेशाध्यक्ष बनाया जाता है। कंजर समाज का वोट बैंक हासिल करने एवं दैहिक भोग की लालसा के कारण युवा नेता मुरली रुक्मिणी को इस पद के लिए चुनता है। किंतु कंजर स्त्री को पद मिलने की समाचार सुनते ही तथाकथित सभ्य समाज की सक्रिय महिला कार्यकर्ताओं में विरानी छा जाती है-"जैसे ही कुछ दिनों बाद समाचार पत्रों के माध्यम से यह समाचार आया कि रुक्मिणी के हाथों में पार्टी ने ‘राज्य युवा जनजाति महिला प्रकोष्ठ’ की कमान सौंप दी है, उस दिन अनेक कर्मठ महिला कार्यकर्ताओं ने मूर्च्छित हो चारपाई पकड़ ली।"[40] युवा नेता मुरली की रखैल सावित्री मल्होत्रा को इससे सबसे ज्यादा निराशा होती है क्योंकि वह वर्षों से पार्टी की कार्यकर्ता थी। दरअसल समाज-सेविका सावित्री मल्होत्री जिस देह-दर्शन का मंत्र रुक्मिणी को अपने जीवन का भाग्य पलटने के लिए बताती है उसी का उपयोग कर न केवल राजनीति में उसे हटाती है बल्कि युवा नेता मुरली को भी मात देती है।

खिलावड़ी अर्थात् देह-व्यापार करनेवाली कंजर स्त्री की भी अपनी अस्मिता व आकांक्षा होती है। किंतु राजनेताओं की कामुक वृत्ति के लिए स्त्री की इच्छाओं की कोई अहमियत नहीं होती। युवा नेता मुरली जब जब रुक्मिणी के इच्छा के विरुद्ध उसके साथ दैहिक-संबंध स्थापित करना चाहता है तो रुक्मिणी बोतल तोड़कर मुरली के पेट में घुसा देती है और बाद में अस्पताल जाकर मुरली से माफी भी माँगती है। यह घटना रुक्मिणी के जीवन का रास्ता बदल देती है और उसके मन में

[40] रेत-पृ.211

बदला लेने की एक अलग तरह की बेचैनी छा जाती है। नतीजा यह होता है कि रुक्मिणी भी राजनीति करना सीख जाती है और वह मुरली को उन्हीं से सीखी चालों से 'मात' देकर हरा देती है। विधान सभा के चुनावों में मुरली द्वारा नामांकन करते वक्त रुक्मिणी उसके अश्लील तस्वीरों को अखबार में छपवा देती है। इस प्रकरण के फलस्वरूप विधान सभा के चुनाव में मुरली के स्थान पर रुक्मिणी का नामांकन होता है। रुक्मिणी अपने ढंग से बदला लेती है और सभी को परास्त करके चुनाव लड़कर प्रदेश की राजनीति में उपमंत्री पद भी पा लेती है। राजनीति में वजूद कायम रखने के लिए ताकत के रूप में दौलत, रूप एवं देह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। रुक्मिणी के पास ये सारी चीज़ें उपलब्ध थीं-"अब जाकर पता चला है कि ताकत चाहे दौलत के हो या रूप और देह की, वह कितनी बड़ी होती है। अगर इनमें से एक भी आपके पास है तो समझो आपसे बड़ा ताकतवर कोई नहीं है... और अगर सारी हैं तो कहना ही क्या... मेरे पास आज तीनों हैं।"[41]

जो कंजर स्त्री रुक्मिणी देह के लिए अपमान सहती है उसी देह का उपयोग कर जीवन में सब कुछ हासिल कर लेती है।

कंजर स्त्री का राजनीति में शामिल होने पर मुख्यधारा के लोगों की क्या प्रतिक्रिया होती है इसका भी उपन्यास में चित्रण हुआ है। कंजर समाज एवं उसकी स्त्रियों के प्रति तथाकथित भद्र समाज का दृष्टिकोण उपेक्षापूर्ण एवं हीन है-"मैं, रुक्मिणी कंजर, सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करती हूँ... । और उधर सामने उपस्थित भद्रलोक में बेचैनी व्याप गई। फुसफुसाहटों का बाज़ार गरम हो गया।

क्या SSS रुक्मिणी कंजर?

कंजर मायने, चोर-डकैत?

जिनकी औरतें धंधा करती हैं, वही?

फिर तो यह भी... राम... राम... राम!

देखो तो कैसी साड़ी पहनकर आई है, एकदम नीली झक्क्... पहनने-ओढ़ने का भी ढंग नहीं है।

---

[41] रेत-पृ.323

क्या यह वही है जिसे अपने मुरलीजी का टिकट काटकर दिया गया है? बेचारा मुरली।

एक के बाद एक दंभ, उपेक्षा, तिरस्कार, संदेह की कीच में लिपटे वाक्य रह-रहकर उछलते रहे।

कैसा समय आ गया है, चोरी-चकारी करनेवाले अब हमारे रहनुमा बनेंगे...

हम पर हुकुम करेंगे।

लो, हो गया बंटाधार... मोरों की रखवाली अब चोर करेंगे।

भाई साब, इसी को तो कहते हैं लोकतंत्र

घंटे का लोकतंत्र। इससे तो गुलाम ही अच्छे थे हम...।"[42]

आजादी के वर्षों बाद भी लोगों की मानसिकता में कंजर समाज के प्रति कोई बदलाव नहीं आया है। सत्ता के पद पर लगातार रहने के कारण सत्ता से बेदखल होने पर उनकी बौखलाहट समझ में आती है। कंजर वो भी स्त्री हो तो उनकी बौखलाहट और बढ़ जाती है। वर्षों से शोषण एवं अपमानित करते हुए एकाएक सत्ता पर काबिज होते देखकर उन्हें अस्मिता पर चोट पहुँचाती है। शपथ लेते समय कंजर स्त्री रुक्मिणी ईश्वर की शपथ न लेकर सत्यनिष्ठा की शपथ लेती है। दरअसल आचरण व कर्म का द्वैत सभ्य समाज में होता है। कंजर होकर भी भगवान की झूठी शपथ न खाना कहीं-न-कहीं उसके आचरण को प्रमाणित करता है। वैसे कंजर ईश्वर या भगवान को नहीं मानते।

आदिवासी स्त्री की राजनीतिक सक्रियता का सूक्ष्म रूप 'पठार पर कोहरा', 'सीता मौसी', 'धूणी तपे तीर', 'जंगल के गीत', 'रक्तयात्रा' आदि उपन्यासों में छिटपुट रूप से दिखाई देता है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास की नायिका मुण्डा स्त्री रंगेनी 'कोपरेटी सुसाटी' की दूसरी पंच है तथा फागुनी उराँव का चयन कोषाध्यक्ष के रूप में किया गया है। 'सीता-मौसी' उपन्यास में सीता यूनियन के हर कार्यक्रम में बढ़-चढ़ कर भाग लेती थी, पति के मनाही के बावजूद "यासीन मियाँ के रोकने के

---

[42] रेत-पृ.310

बाद भी सीता यूनियन के हर कार्यक्रम में आगे रहने लगी थी और सरकारीकरण के आंदोलन के समय और बाद में भी वह ग्रामीणों और बचे हुए मजदूरों के रोजगार की लड़ाई में लीडर बन गई थीं। आंदोलन के दौरान वह और सरस्वतिया, दोनों ही जेल हो आई थीं। झंडा लेकर आगे चलना हो, पुलिस का मुकाबला करना हो या ठेकेदारों को 'गरियाना' (गाली देना) हो तो सीता आगे रहती थी।"[43]

पति सत्ता पक्ष का तरफदार होने के कारण न तो स्वयं खदान के असमाजिक गतिविधियों का विरोध कर पाता है साथ ही अपनी पत्नी सीता को भी ऐसा ही करने पर मजबूर करना चाहता है। किंतु अपने एवं गरीबों के अधिकार के लिए यूनियन की लड़ाई में सीता न केवल आगे रहती है बल्कि समझौतापरस्त व्यक्तियों की जमकर खबर लेती है। आदिवासी श्रमिक जीवन की निर्भीकता ही उसे संघर्षशील एवं जीवट बनाती है।

'जंगल के गीत' उपन्यास में बड़का धांगरिन के रूप में उराँव बाला जितनी एवं करमी का चयन होता है। 'रक्तयात्रा' उपन्यास में नागा-मुक्ति-संघर्ष आंदोलन में स्त्रियों की भागीदारी को लेकर 'नागा वीमेंस सोसायटी' का गठन होता है जिसकी मेंबर नागा युवती विचो भी बनती है। 'धूणी तपे तीर' में सम्प सभा के गतिविधियों में बंजारा व अन्य स्त्री की भी भागीदारी दिखाई देती है। यह सभा औपनिवेशिक समय में मूलतः लोगों में जागरण संदेश देती थी। जागरण आंतरिक जीवन एवं बाह्य रूप में अंग्रेज़ों एवं शोषक वर्गों के खिलाफ था।

3.3.6 स्त्री शोषण के विविध कारक

3.3.6.1 बाह्य या विदेशी कारक

हिंदी आदिवासी साहित्य में आदिवासी स्त्री का शोषण कारगर तरीके से औपनिवेशिक साम्राज्य के ज़माने से दिखलाई पड़ता है। अंग्रेज़ों ने औपनिवेशिक संसाधनों को निर्मम तरीके से दोहन किया जिसमें सबसे ज्यादा संकटग्रस्त आदिवासी समुदाय ही हुआ। आदिवासी ज़मात के अस्तित्व-संकट की कीमत आदिवासी स्त्री को

---

[43] सीता-मौसी-पृ.43

अपने शोषण के फलस्वरूप चुकानी पड़ी। विदेशी कारक के रूप में अंग्रेज़ों द्वारा शोषण के चित्र 'जो इतिहास में नहीं है', 'जंगल के आसपास', 'जंगल के फूल' आदि उपन्यासों एवं 'महुआ आम के जंगल' कहानी-संग्रह में दिखाई देता है। औपनिवेशिक शासक अंग्रेज़ों की भोगवादी प्रवृत्ति ने भी आदिवासी स्त्री के प्रति मनमाना व्यवहार करने को प्रेरित किया। अंग्रेज़ अधिकारियों के दैहिक कामना की पूर्ति अक्सर स्वार्थवश भारतीय नुमाइंदे ही किया करते थे ताकि अंग्रेज़ों की दृष्टि में विश्वास पात्र बने रहें। जानवर का शिकार करते-करते अंग्रेज़, आदिवासी स्त्री के शिकार से भी बाज नहीं आते-"अंग्रेज़ अधिकारी दौरे पर आते रहते थे। जंगल में हाँका लगवाकर वन्य पशुओं का शिकार खेलते थे अधिकारी। शिकार हिंस्र पशुओं का। शिकार निरीह वनवासी बालाओं का...। अंग्रेज़ अधिकारियों के मनोरंजन हेतु ऐसे वनवासी शिकार की व्यवस्था सौदागर सिंह और गोरखनाथ साहू की जिम्मेदारी होती थी।"[44]

आदिवासी स्त्री का दैहिक शोषण करवाने में महत्वपूर्ण भूमिका स्थानीय सामंत, ठेकेदार, साहूकार एवं वनरक्षक आदि की होती थी। कई बार अंग्रेज़ अधिकारी की दैहिक पिपासा इतनी अधिक हो जाती थी कि वे देहखोर भेड़िया का रूप अख्तियार कर लेते थे। स्वतंत्रता के बाद भी अंग्रेज़ों का आदिवासी स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में खास बदलाव नहीं आता। 'जंगल के आसपास' उपन्यास में मानवभक्षी बाघ के आतंक से बचाने आये हुए प्रसिद्ध अंग्रेज़ शिकारी राबर्ट वस्तुतः स्वयं ही मानवखोर है जो तरह-तरह के लुभावने देकर गरीब आदिवासी बच्चियाँ व हिंसा के बल पर स्त्रियों से अक्सर व्यभिचार करने से बाज नहीं आता-"रात के स्याह अँधेरे में राबर्ट ने जो पाशविक लीला की थी उसका न तो उसको कोई पछतावा था और न ही किसी प्रकार की कोई शर्म। भीड़ भी जैसे उस लीला को कोई खास अहमियत नहीं दे रही थी। शायद वह समझ रही थी कि वितवा की नाबालिग बेटी की इज्जत लूटने

---

[44] जो इतिहास में नहीं है-पृ.83-85

का काम भी प्रेत ने ही किया है और राबर्ट उस प्रेत को साधने वाला कोई विदेशी ओझा है।"[45]

दरअसल परंपरागत मान्यताओं व जड़ता में चिपका समाज मानव के रूप में नरभक्षी अंग्रेज़ का प्रतिरोध करने में भी असमर्थ है। आश्चर्य की बात तब सामने आती है जब अपनी गुलामी, शोषण को ही जीवन मान लेनेवाले आदिवासी समाज की इस त्रासद् स्थिति के बीच विद्रोह का स्वर शारीरिक रूप से विकलांग स्त्री जमना के माध्यम से सामने आता है। भीड़ के बीच में से घुसकर राबर्ट द्वारा आदिवासी स्त्री के प्रति व्यभिचार का विरोध जमुना तल्ख शब्दों में करती है-"थोड़ी देर बाद ही मकान के अंदर से लड़की की चीखें सुनाई देने लगीं। चीखों के साथ ही कुछ इस तरह की उठा-पटक की आवाज़ें भी, जैसे कोई अरनी भैंस अपनी जान बचाने के लिए किसी बाघ के साथ युद्ध लड़ रही है। लेकिन तमाशे के दायरे में खड़ी भीड़ पर इसका भी कोई असर नहीं हुआ। सबके सब इस सबको ऐसे देखते और सुनते रहे जैसे सिनेमा के रंगीन पर्दे पर बलात्कार का दृश्य देख रहे हों।

पर जमना यह सब सहन नहीं कर सकी। उसके अपाहिज शरीर में पड़ा संवदेनशील स्वस्थ मन कलप उठा। ... और दहाड़कर बोली, कमीनों! तुम्हारी बहू-बेटियों की लाज तुम्हारी आँखों के सामने एक विदेशी फिरंगी लूट रहा है और तुम इस तरह से पत्थर के बुत बन खड़े हो। डूब मरो कुत्तों, चुल्लू भर पानी में डूब मरो।"[46]

स्त्री ही स्त्री का दर्द समझ सकती है। अतः विद्रोह का स्वर स्त्री के बीच से फूटता है। अतीत में वैभवशाली परंपरा के वाहक आदिवासी समाज की जड़ता चिंता का विषय है। जिस स्त्री के प्रति उस समाज में विशेष श्रद्धा भाव रहा है उसी के प्रति संवेदनहीनता किन्हीं ठोस कारणों पर विचार करने को मजबूर करती है। दरअसल लगातार रौंदा-कुचला, अपमानित, जहालत एवं अंधेरे में जीने को विवश यह समाज अचेतन होकर निष्क्रिय होता जा रहा है।

---

[45] जंगल के आसपास-पृ.142
[46] जंगल के आसपास-पृ.144

अंग्रेज ने अपनी समृद्धि हेतु मनमाने कार्य आदिवासियों पर थोपने लगे। नील की खेती आदिवासियों को न केवल मजबूरन करनी पड़ी वरन् न करने की उन्हें कीमत भी चुकानी पड़ती थी। आरंभ में नील की खेती के प्रति लालच देकर उन्हें इस ओर उन्मुख किया किंतु बाद में नील का क्रय मूल्य एवं मजदूरी एकदम से घटा दी गयी। इस तरह से नीलहे साहब ने न केवल नील की खेती में संलग्न आदिवासी स्त्री का आर्थिक शोषण किया वरन् शारीरिक शोषण करने से भी बाज नहीं आये-"नील की खेती न करने के अपराध में अनेक वनवासी नीलहे साहबों की नील कोठियों के तहखाने में सड़-सड़ मरे। अनगिनत वनजाएँ नील गोदामों में सामूहिक बलात्कार का शिकार बनकर नीली पड़ गयीं। कुछ ने फाँसी लगा ली, कुछ नदी-ढोंढा में फाँद गयीं... कुछ ने बच्चे भी जने। जंगली जानों के आने-जाने का लेखा कंपनी राज के इतिहास में नहीं है, क्योंकि वनमानुषों के जीवन-मरण का लेखा मनुष्य नहीं रखते।"[47]

अपने को विश्व में सर्वाधिक सभ्य माननेवाले अंग्रेज़ों का व्यवहार कितना बर्बर व अमानवीय था यह किसी से छुपा नहीं था। जो जाति स्त्री के प्रति इस हद तक संवेदनहीन हो सकता है उसे सभ्य मानने पर आश्चर्य ही होता है। "इतिहास की अजीब विडंबना है कि आखिर आदिवासी स्त्रियों के प्रति इस बर्बरता का उल्लेख इतिहास में कहीं क्यों नहीं मिलता? इसका एकमात्र कारण यह है कि इतिहास लेखन औपनिवेशिक दृष्टि से संचालित था।

इतिहास में किसी भी विद्रोह की कीमत किसी ने सर्वाधिक चुकायी है तो वह स्त्री ही है। संथाल विद्रोह के मंद होते ही अंग्रेज़ों ने न केवल आदिवासियों के गाँव-के-गाँव जला दिये वरन् आदिवासी स्त्री के प्रति सबसे ज्यादा हिंसक नज़र आये। सब के साथ संथाल स्त्रियों पर भी मनमाने अभियोग थोपकर जेल में डालकर अंग्रेज़ अधिकारी अपनी सफलता का सबूत पेश करने में लगे थे। अंग्रेज़ सैनिकों के समस्त खीज, क्रोध और कुंठा के शिकार निरपराध आदिवासी स्त्रियाँ व किशोरियाँ बनती। गाली सुनना व हिंसा का शिकार उनके दैनिक जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन

[47] जो इतिहास में नहीं है-पृ.128

गया था, इन सब का उल्लेख 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में मिलता है। हूल के पश्चात् अंग्रेज़ों द्वारा इतना बर्बर व अमानवीय व्यवहार किया जाता है कि पूरी युवा पीढ़ी ही खत्म हो जाती है, नजर आते हैं सिर्फ बच्चे और वृद्ध।

3.3.6.2 आंतरिक या देशी कारक

किसी भी तंत्र को सुदृढ़ रूप से कायम रखने में उसके एजेंटों की निर्णायक भूमिका होती है। आज़ादी के पहले औपनिवेशिक काल में राज्य के नियंता राजा हो अथवा आजादी के बाद राष्ट्र-राज्य, सबका अस्तित्व विभिन्न शक्ति संस्थानों के माध्यम से चलता रहा है। राज्य अपने को स्थायित्व प्रदान करने हेतु हिंसा एवं शोषण की प्रक्रिया को अपनाता है जिसमें मददगार जमींदार, ठेकेदार, साहूकार, राज्य के विविध कारिंदे, वन अधिकारी एवं पुलिस की महती भूमिका रही है। राज्य के हित में काम करनेवाले विभिन्न एजेंटों द्वारा सत्ता एवं शक्ति के बल पर आए दिन गरीबों के साथ खिलवाड़ करना आम बात हो गई। शक्ति संगठन के विविध एजेंटों द्वारा सबसे ज्यादा त्रासद अनुभव आदिवासी समाज के लिए रहा है। आदिवासी स्त्रियाँ भी इन शक्ति संगठनों के बर्बर अमानवीय व्यवहार का शिकार होने लगीं। हद तो तब हो गई जब देश के अपने ही लोग अपनों का शोषण एवं अपनों को परेशान करने लगे ताकि सत्ता की नज़र में उनकी अहमियत हो। 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में राज्य के कारिंदे-अहलकार, रियासती जागीरदार और उनके छुटभैये आदि द्वारा आदिवासी स्त्री के साथ छेड़खानी करने का कई जगह प्रसंग आया है। कभी लगान के नाम पर, कभी वनोपज के पाबंदी तो, कभी गरीब आदिवासी स्त्री को लोभ-लालच देकर दुर्व्यवहार एवं शारीरिक हिंसा आम बात नज़र आने लगी- "हारिल मुरमू को नहीं लगा कि कोई आदिवासी कुरी स्वेच्छा से राजा गोमके की हवेली पर आती है।

कोई आती थी अपने बाबा-भाई द्वारा लिये गये पुराने कर्ज का सूद चुकाने। कोई आती थी जाने-अनजाने निषिद्ध वनक्षेत्र में प्रवेश का दंड भोगने। हँड़िया के नशे में मताल कोई आदिवासी यदि राजा गोमके के घोड़े के सामने पड़ जाता तो

उसके घर की लड़की भी उसके अपराध का दंड भोग सकती थी। अपराध का दंड या प्रायश्चित बिना 'गुनहगारी' भरे कैसे संभव था?

नारी-कंठ की चीख सुन हारिल मुरमू का मन रिसरिसा उठा था।"[48]

यहाँ अपराध होना कोई खास मायने नहीं रखता है। अपराध कोई भी हो दंड स्त्री को भुगतना होगा इससे सत्ता तंत्र की नीयत साफ रूप में उजागर होती है। किंतु नयी पीढ़ी आदिवासी स्त्री के प्रति इस तरह हो रहे अपमान से विचलित हो उठती है। नयी पीढ़ी ज्यों ही आदिवासी स्त्री के प्रति हो रहे अत्याचार के विरोध में आगे बढ़ता है, पुरानी पीढ़ी उसे रोक लेती है। पुरानी पीढ़ी अत्याचार से इस कदर पीड़ित है कि आसन्न संकट के भय से कोई भी प्रतिकार नहीं कर पाती साथ ही दूसरों को भी ऐसा करने से रोकती है-"चुप रह! होर कुरी नईं है। मुँह साट के बैठ। का जाने कहाँ से घर कर लाया है ठीकेदरवा।"

"कहीं से लावे। है तो आदिवासिन।" हरिल ने बुदबुदाकर कहा।"[49]

जाहिर है नयी पीढ़ी आदिवासी स्त्री के शोषण को समझ कर संवेदनशील हो उठता है। पुरानी पीढ़ी शोषण को वर्गीकृत नज़र से देखती है अतः वह ज्यादा संवेदनशील नहीं है। शोषण से मुक्ति का एकमात्र रास्ता संगठन अर्थात् एकता में ही है। इस बात को नयी पीढ़ी का हारिल समझता है और प्रतिरोध के लिए आमदा हो उठता है। आदिवासी स्त्री को वर्गीकृत कर न देखने के कारण वह शोषण के खिलाफ बेचैन नज़र आता है। चुप्पी कहीं-न-कहीं शोषण को बढ़ावा ही देती है यही कारण है कि असंगठित होने के कारण संथाल (होर) स्त्री चंपिया भी एक दिन वनरक्षक व अंग्रेज़ वनाधिकारी के समक्ष बलत्कृत होकर मौत पाती है जिसका उल्लेख 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास के अंतर्गत हुआ है।

वन अधिकारी

औपनिवेशिक शासक अंग्रेज़ों ने अपने आर्थिक हितों की पूर्ति हेतु नये वन-नीति के माध्यम से आदिवासी समाज को वनोपज के उपयोग पर पाबंदी लगा दी।

[48] जो इतिहास में नहीं है-पृ.85
[49] जो इतिहास में नहीं है-पृ.86

स्वाधीनता के बाद राज्यों द्वारा वन संसाधनों का व्यावसायिक लाभ, राजस्व प्राप्ति एवं वन-संरक्षण के नाम पर तरह-तरह के वन कानून बनाकर वनों के उपयोग से वंचित किया जाने लगा। वन कानून की आड़ में अधिकारियों द्वारा आये दिन आदिवासी समाज से टकराहट होने लगी क्योंकि आदिवासी अपने आदिम अधिकार से एकाएक बेदखल किए जाने को स्वीकार्य करने की स्थिति में नहीं थे। वन से मानसिक व भावनात्मक लगाव व आर्थिक निर्भरता ने आदिवासियों को वनोपज को हासिल करने हेतु अपराध यथा-चोरी आदि को भी प्रेरित किया। वन से संबंधित गतिविधियों में स्त्री की भी महत्वपूर्ण भागीदारी रही है किंतु अधिकांशतः आदिवासी स्त्री को इसकी भारी कीमत देकर चुकानी पड़ी है। औपनिवेशिक काल में वनरक्षक द्वारा आदिवासी स्त्री के शोषण का चित्र 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में मिलता है। बंजारा स्त्री दल्ली द्वारा जंगल से लकड़ी काटने पर वनरक्षक उसके साथ शारीरिक बल-प्रयोग करते हुए अपशब्द (गाली) कहने से बाज नहीं आते-"जंगली जिनावरों के हमलों के किस्से तो दल्ली ने सुने थे लेकिन इस कदर 'वन मानुष' झपट्टा मारेंगे, यह दल्ली का पहला कटु अनुभव था। पथरीली जमीन पर गिरने से दल्ली के माथे पर चोट लगी थी। वह उसे ससोड़ती हुई खड़ी हुई और साहस बटोर कर भागने का प्रयास करने लगी।

"'चोट्टी कहीं की, जंगल बर्बाद करती है और बचकर भागना चाहती थी।' दूसरे वन रक्षक ने डांटते हुए दल्ली की बाँह पकड़ी।"[50]

इतना ही नहीं वनरक्षक अपने सीनियर रेंजर किसन सिंह के कहने पर सूबेदार लियाकत अली के लिए बंजारी युवती को पेश करता है। रेंजन किसन सिंह दल्ली द्वारा लकड़ी चोरी करने के जुर्म-माफी के बदले दैहिक समझौता का प्रस्ताव रखता है-"भीतर बड़े साहब बैठे हैं। झिझकने और डरने की जरूरत नहीं है। लकड़ी चोरी की है। जुर्म कबूल कर लेना। साहब भले आदमी हैं। माफ कर देंगे। बस, थोड़ी उनकी बात रख लेना। दल्ली के भीतर घुसने के पहले ही सूबेदार हिंसक जिनावर की

---

[50] धूणी तपे तीर-पृ.343

तरह शिकार पर हमला करने के लिए तैयार बैठा था। ... भचीड़ मारी थी दीवार के और धान की पूली की तरह उठाकर पटका था पलंग पर। जैसे बकरी के जवान बच्चे को भेड़िया फफेड़ता है वैसे रौंदा था दल्ली को।"[51]

वनाधिकारी अपने-अपने अफसरों को खुश करने का माध्यम आदिवासी स्त्री को ही चुनता है। अधिकारी न केवल स्त्री के प्रति अभद्र टिप्पणी करते हैं बल्कि सूबेदार का वहशी रवैया उसके मानसिक विक्षिप्तता को भी दर्शाता है। दरिंदगी भरे इन कारनामों का कहीं-न-कहीं अंग्रेज़ अधिकारियों का भी समर्थन मिलता है क्योंकि आये दिन उन्हें भी इसका लाभ मिलता था। आर्थिक रूप से दयनीय व शिक्षा की कमी से चेतनता के अभाव के कारण आदिवासी समाज अपने को स्त्री के अपमान का प्रतिरोध कर सकने में असमर्थ पाता है। सत्ता तंत्र का शक्तिशाली होना भी इस रास्ते में बाधक बनकर सामने आता है। सरकार द्वारा आदिवासी समाज के खिलाफ बनाये गए वन-कानून में धुँधलापन भी शोषण को अक्सर बढ़ावा ही देता है।

इसी तरह 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में औपनिवेशिक काल में बिरहोर लड़की द्वारा बंदर पकड़ने के जुर्म की सजा जंगल बाबू के साथ मजबूरन दैहिक संबंध स्थापित करने के रूप में मिलती है। बिरहोर लड़की द्वारा लगातार माफीनामा व विनती माँगने पर भी महाजन का दिल नहीं पसीजता और वह लडकी को आखिरकार जंगल बाबू को ही सुपुर्द करके मानता है-"जाने कैसे दे रे? तुझे तो जंगल बाबू के पास चलना ही होगा। तू जंगल बाबू का मन खुश कर दे... छूट जाएगी।"

जंगल बाबू को प्रसन्न करने का अर्थ हर वनवासी जानता था। महाजन जरूर जंगल बाबू के पास सलामी देने जा रहा था। सलामी के रुपये के साथ आज अनाज नहीं, देह थी। जंगल बाबू को यदि बिरहोर लड़की पसंद आ गयी तो इसके साथ सोएगा जंगल बाबू।"[52]

---

[51] धूणी तपे तीर-पृ.345

[52] जो इतिहास में नहीं है-पृ.46-47

वर्गीय हित साधने वाले शोषक तंत्र में आपसी एकता कायम थी। महाजन का हित जंगल बाबू से सधता था अतः उसके लिए कुछ भी करने को तैयार था। अक्सर गरीब, असहाय आदिवासी लड़कियाँ ही किसी-न-किसी बहाने उनके शिकार बनते थे। इसी उपन्यास में आगे जंगल से लड़की बटोरने के जुर्म में संताल लड़कियों को वनरक्षक अपने अंग्रेज़ वनाधिकारी देहखोर भेड़िया जेम्स एण्डरसन को सौंपता है। इतना ही नहीं गर्भवती चम्पिया के प्रति हिंसक व्यवहार अपनाते हुए फरसगाड उसे थाना ले जाता है जुर्म के रूप में उसके बाप को कर्ज ठोका जाता है। वनरक्षकों के हिंसक रवैये के कारण उत्पीड़ित (बलत्कृत) संथाल स्त्री चंपिया को जंगल में फेंक दिया जाता है जंगली जानवरों के हवाले।

पुलिसः

पुलिस की व्यवस्था सत्ता तंत्र द्वारा अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने एवं जनता की सुरक्षा के लिए की जाती रही है। किंतु यह अजीब विडंबना है कि जिसे समाज की सुरक्षा एवं सहारा देने के लिए नियुक्त किया गया है वही समाज का भक्षक बन जाता है। स्त्री जाति विशेषकर दलित व आदिवासी स्त्री के प्रति पुलिस का रवैया काफी चिंतनीय है। निचले तबके की स्त्री असहाय होने के कारण अक्सर पुलिसिया हिंसक रवैया का शिकार होती है।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास में थारु स्त्रियों की गरीबी, मजबूरी तथा अकेलेपन का फायदा पुलिस द्वारा उठाते हुए दिखाया गया है। वे आसानी से हजम करने हेतु नरम चारा की तरह हैं। मलारी को पुलिस डाकुओं से मिला हुआ समझकर पकड़ती है। पूछताछ के दौरान न बताने पर पुलिस उस पर बेरहमी से टूट पड़ती है, तब वह कहती है-"हाकिमहमरा कसूर बस इतना है कि गरीब हैं, औरत जात हैं, जो ही आता है, डरा-धमका के जबरदस्ती करने को मगजूर (मजबूर) करता है।"[53]

इतना कहने पर भी पुलिस उस पर रहम नहीं खाती बल्कि और ज्यादा यातना देने लगती है। पुलिस थारु स्त्री मलारी के साथ एक बड़े डाकू जैसा वहशी व्यवहार

---

[53] जंगल जहाँ शुरू होता है-पृ.196

करने लगती है-"सहसा सुदर्शन सिंह का चौड़ा हाथ उसके मुँह पर पड़ा और वह खाट पर सीधे जा भहराई। प्रेमप्रकाश ने सीधे राइफल तान ली, बोल भोंसड़ी। रंडी, कुतिया...। बोल, मादरचोद। ... नहीं तो राइफल तेरे पेट में डाल देंगे।"[54]

आदिवासी थारु स्त्री की मजबूरी यह है कि एक ओर डाकू उससे जबरदस्ती करते हैं तो दूसरी ओर डाकू को मदद देने के नाम पुलिस हिंसक रवैया अपनाती है। कानून में स्त्री के प्रति शारीरिक हिंसा व गाली-गलौच की साफ मनाही है किंतु कानून के रखवाले ही अक्सर कानून की धज्जियाँ उड़ाते नज़र आते हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब कुमार जैसा ईमानदार, नैतिक पुलिस ऑफिसर भी दारू के नशे में, पांडेय द्वारा नंगी औरतों की तस्वीर देखकर, काम-पिपासा को शांत करने हेतु मलारी के साथ जबदरस्ती अनैतिक रूप से शारीरिक संबंध बनाता है-"लोग कैसे जाहिल हैं। तुम्हारी जैसी परी को भी छोड़ देते हैं। हमसे तो नहीं छोड़ा जा सकता है। वह अपनी बलिष्ठ बाहों में भरकर बच्चे की तरह उठा लेता है, और कसता, चूमता चला जाता है, जैसे कोई लंपट।"[55]

सवाल यहाँ यह उठता है कि जब समाज के रक्षक ही भक्षक बन जाएँ तो सामान्य लोगों में उनकी विश्वसनीयता का क्या होगा? अकारण नही ंहै कि लोग डाकू व नक्सली बनने पर मजबूर हो रहे हैं। ऐसे हादसों की शिकार स्त्री की मानसिक स्थिति एवं सामाजिक प्रताड़ना क्या उसे सामान्य जिंदगी जीने देगी? मलारी की नियति का शिकार उपन्यास में बिसराम की पत्नी भी होती है जब बगैर किसी अपराध के पुलिस बिसराम को ढूँढ़ती है और न मिलने पर उसकी बीमार पत्नी को उठाकर ले जाती है और सजा के तौर पर उसका बलात्कार किया जाता है। पुलिस द्वारा स्त्री के बलात्कार की घटनाएँ आए दिन सुनने को मिलती रहती हैं। वर्तमान समय में जो समाज दुःख की यातना को भोगता है प्रतिरोध का स्वर देर-सबेर वहीं से निकलता है। इसी तरह जब पुलिस परेमा की बीबी और बच्चे को थाने ले जाने आती है तब बाकी आदिवासी उन पर टूट पड़ते हैं और पुलिस वहाँ से भाग खड़ी

---

[54] जंगल जहाँ शुरू होता है-पृ.196
[55] जंगल जहाँ शुरू होता है-पृ.181

होती है। यातना का चरम ही विद्रोह का रूप लेता है और यह विद्रोह पुलिस के करतूतों के प्रति फूट पड़ता है।

'धार' उपन्यास में भी पुलिस अधिकारी द्वारा आदिवासी स्त्री के प्रति किए गए अत्याचार को दिखाया गया है। उपन्यास की नायिका सजा काटने जेल जाती है तो वहाँ के अधिकारी अपने अधिकारों का गलत इस्तेमाल करते हुए जबरन दैहिक संबंध स्थापित करते हैं। इसकी जानकारी देते हुए वह मंगर से कहती है-"जेल में जेलर हमारे साथ जबर्दस्ती किया, उसी खातिर बच्चा उसका मुँह पे मार के हम चला आया।"[56]

जेल में भी स्त्रियों के लिए सुरक्षित जगह नहीं रह गया है। लाचार एवं बेबस औरतों पर भी पुलिस अपनी हवस की भूख मिटाने से बाज नहीं आती है। पुलिस के अत्याचार से आदिवासियों में इतना खौफ़ फैल जाता है कि उनके पास जाने से भी वे डरते हैं। मैना जब पुलिस थाना जाने लगती है तब वह महसूस करती है-"इतनी रात को अकेले थाना जाना मरघट जाने से भी ज्यादा भयावना है।"[57]

लोग मरघट में आदमी के रूह से डरते हैं जो कि आभासी होता है जबकि पुलिस अपने जीवित रूप में उससे भयानक एवं डरावना है। स्त्री के प्रति वह और भी घृणित रूप में सामने आता है।

3.3.7 विस्थापन

आदिवासी क्षेत्रों में औद्योगिकीकरण से आदिवासी के आर्थिक व्यवस्था में सुधार होगा, यह सोच गलत ही साबित हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् विशेषकर भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् मध्य भारत का आदिवासी क्षेत्र औद्योगिक आधारित शहरी विस्तार के दौर से गुजरा है। औद्योगिक योजनाओं ने न केवल उन्हें अपने घरों से बेघर कर दिया वरन् उन्हें किसी प्रकार का रोजगार भी नहीं दिया जिससे कि ये लोग अपने पारंपरिक वातावरण में जीवन यापन कर सकते हैं। मुआवजा व

---

[56] धार-पृ.12
[57] धार-पृ.105

पुनर्वास के नाम पर उन्हें अधिकांशतः छला ही गया। बिहार, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश के औद्योगिकीरण तथा पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र तथा गुजरात जैसे पुराने केंद्रों के औद्योगिकीकरण ने आदिवासी जनसंख्या को बुरी तरह से प्रभावित किया।

मानवशास्त्रीय विश्लेषण के अंतर्गत पारंपरिक निवास स्थान से नए क्षेत्र में प्रवसन (Migration) के लिए मुख्यतः दो कारक उत्तरदायी माने गये हैं- (1) विस्थापन कारक (Push factor) तथा (2) आकर्षण कारक (Pull factor)। आदिवासियों के पारंपरिक निवास क्षेत्रों में उद्योगों व खनन जैसे कार्यों के लिए आदिवासी की पारंपरिक भूमि सरकार या अन्य एजेंसियाँ हस्तांतरित करती हैं तथा मुआवजे आदि प्राप्त कर वे अपने पारंपरिक निवास क्षेत्रों से प्रवसन करती हैं। प्रवसन के लिए उत्तरदायी दूसरा कारक 'आकर्षण कारक' के अंतर्गत भुखमरी तथा बेरोजगारी से परेशान आदिवासी शहरों तथा अन्य औद्योगिक केंद्रों में उपलब्ध रोजगार के अवसरों के कारण अपने पारंपरिक निवास स्थान से प्रवसन करती हैं। उदाहरण के लिए जलपाईगुड़ी में जो देश का कुल 17 प्रतिशत चाय उत्पादन करता है, वहाँ का 80 प्रतिशत मजदूर वर्ग छोटानागपुर आदिवासीय क्षेत्र से हैं। इसी प्रकार सिंहभूम जिले में लौह अयस्क कारखाने में काम करने वाला संपूर्ण अकुशल मजदूर वर्ग आदिवासी समुदाय के हैं। उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भूमि हस्तांतरण, ऋणग्रस्तता तथा विकासात्मक कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के परिणामस्वरूप आदिवासियों का प्रवसन हो रहा है। आदिवासी प्रवसन की समस्या काफी हद तक शहरीकरण तथा औद्योगिकीकरण से भी जुड़ी हुई है। कई स्वयंसेवी संगठनों ने आदिवासियों के प्रवसन को रोकने के लिए सकारात्मक कदम उठाए हैं। आदिवासी प्रवसन कोई नई घटना नहीं है। बल्कि आज यह योजनाबद्ध तथा संगठित तरीके से बिचौलियों के माध्यम से किया जा रहा है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में असुर समुदाय के विस्थापन का सूक्ष्म एवं मार्मिक विश्लेषण मिलता है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण एक असुर स्त्री बुधनी किसी प्रकार परिवेश से सपरिवार विस्थापित होने को मजबूर होती है इसका वर्णन उपन्यास में मिलता है-"खेती-बारी उतनी नहीं थी। हेडमास्टर साहब ने बड़ी

कठिनाई से पढ़ाई पूरी की थी। किंतु एक आदमी की कमाई से बड़े घर का खर्च नहीं पूरता था। सो चार-पाँच साल पहले बुधनी अपने गोमके (मर्द) और बाल-बच्चे के साथ असम-भूटान निकल गयी।"[58] इसमें विस्थापन का 'आकर्षण कारक' (**Pull factor**) काम करता है।

ठेकेदार, सत्ता, राजनेता एवं औद्योगिक तंत्र का मजबूत गठजोड़ आदिवासी को अपनी ही जड़ों से बेदखल कर उन्हें विस्थापन के लिए मजबूर करते हैं। आजाद भारत का आदिवासी जमात आज लगातार अपने ही जमीन से विस्थापित होकर शहरी मजदूर बनने की अभिशप्त नियति से जुड़ने को मजबूर हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः लोक-कल्याणकारी राज्य ने विकास के जो मानक बनाए हैं, वे आदिवासियों के हितों के अनुकूल नहीं हैं। एक ओर राज्य अपनी जिम्मेदारी आदिम जाति के प्रति लेने से कतरा रहा है, वहीं दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रति राष्ट्र एवं राज्य की सरकारें सहयोगपरक रवैया अपना रही है। पुनर्वास के नाम पर विस्थापित आदिवासी वर्तमान में 'स्लम' में नारकीय जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो रहे हैं। अरुंधती राय ने अपनी पुस्तक 'The great common goods' (बहुजन हिताय) में विस्थापितों विशेष तौर से नर्मदा परियोजना से विस्थापित लोगों के त्रासद् एवं अफसोसजनक तथ्यों को सामने लाती हैं। अरावली उद्घोष पत्रिका के 'आदिवासी कविता अंक' में डॉ.सुरेंद्र कुमार नायक की कविता 'उलीहातू' विस्थापन के दंश को उकेरने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है-

"अपने ही बीच
कुकुरमुत्ते से उग आये
दलालों के दमन चक्र
विकास का बहाना
हीराकुण्ड से लेकर
सिंगुर, नंदीग्राम, भिलाई तक

[58] ग्लोबल गाँव के देवता-पृ.29

हमारी जमीन, हमारे जंगल

हड़पते

हमारे, तथाकथित रक्षक।"[59]

आये दिन लगातार प्रमुख एवं स्थानीय समाचार पत्रों में आदिवासियों को बेदखल करते स्थानीय लुटेरे से लेकर बहुराष्ट्रीय कंपनी के कुचक्र की घटना हम समाचार में पढ़ते हैं, लेकिन वह सिर्फ एक घटनात्मक तथ्य के रूप में धीरे-धीरे नेपथ्य में चली जाती है। वेदांता, पास्को जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनी को न्यायालय ने जमीन अधिग्रहण के मामले में अनुबंध को समाप्त कर दिया है, इस कंपनी की काली हरकतों का उल्लेख हाल ही में चर्चित उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में भी हुआ है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आत्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ के अंतर्गत आदिवासी स्त्री के व्यक्तिगत, पारिवारिक जीवन से लेकर सामाजिक संबंधों में उनकी स्थिति का विश्लेषण इस अध्याय के अंतर्गत किया गया है। आत्मगत स्तर पर विवाह से पूर्व युवती के प्रेम संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। पुरुष के साथ आदिवासी स्त्री का नेह संबंध एक ओर युवागृह की संस्कृति में प्रगाढ़ होता है दूसरी ओर उसके बाहर भी। साहित्य में इन दोनों प्रकार के प्रेम संबंधों की अभिव्यक्ति मिली है। सामाजिक संदर्भ में आदिवासी स्त्री के जीवन में प्रभाव डालने वाले विविध कारकों यथा-जन्म एवं स्वास्थ्य, शिक्षा/साक्षरता, विवाह, स्त्री की विविध स्थिति, सामाजिक सक्रियता, विस्थापन, स्त्री-शोषण के विविध कारकों आदि का जिक्र हुआ। सामाजिक व धार्मिक कार्य के प्रति उत्तरदायी होता है। मुखिया अक्सर विश्वसनीय होता है अतः आदिवासी स्त्री सहज रूप में इन कार्यक्रमों में भाग लेती है। सामाजिक व धार्मिक कार्यक्रमों में आदिवासी स्त्री की सक्रियता आदिवासी साहित्य में अक्सर मिलता है। ग्राम अधिकारी के साथ ग्राम पंचायत (बिरादरी) की भी

[59] उलीहातू (आदिवासी कविता अंक, अरावली उद्घोष पत्रिका)-पृ.9

व्यवस्था होती है जिसका कार्य गाँव के विवादों को सुलझाना व संकट में सहायता होता है। विमुक्त कंजर आदिवासी समुदाय पर केंद्रित 'रेत' उपन्यास में पंचायत का महत्वपूर्ण दायित्व स्त्री के जिम्मे है। किंतु पंच के सदस्य जब पुरुष होते हैं तो उनका न्याय स्त्री के प्रति अक्सर आक्रामक रुख अख्तियार कर लेता है। आदिवासी समुदाय परस्पर सहयोग की भावना से चालित होता है। सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में यह सामूहिक भावना नज़र आती है। सामूहिक जीवन-दृष्टि के कारण वे आसन्न संकटों को आसानी से झेल जाते हैं।

* * *

चतुर्थ अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : आर्थिक संदर्भ

4.1 वन पर आधृत अर्थव्यवस्था

4.2 आखेटन

4.3 कृषि

4.3.1 झूम या स्थानांतरण कृषि

4.3.2 स्थायी कृषि

4.4 हाट (बाजार)

4.5 लोक कलाकार

4.6 अपराध कर्म से जुड़े व्यवसाय

4.7 श्रमिक जीवन

चतुर्थ अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : आर्थिक संदर्भ

किसी भी मानव समुदाय को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए यह जरूरी है कि उसका आर्थिक आधार व्यापक हो। अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति हर समुदाय अपने-अपने तरीके से करता है, ये तरीके उनकी प्रथा, परंपरा एवं जनांकिकी गठन पर निर्भर करते हैं। यही कारण है कि एक समान प्राकृतिक वातावरण में भी विभिन्न आर्थिक प्रकारों का विकास हुआ है। आर्थिक व्यवस्था का अर्थ स्पष्ट करते हुए लुसी मेयर ने कहा है-"मानव द्वारा अपनाये गये वे क्रियाकलाप जिनके माध्यम से वे अपनी भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार के साधनों की व्यवस्था करते हैं तथा उनके विभिन्न उपभोगों में से कुछ को अपनाते हैं।"[1] इसके अलावा रेमण्ड फर्थ द्वारा प्रतिपादित परिभाषा आर्थिक व्यवस्था की पूर्ण व्याख्या करती है जो कि इस प्रकार से है-"यह मानव कार्यकलापों का वह विस्तृत क्षेत्र है जिसका संबंध साधनों के परिसीमित उपभोग और संगठन से है। इस प्रकार मनुष्य विवेक के द्वारा आवश्यकताओं से तारतम्य स्थापित करता है।"[2] अतः कहा जा सकता है कि आर्थिक व्यवस्था किसी भी समुदाय (आदिम और आधुनिक) का मूलाधार है। यह व्यवस्था जितनी सुदृढ़ होगी, समुदाय उतना ही सुदृढ़ होगा।

आदिवासी समाजों में 'निर्वाह' (subsistance) अर्थव्यवस्था की ही प्रधानता रही है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सिर्फ निर्वाह के लिए ही उत्पादन करते हैं, बल्कि वे अपने उत्पादन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा करते हैं। आधुनिक सभ्यता के संपर्क के पूर्व आदिम समाज मुद्रा के बगैर विनिमय पर आधारित अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर रहा करते थे। इसे रेखांकित करते हुए

---

[1] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.21

[2] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.21

डी.एन.मजूमदार ने लिखा है-"जनजातीय आर्थिक संगठन 'उत्पादन व्यय' अर्थव्यवस्था पर आधारित है। संचय करना (खाद्य पदार्थ) व उसे भविष्य के लिए लाभ हेतु रखने में वे कम विश्वास करते हैं, तथा सामाजिक समूह की आवश्यकताओं को अधिक महत्व दिया जाता है। आदिम संस्कृति की यह विशेषता रही है कि उसमें सामाजिक समानता को काफी महत्व दिया गया है।"[3] इस प्रकार औद्योगिक समाज की विनिमय पर आधारित अर्थ व्यवस्था की भाँति वे दूसरी वस्तुओं की प्राप्ति के लिए मुद्रा के माध्यम से विनिमय नहीं करते, न ही ऐसा करने में रुचि रखते हैं। पर-संपर्क से पूर्व आदिवासी अर्थव्यस्था व्यक्तिगत लाभों से परे थी, उसमें सामूहिकता का गुण था। व्यक्ति अपने हितों के साथ-साथ समूह के हितों को भी सर्वोपरि मानता था। किंतु इस अर्थव्यवस्था को बाह्य दबावों के कारण अधिक समय तक बनाये रखना मुश्किल था तथा इसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक था जैसा कि आज स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। "बढ़ती हुई आबादी, प्रकृति का ह्रास, भूमि की उपज में कमी, जंगलों का अभाव अथवा उनमें प्रशासनिक प्रतिबंध तथा सबसे महत्वपूर्ण बात है-बाहरी जगत का जनजातीय जीवन पर प्रभाव, जिससे वे सुदूर एकांत स्थानों में रहते हुए भी वे अपने-आपको नहीं बचा पाये।"[4] इन सब बातों ने आदिवासी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन ला दिये हैं। परंतु ये प्रभाव अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग ढंग से हुए हैं। कुछ स्थान आज भी ऐसे हैं जहाँ के आदिवासी आदिम अर्थव्यवस्था के सन्निकट हैं, अन्यत्र औद्योगिक जगत में प्रवेश पाये, उच्च शिक्षा प्राप्त व अभिजातों की श्रेणी में रखे जाने वाले विशिष्ट भी आदिवासी समुदाय में पाये जाते हैं जो अपनी आर्थिक परिस्थितियों में व्यापक सुधार ला रहे हैं, किंतु अभी भी इसकी संख्या नगण्य है। इस रूप में बाह्य जगत के संपर्क के परिणामस्वरूप आदिवासी अर्थव्यवस्था की विशिष्टताएँ समाप्तप्राय की ओर हैं तथा ये लोग उन सभी विशेषताओं को अपना रहे हैं जो कि तथाकथित सभ्य समाजों में व्याप्त है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित आर्थिक विशेषताओं के

[3] डॉ.डी.एन.मजूमदार, रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इंडिया, 1961-पृ.101
[4] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.108

रूप में आदिवासी अर्थव्यवस्था की संरचना के दो मूल पक्ष स्वीकृत किये गए हैं- आर्थिक क्रिया-कलापों में मुनाफा वृत्ति का अभाव और सामयिक बाज़ारों की मौजूदगी।

मिश्रित अर्थव्यवस्था पर टिका आदिवासी का वृहद् भाग प्रकृति पर निर्भर है। प्रबल आर्थिक क्रियाओं के आधार पर भारत के आदिवासियों को निम्न श्रेणियों में विभजित किया जा सकता है।

(1) वन पर आधृत अर्थ-व्यवस्था

(2) आखेटन

(3) कृषि

(4) श्रमिक वर्ग

(5) लोक कलाकार वर्ग

(6) अपराध कर्म से जुड़े व्यवसाय

(7) बाजार (हाट)

4.1 वन पर आधृत अर्थ-व्यवस्था

वनों का आदिवासियों के जीवन तथा उनकी अर्थव्यवस्था से अटूट रिश्ता है। आदिवासियों की परंपरागत अर्थ व्यवस्था मुख्यतः जंगलों पर निर्भर है। जंगल, आदिवासियों के रहने के स्थान के अलावा जीविका का साधन भी है। भोजन, ईंधन, लकड़ी, घरेलू सामग्री, जड़ी-बूटी, औषधियों, पशुओं के लिए चारा और कृषि औजारों की सामग्री के लिए वे वनों पर आश्रित रहते हैं। उनकी संस्कृति भी वनों (जंगलों) से काफी प्रभावित है। आदिवासी सामाजिक संरचना में वनों को सिर्फ उपयोगी पदार्थ तथा अन्य आर्थिक पदार्थ प्रदान करनेवाला कारक ही नहीं माना जाता है बल्कि सरल सामाजिक संरचना वाले इन समुदायों के लिए वनों का महत्व इससे कहीं गुना अधिक है। यह वह स्थान है जहाँ आदिवासी देवी-देवता वास करते हैं, जो संपूर्ण आदिवासी समुदाय को सुरक्षा प्रदान करते हैं। जंगल क्षेत्रों के प्रथम निवासी होने के नाते वे वन उत्पादों पर अपना पहला हक समझते हैं। दूसरे शब्दों में जैसा

कि विद्यार्थी ने कहा है-"जनजातियों तथा वनों के बीच न सिर्फ आर्थिक तथा भौतिक संबंध है बल्कि सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक संबंध भी है।"[5]

प्राचीन-काल से आदिवासी लोग पूरी स्वतंत्रता से वन प्रदत्त संसाधनों का उपयोग करते थे। वास्तविक रूप में वे वनों के मालिक थे। "भारत में ब्रिटिश शासन से पहले वनों का उपयोग केवल वनवासी ही रोजी-रोटी के लिए करते थे, किंतु बाद में राज्यों द्वारा वन संसाधनों का व्यावसायिक लाभ एवं राजस्व प्राप्ति के रूप में इस्तेमाल किया जाने लगा।"[6] किंतु 19 वीं सदी के अंत (1894) से, वनों की व्यवस्था राज्य सरकार द्वारा किए जाने संबंधी घोषणा से आदिवासियों और वनों के बीच स्थापित संबंध में काफी परिवर्तन हुआ है। नई वन नीति (1952) के परिणामस्वरूप, आदिवासी जो अपने आपको वनों के राजा समझते थे, अब सरकारी तंत्र के मातहत बन गए। नई नीति में वन-संपदाओं से अधिकतम राजस्व की वसूली पर बल दिये जाने के परिणामस्वरूप विभिन्न वन कार्रवाइयों में वन अधिकारी व ठेकेदार शामिल हो गए। अतः आये दिन आदिवासियों के अधिकारों और रियायतों में हुई कटौती के कारण उनमें और वन अधिकारियों के मध्य अक्सर टकराव पैदा हुए। नई नीति के फलस्वरूप सत्ता के बिचौलिये द्वारा जंगल का अतिदोहन प्रारंभ हो गया तथा आदिवासियों को परंपरागत अधिकारों से बेदखल किए जाने से उनमें काफी असंतोष व रोष भी फैला।

वन नीति के कारण आदिवासी समाज के मानस में आए बदलावों को आदिवासी जीवन से संबंधित साहित्य अपना आधार बनाती है। 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में आदिवासियों के वन उत्पाद पर निर्भरता की ओर संकेत किया गया है-

"जंगल में घास खूब है और दरख्तों में पत्तों की कमी नहीं। बैल-गाय-बकरियों को चारा खिलाने में कोई दिक्कत नहीं होगी। रहा सवाल तुम्हारे पेट का, तो इस बार जंगल में दूर तक सही, तुम गोंद इकट्ठा करना, कत्था इकट्ठा करना, शहद इकट्ठा करना, सूखी लकड़ी इकट्ठी करना और इस बार इसको बनिये को न

[5] प्रफुल्ल रंजन झा/दीपशिखा बरनवाल, भारतीय मानवशास्त्र-पृ.284
[6] डॉ.संजय गील, जनजाति समाज एवं वनीय अंतर्निर्भरता-पृ.122

बेचकर हाट में जाकर बेचोगे तो दो पैसे ज्यादा मिलेंगे और महुआ के दरख्त काम चलाऊ कुछ न कुछ देते ही रहते हैं।"[7]

सिर्फ आदिवासियों की ही नहीं बल्कि उनके पालतू मवेशी भी जंगल के उत्पाद पर अपने जीवन का गुजारा कर लेते थे। जंगल से एकत्रित सामग्री को हाट में बेचकर ये लोग अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुओं को खरीद लेते थे।

जंगल में विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों के साथ जड़ी-बूटी भी सहज रूप में उपलब्ध हो जाया करती थी। आदिवासी युवती को फल-फूल से लेकर जड़ी-बूटी का ज्ञान बचपन में ही हो जाता था। इस बात का उल्लेख पीटर पॉल एक्का की कहानी 'राजकुमारों के देश में' मिलता है-"जंगल का कौन सा फल-फूल तब हमने नहीं चखा था-महुवा, चार, तेंदू, कटहल, आम-जाने काकी कहाँ-कहाँ से ढूँढ़ लाती थी। बरसात के दिनों में आलू की तरह जाने कौन से कंद खोद लाती, उबाल कर, धोकर जब परोसती तो निहायत तीते कंद भी मीठे लगने लगते। ... काकी के साथ चंदा को भी जड़ी-बूटियों की अच्छी पहचान हो गयी थी।"[8]

जंगल आदिवासियों के लिए धरती माता की तरह उदार था जिससे उनकी जरूरत की सभी चीज़ें पूरी हो जाया करती थी। जीवन जीने के साधन की समझ नयी पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी से मिलती है। पुरुष के साथ-साथ आदिवासी स्त्रियों की भी वनोपज संग्रह में सक्रिय भागीदारी रहती है। 'जंगल का कोढ़' कहानी में मुंगिया अपने पति की तरह वनोपज संग्रह करती हुई नजर आती है-"... मुंगिया पूरे दिन जंगल-जंगल जंगली उपज की तलाश में घूमती है। वह भी 'पर्सा पान' ला सकती है, शहद ला सकती है, हर्रा, बहेड़ा, आमला, लाख, बायबिरंग... कोई वन उपज ऐसी नहीं जिस को मंगतू ला सकता हो और मुंगिया नहीं ला सकती है।"[9]

मुख्यधारा के समाज की स्त्रियाँ अधिकांशतः घर के भीतर ही श्रम करती हैं जबकि आदिवासी स्त्रियाँ घर एवं बाहर दोनों जगह श्रम करती है। आर्थिक

---

[7] धूणी तपे तीर-पृ.37

[8] राजकुमारों के देश में-पृ.

[9] जंगल का कोढ़-पृ.57-58 (आदिवासी कहानी अंक, अरावली उद्घोष मार्च 2008)

कठिनाइयों के कारण वे दुहरा श्रम करती हैं ताकि परिवार ठीक से चल सके। श्रम करने में किसी भी तरह की नैतिकता आदिवासी स्त्रियाँ नहीं ओढ़ती।

किंतु जंगल की पुश्तैनी हक पर रोक औपनिवेशिक ब्रिटिश सरकार द्वारा जारी नये वन-कानून के तहत लगती है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के पहले वनों तथा वन उत्पादों पर आदिवासियों का पूर्ण अधिकार था एवं उस समय वनों का विनाश भी कम मात्रा में होता था। आदिवासी स्वयं गिरे हुए वृक्षों, डालियों, फलों तथा पत्तियों का उपयोग करते थे, लेकिन जब भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की जड़े मजबूत हो गई तो वनीय सम्पदा का दोहन प्रारंभ हो गया। जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ वन संसाधनों की बढ़ती माँग विशेष तौर से ब्रिटिश शासन काल में दो विश्व युद्धों के कारण लकड़ी तथा वन्य भूमि की बढ़ती माँग ने भी वन विनाश में प्रमुख भूमिका निभाई। इस प्रकार आर्थिक हितों की पूर्ति हेतु औपनिवेशिक शासक अंग्रेज़ों ने वनों तथा आदिवासी समाज के प्रति उपेक्षापूर्ण नीति को अपनाया और स्वार्थ के आधार पर वन नीतियों का निर्माण किया।

औपनिवेशिक काल में अशिक्षित बंजारा स्त्री भी वनोपज से बेदखल कर दिये जाने की अंग्रेज़ों की शोषणपूर्ण नीति को समझती है-"यह तो पता है हमारे बाप-दादों को जंगल से लकड़ी, फल, कंद-मूल, गोंद, कत्था, घास आदि लाने से कोई नहीं रोकता था। भूरेटियों ने राजाओं को कह कर यह रोक लगवाई है। इसके एवज़ में ठेकेदारों से रुपया लिया जाता है। दारु के ठेकेदार गुरु की सीख के खिलाफ दारु बेचकर हमारे आदमियों को बिगाड़ने व बर्बाद करने का काम करते हैं।" भूरेटियों से तात्पर्य यहाँ अंग्रेज़ों से है। परंपरागत वन संपदा से बेदखल किए जाने में अंग्रेजों की महती भूमिका को स्त्री समझती है।

वनोपज पर पाबंदी के बाद भी आदिवासी समाज अपने पुश्तैनी हक को छोड़ सकने की स्थिति में नहीं था। आदिवासियों का जीवन अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में जंगल के उत्पाद से अनिवार्यतः जुड़ा था। अतः पाबंदी के बाद भी आदिवासी वनोपज संग्रह के कार्य में लीन थे क्योंकि वन विभाग द्वारा कुछ हद तक छूट भी मिली हुई थी-

"परंतु बाघामुण्डी के संतालों का वन में प्रवेश एकदम निषिद्ध नहीं हुआ था। गिरी-पड़ी सूखी पत्तियों का ईंधन अभी भी बटोर लाती थीं संताल स्त्रियाँ। जंगल में सूखकर गिरी टहनियों का जलावन एकत्र करने या महुवा-डोरी चुनने पर अभी कड़ा रोक-टोक नहीं था।

बाघामुण्डी की लड़कियाँ जंगल के भीतर तक धँस पड़ती थीं। करील, गैंता, बेल और करौंदे बीनती थीं। बड़े-बड़े बाँस के खाँचों में सूखे पत्ते बटोर लाती थीं। कोई उन्हें दिक् नहीं करता था। यह और बात थी कि कोई-कोई वनरक्षक बदमाश भी होता था। केंद्र या भेलवा के पककर चू रहे फलों को भी चुनते देख लेता था तो स्त्रियों-किशोरियों से कुछ न कुछ वसूल करके ही दम लेता था। यह कुछ 'कुछ भी' हो सकता था।"[10]

वन उत्पादन के संग्रह कार्य में आदिवासी स्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। किंतु वनोपज संग्रह करते वक्त कई बार वन अधिकारी के दुर्व्यवहारों का शिकार भी होना पड़ता था। अक्सर वन उत्पाद संग्रह करते वक्त आदिवासी स्त्री को दैहिक हिंसा का शिकार होना पड़ता था। 'धूणी तपे तीर' में दल्ली जहाँ वन अधिकारी द्वारा न केवल बलत्कृत होती वरन् मौत का ग्रास भी बनती है। वहीं 'जो इतिहास में नहीं है' में वनोपज संग्रह करते समय वन अधिकारी द्वारा संथाल एवं बिरहोर लड़की भी दैहिक हिंसा का शिकार होकर मारकर फेंक दी जाती है। 'मौसी' उपन्यास में भी आदिवासी युवती वन कानून की सख्ती का शिकार नज़र आती है। अशिक्षा के कारण कानून की समझ न होने पर उन्हें वर्षों जेल की सलाखों में व्यतीत करने पड़ते हैं- "जंगल का कानून भी सख्त हो गया है। पकड़ी जाएगी तो तेरी जात-बिरादरी तो उसे छुड़ाने ना जाएगी। जिंदगी-भर सड़ जाएगी जेल में। जा, जाके देख हजारीबाग जेल में। दारु चुआने के केस में सात-सात वर्ष से वहाँ पड़ी हैं कई अधेड़ बूढ़ी औरतें, जबकि उस केस में सजा कुल दस दिन की ही होती है।"[11]

[10] जो इतिहास में नहीं है-पृ.143
[11] मौसी-पृ.99

दारु बनाने का काम आदिवासी समाज में आरंभ से रहा है। किंतु शराब बनाना सरकार द्वारा अवैध करार दिये जाने पर आदिवासी समाज का संकट और बढ़ गया है। अवैध शराब बनाने के नाम पर उन्हें वर्षों जेल की सजा भुगतनी पड़ती है। मामूली जुर्म के बदले वर्षों की यातना गरीब एवं अनपढ़ होने के कारण आदिवासी स्त्री को सहनी पड़ती है।

स्वतंत्रता पश्चात् वन संरक्षण के नाम पर सरकार द्वारा वनों के प्रति अपनायी गई नीतियाँ भी आदिवासियों के प्रति अन्यायपूर्ण रही। वन नीतियों में सरकार (अंग्रेज व देशी) की स्वार्थपरकता के कारण वन का विनाश तो रुक नहीं सका क्योंकि अधिकांश नीतियाँ (सन् 1855-1980 ई की वन नीतियाँ) पूँजीपतियों, ठेकेदारों एवं उद्योगपतियों के हितों के ज्यादा करीब रही है। वन नीतियों के दुष्परिणामस्वरूप आज आदिवासी समुदाय वनोपज से वंचित होकर दर-दर की ठोकर खाते हुए श्रमिक मजदूर बनने की त्रासद् स्थिति में पहुँच गया है। जिसका उल्लेख 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में हुआ है-"लाह, गोंद, चिरौंजी, गोलोचन, वंशलोचन, शहद, लकड़ियाँ... पहले जीवन के लिए जरूरी सारे सरंजाम जुट जाते थे जंगलों से। वनोपज बाजार में बेचकर चार पैसा नकद भी हाथ में होते थे। जब से जंगल पर 'गोरमिंट' का रोका-छेंका लगा, सब चीज़ें सपना हो गयी हैं। नमक-भात चलाने के लिए आदिवासियों को अन्य दूसरे कई तरह के काम करने पड़ते हैं अब।"

कुछ लोग बेचू तिवारी की पत्थर तोड़ने वाली क्रशर में लगे हैं। कुछ आसपास के गाँवों के सादानों (गैर-आदिवासी) के खेतों में कमाने जाते हैं। औरतें घर का काम-काज निपटाने के बाद जुते पड़े खेतों में लकड़ी के हथौड़ों से ढेले फोड़ती हैं। सादानों के खेतों में रोपनी-काटनी करती हैं। फसल कटने और बोझे उठ चुकने के बाद खाली खेतों में टूटी-गिरी अनाज की बालियाँ बीनती हैं।"[12]

[12] पठार पर कोहरा-पृ.47

दरअसल नयी वन-नीतियों से कोई ज़मात सबसे ज्यादा बेसहारा हुआ है तो वह आदिवासी ही है। वन के करीब रहकर उसके उत्पादों पर आश्रित वह स्वतंत्रतापूर्वक जीवनयापन करता आ रहा था किंतु वनोपज के अधिकार से बेदखल किए जाने पर मजदूर के रूप में त्रासद् नियति को भुगतने लगा। आदिवासी स्त्री का जीविकोपार्जन हेतु मजदूर के रूप में रूपांतरण इस समाज के लिए सबसे बड़ा कष्टकारी था। गैर आदिवासी क्षेत्रों में मजदूरी करने पर अक्सर उन्हें शारीरिक हिंसा का तनाव झेलने को बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार शारीरिक शोषण के साथ-साथ आदिवासी स्त्री को दैहिक शोषण का भी शिकार होना पड़ता है।

जो जंगल आदिवासी समुदाय के अस्तित्व से जुड़ा हुआ महत्वपूर्ण आर्थिक स्रोत था, बदलते परिवेश में जंगल की महत्ता आज धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है। जीवन-यापन के विविध पहलू अब जंगल से उपलब्ध नहीं हो पाते। जंगल की इस त्रासद् स्थिति का उल्लेख 'जंगल का जादू तिल-तिल' कहानी में मिलता है- "जंगल का जादू कहीं बिला गया है। सच कहीं बिला गया है। जंगल अब कुछ नहीं देता। पानी सूख गया है। पत्थर से आग निकलती है। सारे जानवर भी कहीं लुक छिप गये हैं। कोई शिकार बरसों से नहीं हुआ है। तीर और किसी और ही समय के खिलौने हैं।"[13]

अंग्रेज़ों एवं बाहरी लोगों द्वारा जंगलों में हस्तक्षेप से धीरे-धीरे जंगल की अर्थवत्ता समाप्त होने की कगार पर है। जंगल के अत्यधिक शोषण ने उसके ऐश्वर्य को खत्म कर दिया है। जिस जंगल पर आदिवासियों का अस्तित्व पूर्ण रूपेण निर्भर था उसका बदलते समय में महत्वहीन हो जाना आश्चर्यजनक है। साथ ही मानव सभ्यता पर आसन्न संकट का भी संकेतक है।

वन नीतियों के दुष्परिणाम आज आदिवासी समुदाय वनोपज से वंचित होकर दर-दर की ठोकर खाते हुए श्रमिक मजदूर बनने की त्रासद् स्थिति में पहुँच गया है। जिसका उल्लेख 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में हुआ है-"लाह, गोंद, चिरौंजी,

---

[13] जंगल का जादू तिल-तिल-पृ.

गोलोचन, वंशलोचन, शहद, लकड़ियाँ... पहले जीवन के लिए जरूरी सारे सरंजाम जुट जाते थे जंगलों से। वनोपज बाजार में बेचकर चार पैसा नकद भी हाथ में होते थे। जब से जंगल पर 'गोरमिंट' को रोका-छेंका लगा, सब चीज़ें सपना हो गयी हैं। नमक-भात चलाने के लिए आदिवासियों को अन्य दूसरे कई तरह के काम करने पड़ते हैं अब।"

कुछ लोग बेचू तिवारी की पत्थर तोड़ने वाली क्रशर में लगे हैं। कुछ आसपास के गाँवों के सादानों (गैर-आदिवासी) के खेतों में कमाने जाते हैं। औरतें घर का काम-काज निपटाने के बाद जुते पड़े खेतों में लकड़ी के हथौड़ों से ढेले फोड़ती हैं। सादानों के खेतों में रोपनी-काटनी करती हैं। फसल कटने और बोझे उठ चुकने के बाद खाली खेतों में टूटी-गिरी अनाज की बालियाँ बीनती हैं।"[14]

दरअसल नयी वन-नीतियों से कोई ज़मात सबसे ज्यादा बेसहारा हुआ है तो वह आदिवासी ही है। वन के करीब रहकर उसके उत्पादों पर आश्रित वह स्वतंत्रतापूर्वक जीवनयापन करता आ रहा था किंतु वनोपज के अधिकार से बेदखल किए जाने पर मजदूर के रूप में त्रासद् नियति को भुगतने लगा। आदिवासी स्त्री का जीविकोपार्जन हेतु मजदूर के रूप में रूपांतरण इस समाज के लिए सबसे बड़ा कष्टकारी था। गैर आदिवासी क्षेत्रों में मजदूरी करने पर अक्सर उन्हें शारीरिक हिंसा का तनाव झेलने को बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार शारीरिक शोषण के साथ-साथ आदिवासी स्त्री को दैहिक शोषण का भी शिकार होना पड़ता।

इसके अतिरिक्त वनोपज पर आश्रित आदिवासियों के निर्भरता के संकेत 'वन लक्ष्मी' 'मोरझल' आदि उपन्यासों में भी दिखाई देता है। वन से संबंधित नीतियों में आदिवासियों का समर्थन व विश्वास हासिल न होने के कारण वे सरकारी नियमों का उल्लंघन करने से बाज नहीं आते। साथ ही कई बार वन पर अत्यधिक निर्भरता उन्हें अपराध व चोरी करने को भी प्रवृत्त करती है। परंपरागत वन के अधिकारों से बेदखल कर किस प्रकार अंग्रेज़ों, सेठ, ठेकेदार, वन-अधिकारियों के

[14] पठार पर कोहरा-पृ.47

हितों की पूर्ति की गई इसका उल्लेख 'पाँव तले दूब', 'वन लक्ष्मी', 'जंगल के आसपास', 'वनतरी', 'नदी के मोड़ पर', 'जंगल के फूल', 'गगन घटा घहरानी' आदि उपन्यासों में सटीक रूप से मिलता है। इस प्रकार वन नीति व जंगल से संबंधित अधिनियमों की अव्यवहारिकता का पोल खोलते हुए रचनाकार आदिवासियों के मानवीय पक्ष की वकालत करता है।

नयी राष्ट्रीय वन-नीति 1988 वनों के साथ आदिवासियों के संबंधों के संदर्भ में कही गयी है। इसके अंतर्गत यह व्यवस्था की गई कि वनों को कायम रखने, उनके संरक्षण और उन्हें फिर से लगाने (वन-विकास) के मामले में जंगल के आसपास रहने वाले आदिवासियों को बराबर का सहयोग बनाया जाय। वन प्रबंधन के लिए उत्तरदायी संस्थाएँ वन के आसपास रहनेवाले आदिवासी व अन्य समुदाय को रोजगार उपलब्ध कराने के साथ उनके घरेलू आवश्यकताओं के लिए वन उत्पाद पर पहला हक उन्हें प्रदान करें। अकारण नहीं है आदिवासी का वनों के साथ सिर्फ आर्थिक संबंध नहीं रहा है बल्कि वे उससे भावात्मक रूप में जुड़े होने के साथ वनों की सुरक्षा भी करते हैं और वे उनकी आस्था भाव से भी जुड़े होते हैं जिसका संकेत हिंदी आदिवासी साहित्य में हमें जगह-जगह अनायास रूप से मिल जाते हैं।

4.2 आखेटन

वन में शिकार करनेवाले आदिवासियों में जीविकोपार्जन के मुख्य तीन साधन हैं-(1) खाद्य-संग्रह, (2) शिकार एवं (3) मछली मारना।

आखेटक वर्ग के आदिवासी तेजी से विलुप्त होनेवाली श्रेणी हैं जो गहरे वनों तथा पर्वतों में पाये जाते हैं। विकसित प्रौद्योगिकी, संचार माध्यमों से जुड़े लोगों के सांस्कृतिक संपर्कों से वे भी अपने को कृषि कार्य की ओर प्रवृत्त कर रहे हैं। किंतु फिर भी कुछ आदिवासी समुदाय हैं जो अब भी भोजन संग्रहण तथा शिकार पर निर्भर करते हैं तथा कृषि की तकनीक से अनजाने हैं। "इस श्रेणी में वे जनजातियाँ सम्मिलित हैं जो कंद मूलों, दूसरे फलों तथा मधु इत्यादि का संग्रहण करती हैं तथा भोजन हेतु छोटे पशुओं का आखेट करती है। वे मछली भी पकड़ते हैं, यदि वहाँ

इसके लिए स्थान उपलब्ध होते हैं।इस प्रकार की जनजातियाँ मोम, गोंद तथा सींग आदि का भी संग्रहण करती है जो वस्तु-विनिमय के प्रयोजन के लिए किये जाते हैं। इस प्रकार वे अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति अन्न की कृषि के अभाव में भी करने में समर्थ हो जाती हैं।"[15] इस वर्ग के आदिवासियों की प्रकृति पर निर्भरता अत्यधिक होती है। लगातार बदलते परिस्थिति एवं नये वन अधिनियमों के कारण इस वर्ग के अधिकांश आदिवासी कुछ अन्य द्वितीयक क्रियाओं में भी व्यस्त रहते हैं तथापि इनके आर्थिक संगठन का प्रभावी विधि अब भी भोजन संग्रहण तथा आखेट हैं।

इन तीनों साधनों से जीवनयापन करनेवाले आदिवासी संपूर्ण भारत में पाये जाते हैं। जंगल में शिकार करनेवाले आदिवासियों को जिन्हें प्राकृतिक खाद्य सामग्रियाँ प्राप्त हैं, मौसम के अनुसार बदलती रहती है। जंगली उत्पादन के खाद्य संग्रह, शिकार करने और मछली मारने की क्रिया में आदिवासी लोग व्यक्तिगत या सामूहिक रूपसे भाग लेते हैं। वन पर आधृत अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत खाद्य संकलन के विषय में विस्तृत जानकारी दे दी गई है।

पशु-पक्षियों व जानवरों के शिकार में आदिवासी विशेष रूप से दक्ष होते हैं। अपने स्थानीय निर्मित सरल उपकरणों की सहायता से वे आखेटन करते हैं। सामूहिक आखेट में विभिन्न प्रकार के अनुष्ठानों एवं प्रथाओं का पालन किया जाता है। मध्यप्रदेश की एक विशिष्ट आदिवासी जनजाति तो सिर्फ आखेट का ही कार्य करती है। इस आदिवासी को ‘आखेटक पारधी’ कहते हैं। ‘पारधी’ जो मराठी शब्द है, का अर्थ ही आखेट है।

4.3 कृषि

अधिकांश भारत के आदिवासी जो कृषि पर निर्भर करते हैं दो प्रकार से कृषि कार्य करते हैं-(1) झूम या स्थानांतरण कृषि तथा (2) स्थायी कृषि। झूम कृषि-व्यवस्था का आरंभ नियोलिथिक काल में, आज से करीब दस हजार वर्ष पूर्व हुआ

[15] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत-पृ.54

था। भारत के आदिवासियों में झूम या अस्थायी खेती का प्रचलन बहुत पुराना है। स्थानांतरण या अस्थायी खेती से तात्पर्य है-जमीन के किसी भाग में अस्थाई समय के लिए कृषि-कार्य करके उसे छोड़ देना तथा फिर अन्य दूसरे भाग में कृषि करना। इस पद्धति में घने जंगलों को काटकर गिरा दिया जाता है। जब पेड़ अथवा टहनियाँ सूख जाती हैं तो उसमें आग लगा दी जाती है और कुछ समय बाद उस राख पर बीज बो दिये जाते हैं। गर्मी के मौसम में जंगलों को काटा जाता है और वर्षा ऋतु से पूर्व उसमें फसलें बो दी जाती हैं। इस प्रकार एक स्थान पर दो या तीन फसलें उगाई जाती हैं। इसके बाद दूसरे स्थान पर इसी प्रणाली के अनुसार कृषि-कार्य संपन्न किया जाता है। इस बीच उस खेत पर, जिस पर दो-तीन फसलें उगाई गई थीं और अब खाली पड़ा हुआ है, धीरे-धीरे वनस्पति उग आती है और कुछ वर्षों बाद यह एक जंगल का रूप धारण कर लेता है। पुनः इसमें भी उपर्युक्त पद्धति से कृषि-कार्य संपन्न किया जाता है। भारत में इसका प्रचलन असम के सुदूर पहाड़ों, उड़ीसा, मध्यप्रदेश व बिहार में अधिक है। झूम खेती का प्रचलन मुख्य रूप से मध्यप्रदेश व उड़ीसा के बैगा के अलावा गोंड, भील, भील दास, कोरकूज आदि ने अपनाया है। झूम कृषि पद्धति में व्यक्तिगत रूप से नहीं अपितु सामूहिक रूप से कृषि-कार्य किया जाता है। कार्यारंभ से पूर्व एक धार्मिक उत्सव मनाया जाता है, जिसमें अच्छी फसल की कामना की जाती है। अतः आदिवासियों में स्थानांतरण कृषि के पीछे धार्मिक एवं परंपरागत विचार भी निहित हैं। किंतु जंगल संबंधी नियमों के लागू होने के कारण अब स्थानांतरित कृषि का कार्य समाप्तप्राय है।

4.3.1 झूम या स्थानांतरण कृषि

'जंगल के फूल' उपन्यास में बस्तर के माड़िया गोंडों द्वारा स्थानांतरण या अस्थायी कृषि का वर्णन हुआ है। इसमें स्त्री की भागीदारी भी महत्वपूर्ण होती है-

"सामने की आग बुझ चुकी थी। डालों से गहरा काला धुआँ निकल रहा था और ऊपर आसमान में समाता जा रहा था। गाँव से कुछ औरतें आ गई थीं। वे अपने साथ नुकांग (चावल) लाई थीं। वह अधजले थे। उन्होंने सारे चेलिकों में

नुकांग बाँटे और रिवाज़ के अनुसार प्रत्येक को वे खाने पड़े। खाकर सब मैदान में कूद पड़े। अधजली डगारें बाहर फेंक दी गई और सब मिलकर धोसना (राख बगराने का एक औजार) से सारी राख बराबर मैदान में फैलाने लगे। हल्का-हल्का पानी राख पर सींचा गया। यह काम मोटियारियों का था। महुआ भी उनमें शामिल थी। सब मिलकर उत्साह से काम कर रही थीं। इस जमीन से सब मिलकर बरस-भर के खाने के लिए अनाज उगाएँगे। जो यहाँ उग आए, वही बहुत हैं। सब मिलकर बाँट लेते हैं।"[16]

यहाँ अस्थायी कृषि के पद्धति का विस्तार से जिक्र हुआ है। खेती लायक जमीन तैयार करने से पहले धार्मिक कर्म पूर्ण किया जाता है, यह स्त्री के द्वारा संपन्न होता है। खेत को तैयार करने में स्त्रियाँ भी मदद करती हैं। स्त्रियाँ झाड़ को काटती हैं और खेती लायक मैदानी जमीन पर झाड़ को लाकर रख देती हैं। फिर उन झाड़ियों में आग लगाने का काम भी वही करती हैं। कृषि की यह पद्धति सामूहिक रूप से की जाती है और पैदावार को सबमें बराबर बाँट दिया जाता है। इसमें साम्यवाद का बेहतर नमूना हमें देखने को मिलता है क्योंकि इसमें असहाय आदमी का भी गुजारा लोगों के मदद से हो जाया करती है।

पूर्वोत्तर भारत में झूम की खेती का अत्यधिक प्रचलन है। पूर्वोत्तर समाज में झूम की खेती करते वक्त सभी की सहभागिता होती है-"कुछ दिन बाद झूम साफ करने के लिए आग लगाई गई तो जैसे लपटों का उल्टा उफनता दरिया आसमान में धस रहा हो और उसमें चटखते कच्चे बाँस और हरे पेड़ बारूद के भड़कने वाले बम हों। मर्दों ने भारी-भरकम लकड़ियों का अम्बार अपने-अपने हिस्से के झूम की सरहद पर लगा दिया। लड़कियों ने गुड़ाई कर दी। बच्चों ने नदी तल से बाँस के भोभड़ों में पानी भरकर सबको पिलाया। बूढ़ियों ने बनाकर सबको खिलाया। बूढ़ों ने जंगली जानवरों का शिकार किया। महिलाओं ने खेत तैयार किया। पुरुषों ने

[16] जंगल के फूल-पृ.56

जुताई कर बीज डाला। फिर सबने मिलकर जश्न मनाया। ... मुर्गे की बलि देकर पथियन से अधिक अन्न की कामना की गई।"[17]

झूम की खेती करते वक्त सभी अपने-अपने उम्र के हिसाब से श्रम में भागीदार होते हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में जहाँ झूम खेती आरंभ करते वक्त धार्मिक क्रिया की जाती है वहीं 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास में झूम खेती तैयार हो जाने पर बलि देकर पथियन देवता से अधिक अन्न की कामना की जाती है। धर्मांतरण के प्रभाव से धार्मिक क्रिया का साफ अभाव यहाँ नज़र आता है। किंतु झूम खेती तैयार हो जाने पर सभी लोग जश्न मनाना न भूलते, श्रम से परिहार का यह सबसे उत्कृष्ट तरीका है।

'रक्तयात्रा' उपन्यास में भी झूम खेती का जिक्र हुआ है। 'जहाँ बाँस फूलते हैं' में मिजो समाज द्वारा झूम की खेती करने का वर्णन है तो 'रक्तयात्रा' में नागा समाज द्वारा। सभी उपन्यासों में झूम की खेती करने के तरीकों पर प्रकाश डाला गया है-

"झूम-खेती का तरीका आम था। जंगल काटकर और फिर आग लगाकर झूम-खेत तैयार किए जाते। जले हुए पेड़ों, घास-फूँस की राख खाद का काम करती। झूम-खेती के लिए बरसात का पानी ही काफी होता। पर बारिश कम होने की वजह से झूम खेतों में भी अच्छी फसल नहीं हुई।"[18]

झूम खेती मूलरूपेण बारिश पर निर्भर करती थी। अतः बारिश न होने की स्थिति में अच्छी फसल की संभावना नहीं के बराबर रह जाती। उस स्थिति में नागा लोग बारिश की कामना हेतु थेजा व्रत रखा करते थे। पहाड़ी क्षेत्र में लगभग एक ही तरीका झूम खेती में अपनाया जाता है।

---

[17] जहाँ बाँस फूलते हैं-पृ.135

[18] रक्तयात्रा-पृ.

4.3.2 स्थायी कृषि

भारत के अधिकांश आदिवासियों ने देश के शेष कृषकों के समान ही कृषि के प्रचलित तरीके अर्थात् स्थायी हल कृषि को अपना लिया है। ऐसे आदिवासी कृषकों के अपने कृषि लायक जमीन होते हैं तथा वे कृषि कार्य में विभिन्न पशुओं व आधुनिक उपकरणों का इस्तेमाल करने लगे हैं। स्थायी कृषि को अपनाने के पीछे झूम कृषि के अत्यन्त अलाभकारी, अनउत्पादनकारी, अत्यधिक श्रम व लोगों की जरूरत होने तथा पड़ोसी कृषकों से संपर्क की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत के आदिवासियों में जो विशेष रूप से स्थायी कृषि के रूप में जुड़े हैं उनमें बिहार तथा बंगाल के संथाल, ओराँव, मुण्डा तथा हो, उत्तर प्रदेश के थारू तथा कोरवा, मध्य प्रदेश के भील, गोंड तथा भिलाना, उड़ीसा के सओरा, तमिलनाडु के नीलगिरि, पहाड़ियों के बड़ागा आदि हैं। जो आदिवासी स्थायी रूप से कृषि-कार्य में संलग्न हैं, उनमें से अधिकांश पर-संस्कृति के संपर्क के फलस्वरूप मैदानी भागों में रहने लगे हैं। खेती वस्तुतः उनके सामाजिक व सांस्कृतिक पहलुओं में स्थान पा चुकी है। ‘हो’, ‘मुण्डा’ और ‘कोलो’ के ‘हेर’, ‘बा’, ‘साधे’ आदि पर्व इस बात के प्रमाण हैं।

वनोपज पर पाबंदी के कारण आदिवासी खेती की ओर उन्मुख होते हैं। उच्च वर्ण के लोग आदिवासियों को जमीन देने के लुभावने वायदे कर जंगल को साफ करके खेती बनाने की सलाह देते हैं। जो जंगल आदिवासियों के अस्तित्व का अनिवार्य हिस्सा था, उसे बेहतर भविष्य के नाम पर खत्म किया जा रहा था। इन पहलुओं का जिक्र ‘धूणी तपे तीर’ उपन्यास में हुआ है-"जंगल के पेड़ों और अन्य वनस्पतियों ने परंपरागत रूप से आदिवासियों को बहुत कुछ दिया था। दिया क्या, उनका जीवन ही इन पर आश्रित रहा। अब हालात बदल गये थे। सरकार द्वारा लागू की गयी नयी वन-नीति और कानून-कायदों के कारण वनोपज पर आदिवासियों का अधिकार समाप्त कर दिया गया था। यह अजीब विवशता थी कि जिस जंगल को आदिवासी पुश्तों-पुश्तों से प्यार करते आये और जिनके लिए खून भी बहाया, आज उसी जंगल को बेहतर भविष्य के लिए नष्ट किया जा रहा है। एक अनिवार्यता

थी कि अब जंगल नहीं खेती कर सकने वाली स्थायी जमीन चाहिए। ... आदिवासी स्त्री, पुरुष, युवक, युवतियाँ, किशोर-किशोरियाँ जंगल-कटाई के काम में लगे हुए थे।"[19]

औपनिवेशिक भारत में वनोपज पर रोक के बाद आदिवासी समाज अस्तित्व संकट से गुजरने लगा। पेट भरने के लिए रोटी का जुगाड़ उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी। गाँव के ठाकुर पृथ्वीसिंह द्वारा जंगल काटकर खेत बनाये जाने के प्रस्ताव पर आदिवासी सहर्ष तैयार हो जाते हैं। रोटी का संकट हल होने तथा खेत का मालिक होना उनके लिए सबसे बड़ा सुख था। जंगल काटकर खेत बनाने में सबकी सक्रिय भागीदारी होती है।

कृषि कार्य आरंभ करते वक्त आदिवासी समाज में धार्मिक विधान होता है। 'जंगल के गीत' उपन्यास में रोपा कार्य शुरू करने से पहले गाँव के पहान द्वारा 'डंडा कटा' अर्थात् पूजा की विधि संपन्न करायी जाती है। रोपा की उद्घाटन विधि खत्म होने पर बड़े-बुजुर्ग हंडियाँ पीते हैं फिर रोपा का कार्य आरंभ हो जाता है- "औरतें-युवतियाँ बीड़ा उखाड़ने में लग गयीं। रिमझिम बारिश होने लगी तो अनबोले गीतों की जैसे बेहिसाब कड़ियाँ एक-ब-एक खुल गयीं। ... पहाड़ की तराइयों में धुंधलका घिरने तक खेतों में युवतियाँ की कतारें रोप करने में खोयी रहीं।"[20]

खेत में रोप कार्य करने में ऊराँव बाला अत्यधिक सहयोग देती हैं। बारिश होने पर उनके मुँह से गीत अनायास निकल पड़ते हैं। श्रम के परिहार में लोक-गीतों की निर्णायक भूमिका रही है। इतना ही नहीं ऊराँव युवती व स्त्री श्रम करते वक्त एक-दूसरे से परिहास करना न भूलती। सामूहिक रूप में रोपा करते हुए हास-परिहास के बीच श्रम करने का बोध नहीं होता।

आदिवासी समाज खेती करते समय प्रकृति पर ही निर्भर रहता है। भविष्य के प्रति चिंतित नहीं होने के कारण वे प्रकृति के हिसाब से जीते हैं-"इनकी खेती,

[19] धूणी तपे तीर-पृ.280
[20] जंगल के गीत-पृ.106-107

महुआ-सखुआ, जंगल-कटाई, सब का समय प्रकृति द्वारा निर्धारित है। समय पर महुआ-सखुआ फूलेगा-फलेगा-टपकेगा। समय पर बरखा आएगी-धान रोपेंगे या छीटेंगे। कटनी-निकौनी करेंगी। घर धान से भरेगा और बड़ी-लौकी, कद्दू और निनुआ भा भिंडी से।"[21]

किंतु प्रकृति पर निर्भरता कई बार उनके संकट का कारण भी बन जाता था। प्रकृति जन अपनी चाल-ढाल बदल लेती तो कभी अतिवृष्टि या कभी अनावृष्टि का सामना करना पड़ता। आदिवासी को ऐसे संकट से जूझने की आदत हो जाती है। तमाम विपरीत स्थितियों के बीच प्रकृति के प्रति आस्था ही उनके जीवन का अनिवार्य हिस्सा है। 'मौसी' उपन्यास में जहाँ प्रकृति पर निर्भर खेती-बारी का जिक्र हुआ है वहीं 'रक्तयात्रा' उपन्यास में प्रकृति पर निर्भर खेत बारिश न होने की वजह से फसल के मुरझा जाने का संकेत है-"उस साल गर्मियों में बहुत कम बारिश हुई थी। जब जाड़ा आया तो जिये और रेडी के महीने भी सूखे बीत गए। धान की फसल मुरझा गई। पानी-खेत तो एकदम बेकार हो गए।"[22]

नागा आदिवासी पहाड़ी क्षेत्र में खेती हेतु पानी-खेत बनाते हैं। पानी-खेत पहाड़ी ढलानों को काटकर सीढ़ीनुमा बनाया जाता है जिससे सोते का पानी ऊपर के हिस्से में छोड़ा जाए तो निचले हिस्सों को भी मिला सके। इस तरह के खेत बनाने में काफी समय लगता था। अतः पूरे गाँव की मदद लेनी पड़ती थी। पहाड़ी काटना काफी श्रमशील होता है। अतःऐसे खेत कम मात्रा में ही होते हैं। खेत बनाने में मदद करनेवालों को मधु, चावल और गोश्त भी खिलाना पड़ता था।

इस तरह से आरंभ में आदिवासियों के लिए जंगल की भूमि के उपयोग पर कोई मनाही नहीं थी। आदिवासियों ने अपने पराक्रम से वन्य आपदाओं, हिंस्र पशुओं और प्राकृतिक विपदाओं को झेलते हुए जंगल को जीता। जंगल को काटकर अथक श्रम से उन्होंने अपने खेत तैयार किए। जंगल के बित्ते-बित्ते भूमि के अधिकारी एकमात्र आदिवासी थे। किंतु औपनिवेशिक शासक अंग्रेज़ों ने न केवल खूँटकट्टी

[21] मौसी-पृ.149
[22] रक्तयात्रा-पृ.65

और झूम खेती पर प्रतिबंध लगा दिये बल्कि जंगल की भूमि, वनोपज एवं गाँव की गैरमजरुआ भूमि के उपयोग पर भी पाबंद लगा दिया। इतना ही नहीं आदिवासियों को अपने जमीन पर लगान देने को विवश किया गया। स्थायी बंदोबस्त के फलस्वरूप अंग्रेज़ों ने जंगल के साथ आदिवासियों के संबंध को भी हमेशा के लिए बदल डाला-"जंगल के परंपरागत ढाँचे और ग्राम स्वावलंबन की वन्य सामाजिक-प्रशासनिक संरचना को कंपनी सरकार के हितों के अनुरूप ढालने के उद्देश्य से कंपनी के गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस ने पूरी वन्य-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर डाले (1786 ई.)। भू-राजस्व की वसूली सुनिश्चित करने हेतु कंपनी सरकार ने जंगल में एक नया वर्ग उत्पन्न किया। बिचौलियों का वर्ग। साहू, बाबू और बंदूक का प्रशासनिक तंत्र...।

साहू अर्थात् सूदखोर महाजन, साहूकार और व्यापारी। बाबू अर्थात् जमींदार, जागीरदार और रजवाड़े। बंदूक थी कंपनी सरकार के दारोगा, नायब सजवाल और प्रशासनिक पदाधिकारियों की।

... जंगल की पुरानी व्यवस्था को नष्ट कर समस्त अरण्य क्षेत्र पर नयी व्यवस्था थोप दी गई थी। स्थायी बंदोबस्ती की प्रथा (1793 ई.)। आदिवासियों की आदिम भूमि व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी।"[23]

औपनिवेशिक नीति ने न केवल आदिवासियों को अपनी जमीन के स्वतंत्र उपयोग के लिए बाधा पहुँचाई बल्कि बिचौलिए वर्ग के द्वारा भू-राजस्व वसूली के नाम पर शोषण भी होने लगा। जंगल की अधिकांश उपजाऊ भूमि अंग्रेज़ों के हितैषी जमींदार, जागीरदार और रजवाडे को वितरीत कर दी गई। जो आदिवासी जमीन के मालिक थे उन्हें बंजर व ऊसर जमीन सरकार द्वारा मिली। इस तरह से आदिवासी समाज अपने पंरपरागत अधिकारों से बेदखल होकर बिचौलिए वर्ग के शोषण का शिकार होने को बाध्य हुआ। यहीं से आदिवासी समाज के पतन की कहानी शुरू होती है। जंगल की जमीन पर अपने जंगल समाज के पारंपरिक अधिकारों के लड़नेवाला

---

[23] जो इतिहास में नहीं है-पृ.40

आदिवासी मृत्यु का ग्रास बनता जा रहा है। किंतु जल, जंगल, जमीन का यह पारंपरिक मौलिक अधिकार के लिए संघर्ष आदिवासी समाज द्वारा आज भी जारी है। इस संघर्ष में आदिवासी स्त्री की भी सक्रिय भागीदारी आरंभ से लेकर अब तक रही है जिसे इतिहासकार नज़रअंदाज करते रहे हैं। 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास के नायक हारिल मुरमू को अपने जमीन के स्वामित्व की प्रेरणा उराँव स्त्री लाली बारंबार देती है-"हारिल ने कहा, "गोरमिण्टिया कागज कहता है हारिल मूँ गया। मुरदे का खेत-जमीन पर कौनो हक नईं बनता सो खेत राजन गोमके के खतियान में लिखा गया।"

"तूने आपन आँख से देखा है उ खतियान? खाली कह दिया गोरमिण्टिया कागज तो मान गया तू कि तू मूँ गया है।" विचित्र बात कह रही थी लाली। "...कैसा होर मरद है रे तू कि जमीन-जिनगी के बात में कोई कुच्छो कह दे तो पतिया जाता है तू? हँसुआ लाख सीधा हो बाकी तनिक टेढ़ा रहे तभी हुँसआ, नईं तो छूँछा लोहा... बुझाया रे?"[24]

आदिवासी स्त्री का बलात्कार करनेवाले अंग्रेज़ अफसर को हारिल जब जिंदा जलाकर गाँव से निकल जाता है तो जमींदार उसके कोयला-अभ्रक वाली कीमती जमीन का कब्जा कर लेता है। जमींदार हारिल को मृत घोषित कर जमीन पर अधिकार कर लेता है। आदिवासी समाज में संताल जाति मुख्यतः कृषि काम के लिए ही जानी जाती है। अतः जमीन से रहित संताल को हेय से देखा जाता है। एक अपढ़ स्त्री होकर भी लाली इस बात को जानती है और प्रेमी को बारंबार जमींदार के खिलाफ खड़े होकर जमीन हासिल करने पर बल देती है। जंगल एवं जमीन की लड़ाई में आदिवासी स्त्रियाँ भी संथाल हूल के लड़ाके को व्यापक सहयोग देती हैं जिसका वर्णन 'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में हुआ है।

आदिवासी के खेतिहार जमीन का अधिग्रहण कोई नयी बात नहीं है। आरंभ से ही सबल आर्य लोग के उपरांत अंग्रेज़ों का समर्थन पाकर जमींदार, जागीरदार,

---

[24] जो इतिहास में नहीं है-पृ.439

महाजन, साहूकार आदि शोषक वर्गों द्वारा आदिवासी के खेतिहर जमीन पर कब्जा कभी ऋण तो कभी कर आदि के बहाने होता रहा है। किंतु आदिवासी समाज के अपने ही लोगों के द्वारा खेतों का दखल वर्तमान में नई परिघटना है। आज गरीब आदिवासी के खेतिहर जमीन को पैसे के बल खरीद कर उन्हें बेदखल किया जा रहा है। आदिवासी स्त्री वर्षों के मेहनत से तैयार खेत को अपने ही ज़मात के लोगों द्वारा कब्जा करने की साज़िश से अचंभित नज़र आती है-"हमने पहाड़ी पत्थर को चूर कर खेत बनाया। कुआँ खोदा और फसल लगायी? कोई कैसे हड़प लेगा हमारे हिस्से की जमीन?"[25]

मुख्यधारा के संपर्क से आदिवासी समाज भी स्वार्थी होता जा रहा है। जल्द ही सब कुछ पा लेने की चाह में शार्टकट तरीका अपनाकर अपने लोगों के प्रति हिंसक होता जा रहा है। अपने भाई की जमीन (खेत) पाने हेतु सहोदर भाई गणेश मुर्मू, न्यायाधीश को रुपये एवं लड़की पेश करने में भी संकोच नहीं करता।

आदिवासी लोग खेत में काम करने में कुशल होते हैं। स्त्रियाँ तो पुरुषों से भी ज्यादा काम करती हैं। 'रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ' के 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ' कहानी में एतवारी खड़िया उर्फ सरस्वती बागे एवं 'रक्तयात्रा' उपन्यास में नागा स्त्री द्वारा खेती कार्य में सक्रिय भूमिका का वर्णन हुआ है। 'लौटते हुए' उपन्यास में एक आदिवासी युवती को उसके माँ द्वारा खेती-बारी के संबधं में जानकारी देने का जिक्र हुआ है-"... माँ ने उसे कह दिया था कि सुबह जल्दी उठकर खेतों में खाद डालने का काम कर दिया करे वह। कम से कम एक खेत में खाद बिखेरने का काम एक दिन में पूरा हो जाये तो बरसात आने के पहले उसे जोत कर मिट्टी में मिला दिया जाए। इससे बीज बुनते समय खेत अच्छी उपजाऊ बन जाते हैं। माँ बीच-बीच में सलोमी को खेती बारी के बारे में भी समझाती रहती है। कब खेतों से फालतू घासों की निकाई करनी है। कब खेतों में लगी फसल को कीड़ों से बचाने

---

[25] उसके हिस्से की जमीन-पृ.56 (आदिवासी कहानी अंक, अरावली उद्घोष-मार्च 2008)

के लिए दवाई आदि का छिड़काव करना है। कब खेतों में पानी को रोक कर रखना है।"[26]

जहाँ और युवतियाँ इस उम्र में अपने साथियों के साथ हँसी-ठिठोली अथवा गप्पे हाँकने में व्यर्थ ही समय व्यतीत कर देती हैं वहीं आदिवासी युवती आर्थिक कठिनाइयों के कारण खेती-बारी का कार्य अपने परिवार से न केवल सीखती है बल्कि करती भी है। आत्मनिर्भर बनने के लिए जीवन के हर पहलू को जानने-सीखने की अदम्य इच्छा उनमें रहती है।

4.4 हाट (बाजार)

आदिवासियों के आर्थिक जीवन में हाट की भूमिका निर्णायक रही है। इस प्रकार के बाजार अमूनन साप्ताहिक या पाक्षिक होते हैं जिसमें लोग निर्धारित स्थान व समय पर एकत्रित होकर अपनी वस्तुओं का एक दूसरे से विनिमय करते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में लगने वाला बाजार सामान्यतः स्थानीय प्रयोग की वस्तुओं का व्यापार करते हैं। बाजार सिर्फ आर्थिक दृष्टि से नहीं वरन् सांस्कृतिक संगम का भी केंद्र होता है। "इस प्रकार वे बाजार उत्सव का दृश्य प्रस्तुत करते हैं जहाँ लोग गाते और नाचते हैं तथा समस्त प्रकार के हँसी मजाक होते हैं। ये बहु प्रकार के प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। दूरस्थ रिश्तेदार एक दूसरे से मिलते हैं, विवाह तय होते हैं, स्थानीय, राजनीति की चर्चा होती है तथा इस प्रकार वार्षिक बाजारों का बहुत अधिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्व होता है।"[27] किंतु शहरी अर्थ व्यवस्था व वैश्वीकरण की प्रक्रिया के दबाव के फलस्वरूप आदिवासियों के परंपरागत हाट (बाजार) पर गहरा प्रभाव दिखाई पड़ने लगा है। व्यापारी अधिकांशतः भोले व बाजार की प्रकृति से अनजान आदिवासियों द्वारा उत्पादित सामग्रियों को सस्ते दाम पर खरीदकर मुनाफा कमाते हैं और उनकी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति महँगे दामों पर करते हैं।

---

[26] लौटते हुए-पृ.131

[27] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत-पृ.64

'पठार पर कोहरा' उपन्यास में आदिवासी जीवन में हाट की विविध भूमिका का जिक्र हुआ है। उपन्यास की नायिका रंगेनी का जीवन-अस्तित्व हाट पर ही निर्भर है। पति के मरने के बाद वह अपने घर के आस-पास सब्जी लगाकर व मुर्गी पालन करते हुए जीवन गुजारा करती है। स्थानीय उत्पादित चीज़ों को वह हाट में बेचकर अपना काम चलाती है-

"रंगेनी ने घर के पिछवाड़े की कोठरी में मुर्गियाँ पाल रखी हैं। हर मंगलवार के रोज हफ्ते भर के जमा अण्डे तुपकाडीह की हाट में बेच आती हैं। पिछवाड़े वाली थोड़ी-सी जमीन में साग-सब्जी भी लगायी है। ... माई जब बाजार में अपने अण्डे-तरकारी बेचती रहती है, बगल में बोरा बिछाये सोनारा भी लाल चींटों की दुकान सजाये रहता है।"[28]

अकेली जीवन-संघर्ष कर रही आदिवासी स्त्री को मदद अपने पुत्र से भी आर्थिक आधार के रूप में मिलता है। माँ के कठिनसाध्य जीवन में आर्थिक रूप से योगदान देने के लिए सोनारा भी छुटपन से ही लाल चींटों को इकट्ठा कर बाजार में बेचने का काम करता है। अतः आदिवासी समुदाय का बच्चा भी धीरे-धीरे बाजार की प्रकृति एवं लोगों के मनोवृत्ति को समझने के काबिल हो जाता है-"मोलभाव भी बढ़िया कर लेता है सोनारा। खड़ी बोली में भी थोड़ा-बहुत बतिया लेता है।"[29]

हाट में आदिवासी के जीवन से संबंधित सारी चीज़ें उपलब्ध हो जाती हैं। चूँकि वे न्यूनतम साधनों में भी अपना गुजारा कर लेते हैं अतः छोटी-मोटी आवश्यक चीज़ों की पूर्ति हाट से हो जाती है। हाट में विविध वय (उम्र) के आदिवासी स्त्रियों की सक्रियता होती है-

"मनसा पुल पर कारखाने की चाहरदीवारी से सटी हुई ही हाट थी। शाक-सब्जी, केकडे, मिट्टी के बरतन, मुर्गा-मुर्गियाँ, बकरे-बकरियाँ और भेड़ें। पता लगा शनिवार को पशुओं की हाट भी लगा करती है यहाँ पर। आज बुधवार था, छोटी हाट। यहाँ बेचने वाले आदिवासी थे, मुख्यतः औरतें। नवीनाओं ने ब्लाउज पहन

[28] पठार पर कोहरा-पृ.47-48
[29] पठार पर कोहरा-पृ.48

रखे थे, लेकिन प्रौढ़ाओं के बदन पर सिर्फ मलिन साड़ियाँ ही थी और खरीदने वाले प्रायः गैर-आदिवासी। मेले में आदिवासी लड़के लड़कियों की अलग भीड़ थी जो अपने ढँग से उटँग करते हुए पहनावे, जूड़े में चाँदी लड़ियों से और इससे भी ज्यादा अपने उन्मुक्त चुहल से अलग से पहचानी जा सकती थी। इनका आकर्षण मुख्यतः मोटे चावल, ज्वार, बाजरा, कोदों, नमक, सरसों और मिट्टी के तेल तथा पाउडर, चोटी, आलता, दर्पण, फीता, कंघा, नेलपॉलिश, गमछा, चोली, साड़ी और ब्लाउज की दुकानें थीं। यहाँ बेचने वाले दिकू थे।"[30]

दरअसल हाट में नये उम्र की आदिवासी लड़कियाँ एक ओर अपनी सखियों के साथ उन्मुक्त जीवन का रस लेती हैं वहीं दूसरी ओर बाजारू उत्पाद के प्रति आकर्षित भी होती हैं। प्रायः बाहरी लोग अपनी दुकानों पर शहरी रंग-बिरंगी चीज़ों को रखकर युवा ग्राहक को लुभाने की कोशिश करते हैं। जबकि पुरानी पीढ़ी की स्त्रियाँ इन उत्पादों से दूर रहकर अपने स्थानीय उत्पादों को बेचकर जीवन-अस्तित्व कायम रखने की भरसक कोशिश करती हैं।

हाट-बाजार सिर्फ आवश्यक चीज़ों की आपूर्ति-स्थल नहीं, न ही जीवन-अस्तित्व को कायम रखने हेतु उपयुक्त जगह बल्कि आत्मीय लोगों से मिलन का भी महत्वपूर्ण जरिया है।

4.5 लोक कलाकार

कुछ आदिवासियों में परंपरागत लोक कलाएँ उनके जीवन-यापन का साधन मानी जाती रही हैं। इनका मुख्यपेशा नाच-गान, कलाबाजी, सर्प-नृत्य करना आदि रहा है। ये वास्तव में लोक कलाकार हैं। इनकी कला ही जीविकोपार्जन का साधन है। इन आदिवासी जनजातियों में नट, सयेरा, मदारी, गारद आदि प्रमुख हैं। दक्षिण-पूर्वी उत्तर प्रदेश में निवास करनेवाली नट एवं आदिवासी सपेरा जनजाति के लोग नाच-गाकर तमाशा दिखाते हैं। रस्सी पर चलना, कलाबाजी करना आदि नट की विशेषता है। दर्शक तमाशा देखकर पैसे देते हैं जो इनकी जीविकोपार्जन का साधन होता है।

[30] पाँव तले की दूब-पृ.48

मध्यप्रदेश में गोंड आदिवासी की उपजाति है ओझा। व्यावसायिक रूप में इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक वर्ग तो प्राथमिक रूप से नृत्य एवं वादन का कार्य करता है। जबकि दूसरा ओझा स्त्रियाँ पड़ोसी समुदाय के लोगों की बाँहों में गुदना गोदने का कार्य करती हैं। दरअसल ओझा आदिवासी समूह गोंड तथा अन्य आदिवासियों के बीच भाट के रूप में प्रसिद्ध है। वर्तमान में आदिवासी समूहों की पारंपरिक कलाओं, नृत्य एवं गायन को सम्मान की दृष्टि से देखे जाने के कारण छत्तीसगढ़ के पण्डवानी, मध्यप्रदेश के राई नृत्य आदि को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिल चुकी है। हिंदी आदिवासी साहित्य में अधिकांशतः विमुक्त आदिवासी समुदाय के रूप में नट एवं गौण रूप में गोंड ओझा स्त्री का ही चित्र मिलता है। विमुक्त समुदाय के लोक कलाकार के जीवन पर केंद्रित उपन्यासों में 'कब तक पुकारूँ', 'शैलूष' प्रमुख हैं जबकि 'मृगनयनी' में आंशिक रूप से वर्णन मिलता है।

विमुक्त आदिवासी समुदाय से संबंधित लोक कलाकार नट आर्थिक निर्भरता के लिए न केवल तरह-तरह के करतब व खेल दिखाते हैं बल्कि पर्स, थैले, दवाइयाँ आदि बनाने का भी काम करते हैं-"जुड़ावन के कबीले में करीब पच्चीस नट ऐसे थे जो हर तरह का करतब और खेल दिखा सकते थे। बस,सवाल उनको ठीक से समझाकर ठीक काम सौंपने का था। भैंसे चलीं, बंदर-बंदरिया चले, माटी की हांडी में बंद गेहुँअन से लेकर धामिन तक साँपों को बहँगी पर लादे प्रौढ़ नट चले। गुदना गोदने वाली युवती नट्टिनें चलीं। अवैध हमल गिराने के लिए अफीम और दूसरी जड़ी-बूटियाँ बेचने वाली निडर नट कन्याएँ चलीं। छेड़छाड़ करनेवालों को छुरे की नोक पर नचाने वाली नृत्य-कुशल शैलूष छौकरियाँ चलीं।"[31]

नट लोग करतब दिखाने के लिए साँप व बंदर का सहारा विशेष रूप से लेते हैं। खेल व करतब द्वारा मनोरंजन कर पैसा कमाने की प्रवृत्ति नट पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों में समान रूप में देखने को मिलती है-"वह केवल शैलूष-कन्या नहीं है जिनको धरम-धुरंधरों ने नाच-गाकर, खेल-तमाशा दिखाकर रोजी-रोटी चलाने

[31] शैलूष-पृ.9

वाली जन जाति मान लिया है।"[32] मनोरंजन करते-करते कई बार नट स्त्री को धर्म के धुरंधरों द्वारा छेड़खानी का भी सामना करना पड़ता है। अतः अपनी सुरक्षा हेतु वे छुरेबाजी की कला में भी प्रवीण हो जाया करती है-"यही रूपा है जिसकी छुरेबाजी की धाक गुजरात से बंगाल तक के नट-कबीलों में छाई है।"[33] पुरुषों की निशानेबाजी कला में निपुण होने के कारण धीरे-धीरे वे भी सीखकर निपुण हो जाया करती हैं।

नट पुरुष जहाँ कुश्ती में निपुण माने जाते हैं वहीं स्त्रियाँ नृत्य-संगीत में कुशल मानी जाती हैं। बनाफर व आल्हा-ऊदल के वंशज माननेवाले शैलूष आल्हा दंगल में कुश्ती के साथ-साथ गाना भी गाते हैं। गाने में स्त्री भी सहयोग देती है-

"तब ललकार दई आल्हा ने जम्वै सावधान ह्वई जावं
इतनी कह कर नर आल्हा ने अपनी लीन्ही ढाल उठाय
औझड़ मारी तब जल्दी से, तुरत महावत दियो गिराय।"[34]

आल्हा गान में शत्रुओं को ललकारने के वक्त आवाज़ में आरोह-अवरोह का विशेष ध्यान देना पड़ता है। शैलूष उपन्यास में आल्हा गान में शामिल ननकू एवं ताहिरा के माध्यम से समरस संस्कृति (हिंदू मुस्लिम एकता) को भी रेखांकित करने का प्रयास किया है। "ताहिरा और ननकू ने अपनी कलाकारिता से जो हिंदू-मुस्लिम एकता की रंगत पेश की है, उसके लिए उन्हें बनारस बुलाकर खुली सभा में सम्मान दिया जायेगा।"[35]

किसी भी कलाकार की सार्थकता सिर्फ आर्थिक दृष्टि से नहीं वरन् सांस्कृतिक एकान्वय के स्तर पर भी होता है, बनाफर नट का जीवन इस दृष्टि से अनुकरणीय है। किंतु आल्हा-गान की समृद्ध लोक-संस्कृति जन एवं सरकार की लगातार उपेक्षा के कारण दम तोड़ने के कगार पर है।

---

[32] शैलूष-पृ.72
[33] शैलूष-पृ.201
[34] शैलूष-पृ.150
[35] शैलूष-पृ.164

शैलूष उपन्यास में पुतली नाच का भी वर्णन किया गया है। जिस तरह आल्हा दंगल में पुरुष के साथ स्त्रियों की सहभागिता होती है उसी तरह पुतली नाच में भी। किंतु पुतली नाच में पुरुषों एवं स्त्रियों की संख्या अधिकाधिक होती है। इस नाच में संवाद के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों पर प्रकाश डाला जाता है-

"तू स्याला इज्जत बख्शने में
असफल नट शैलूष रहा
चारण जाति नये के बारह कुल में पुजवाती है
वही आज गंदे गलीज को सिर पर उठवाती है।"[36]

इसमें नट ज़मात के पतनशील स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है साथ ही सत्ता पक्ष पर भी व्यंग्य किया गया है। प्रहसन शैली में यह नाच सत्ता के चरित्र एवं नट के दयनीय जीवन का बेबाक रूप में चित्रण भी है।

'शैलूष' उपन्यास में नटों का जीवन सभ्य समाज से प्रभावित नज़र आता है। अतः वहाँ प्रत्यक्ष रूप से नट के क्रिया-कलापों का जिक्र नहीं हुआ है। जबकि 'मृगनयनी' में गौण रूप में सही नट के करतबों का खुलकर वर्णन किया गया है- "हमारा तमाशा देखो, नाच, रस्से पर ढोलकी बजाते हुए दौड़ना, कुलाँचें, एक पेड़ से दूसरे पर उछलकर पहुँचना, बँदरों के खेले और अनगिनत करतब। सुंदरिया। अरी ओ सुंदरिया!! उसने झोपड़ी में बँधे हुए बंदरों की ओर मुँह करके संबोधित किया। छातियाँ मटकाई और मार्गदर्शकों के प्रति शरारत-भरी आँख चलाई।

"कितनी फूहड़ है, नटनी ही तो ठहरी। अगुआ ने सोचा।"[37]

इस उपन्यास में नटनी अपने क्रिया-कलापों से राजा एवं उसके अधिकारी को प्रसन्न कर आर्थिक सहायता पाते हैं। साथ ही राजा के द्वारा मनपसंद युवती को प्रलोभन द्वारा फँसाने का उपक्रम भी नट स्त्री करती है किंतु सभ्य समाज का रवैया नट स्त्री के कारनामों के प्रति हेय है।

---

[36] शैलूष-पृ.276-277

[37] मृगनयनी-पृ.71

नट का ही एक रूप करनट का चित्रण 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास में हुआ है। करनट में बाकी नटों के से कला-करतब नहीं चलते। पर इस उपन्यास के करनट नाचते हैं और खेल भी दिखाते हैं। "नटों की औरतें घूँघट भी खींचती हैं और खोलकर भी नाचती हैं। दस-दस घड़े सिर पर रख लेती है और फिर कमर हिलाती हैं।"[38] नट औरतें करतब के नाच दिखाने के उपरांत सिर्फ अपने जिजमान से ही रुपये-पैसे लेती हैं। इसी तरह करनट स्त्री भी ज़्यादातर नाचती है। इनकी औरतें डोमनियों की तरह नाचती हैं पर इनके जिजमान नहीं होते। कोई-कोई लड़की कला भी दिखाती है, पर खेल का रिवाज इनमें कम है। इस प्रकार 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास में नट व करनट स्त्री के आर्थिक क्रिया-कलापों का तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है।

4.6 अपराध-कर्म से जुड़ा व्यवसाय

विमुक्त एवं घुमंतू आदिवासी जनजातियों का जीवन अस्तित्व मूलतः आपराधिक क्रिया-कलापों पर निर्भर होता है। 'कब तक पुकारूँ', 'शैलूष', 'धरती मेरा घर' जैसे उपन्यासों में क्रमशः करनट, नट व लौहपीटों का जीवन, वहीं हाल में ही प्रकाशित होनेवाले उपन्यासों में 'अल्मा कबूतरी', 'रेत' व 'डेरा बस्ती का सफ़रनामा' में क्रमशः कबूतरा, कंजर व बांछड़ा समुदाय के जीवन-संघर्ष का उल्लेख हुआ। इन सभी उपन्यासों में एक बात महत्वपूर्ण रूप से सामने आती है कि ये आदिवासी जनजातियाँ मुख्यधारा के भयंकर शोषण एवं पुलिसिया बर्बरता के कारण अपराध में संलग्न रहते हैं। न्याय प्रणाली भी इन समुदायों के प्रति उपेक्षा की दृष्टि अपनाती रही है। संविधान के 61 साल बाद भी अधिकांश विमुक्त एवं घुमंतू समुदाय अंग्रेज़ों द्वारा बनाये गए अधिनियम 'अपराधजीवी जनजातियाँ अधिनियम' के तहत ही दर्ज हैं।

जयरामपेशा अपनानेवाली विमुक्त एवं घुमंतू समुदाय की स्त्रियाँ आर्थिक ज़हालत, पुरुष के निकम्मेपन एवं मजबूर स्थितियों के कारण देह-व्यापार में

---

[38] कब तक पुकारूँ (भूमिका)-पृ.3

शामिल होती हैं। अधिकांश देशों की तरह भारत में देह-व्यापार को अपराध-कर्म की संज्ञा दी गई है। देह-व्यापार पर आश्रित कंजर समुदायों के जीवन पर 'रेत' उपन्यास हाल में सर्वाधिक चर्चित हुआ है। कंजर जनजाति की अविवाहित लड़कियाँ देह व्यवसाय अपनी इच्छा के अनुसार करती हैं। देह धंधा करना या परिवार में ब्याह करके घर बसाना उनकी मर्जी से होता है। कंजर जनजातीय समाज में जो स्त्री विवाह करके घर बसाती है उसे 'भाभी' कहते हैं। इस समाज में भाभी बनना दोयम दर्जे का काम माना जाता है क्योंकि जिंदगी भर उसे घर की चारदीवारी में सबकी चाकरी करनी पड़ती है। यही कारण है कि संतो भाभी की चौदह वर्षीय बेटी पिंकी से जब पूछा जाता है कि तुम क्या बनोगी? तब उत्तर में पिंकी बुआ बनना पसंद करती है। कंजर समाज की जो स्त्रियाँ भाभी बन जाती हैं वह देह व्यापार नहीं करती जो बुआ बनना पसंद करती, वह जिंदगी भर बुआ बनी रह कर विवाह नहीं करती। कंजर मातृसत्तात्मक समाज है जिसमें बुआ परिवार की सर्वेसर्वा होती है। कंजर स्त्री बुआ बनकर (देह-व्यापार) स्वतंत्रपूर्वक स्वच्छंद जीवन जीती हैं।

कंजर जनजाति की अविवाहित लड़कियाँ जब देह व्यवसाय करती हैं इसे उनकी भाषा में 'खिलावड़ी' कहते हैं। परिवार में युवती जब पहली बार देह धंधा शुरू करती है तो उसे 'मत्था ढकाई' कहते हैं। 'मत्था ढकाई' करने वाले 'इज्जतदार' को कंजर समाज के विवाहित परिवार में दामाद के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसे पति की तरह कभी भी अपनी इच्छा को पूरी करने की छूट मिलती है। 'मत्था ढकाई' होने के बाद स्त्री देह-व्यवसाय शुरू करती है। बिना इस रस्म के कोई भी युवती अपना धंधा आरंभ नहीं करती है। कई बार पैसे के लोभ में कमसिन युवती की मत्था ढकाई किसी भी अधेड़ के साथ कर दी जाती है-"दौड़कर पास आती किशोरी को देख वैद्यजी मानो तड़ाक से ज़मीन पर आकर गिरा। पलभर के लिए ज़िबह होते मेमने का आर्तनाद कानों में घुलता चला गया। आँखों के आगे अँधेरा छा गया। कहाँ पतली-पतली टहनियों पर कुलाँचें भरती मुश्किल से अभी-अभी कैशोर्य की दहलीज लाँघती यह अल्लहड़ गिलहरी और कहाँ यह हट्टा-कट्टा पुष्ट कुलंग। ... पहली बार गिलहरी-सी फुदकती रम्भा के लिए 'खिलावड़ी' शब्द

के इस्तेमाल पर वैद्यजी को पूरी देह में झुरझुरी दौड़ती चली गई। यानी आज के बाद यह न कूदती-फूदती गिलहरी रहेगा, न रम्भा। बस, एक खिलावड़ी भर रह जाएगी। यही इसकी पहचान होगी।"[39]

बचपन से ही खिलावड़ी अर्थात् वेश्या की पहचान किसी स्त्री के लिए सबसे अपमानजनक बात है। किंतु आर्थिक संकट के कारण कंजर युवती इसे अपने लिए सबसे सुखद क्षण मानती है। चंद पैसों के लिए वह किसी भी पुरुष के साथ 'मत्था ढकाई' अर्थात् देह-व्यवसाय का विधिवत आरंभ करने को राजी हो जाती है। इतना ही नहीं देह व्यवसाय में शामिल प्रथम पुरुष को जमाई का दर्जा देकर जीवन-पर्यंत उनकी इच्छा को पूरी भी करती है।

देह-व्यापार करते हुए कंजर स्त्री को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। एक ओर तथाकथित इज्जतदार अपनी कामपिपासा कंजर स्त्री से मिटाते हैं वहीं दूसरी ओर अपने आसपास रहने भी नहीं देना चाहते। आसपास रहने पर उन्हें अपने बेटी-बहू के आचरण पर बुरा असर पड़ने की संभावना नज़र आने लगती है। जिस तरह पहले अंग्रेज़ कंजरों पर अत्याचार करते थे उसी तरह की मानसिकता समाज में अब भी बनी हुई है तभी कंजरों की मुखिया कमला बुआ कहती है-"इस मुल्क में हम तो आज भी वैसे ही हैं, जैसे फिरंगियों के जमाने में थे। पहले फिरंगियों और उनके दलाल-पिट्ठुओं ने हमारा जीना मुहाल कर रक्खा था, अब इन देसी फिरंगियों ने।... जैसे ये इज़्ज़तदार अपनी मेहनत बेचते हैं न, वैसे ही हम अपनी देह बेचते हैं। हमारे लिए तो हमारी यह देह ही हमारी मेहनत है। हमारे लिए तो यह दूसरे कामों की तरह आम काम है।"

"देखो जनाब, धंधे को तो यह औरत मेहनत बता रही है।"

"क्यों, बिना मेहनत हो जाता है यह काम। जाके पूछ अपनी जोरू से कित्ती मेहनत लगती है इस काम में। वाह, तुम्हारी मेहनत, मेहनत और हमारी मेहनत धंधा।"[40]

---

[39] रेत-पृ.63
[40] रेत-144

सभ्य समाज की नज़र में वेश्यावृत्ति को हीन माना जाता है। देह व्यापार में संलग्न स्त्री के प्रति घृणास्पद रवैया समाज अपनाता है। अपनी कामुकता को शांत करके सभ्य समाज कंजर स्त्री के प्रति आक्रामक नज़र आता है। इज़्ज़तदारों की तरह कंजर स्त्री अपने देह व्यापार को भी एक तरह का श्रम ही मानती है किंतु सभ्य लोग इसे मेहनत के रूप में गिनती नहीं करते। देह-व्यापार को लेकर कंजर स्त्री के मन में न कहीं हीनता की ग्रंथि है न ही कुंठा। बल्कि देह-व्यापार को भी अन्य कर्मों की तरह एक कर्म माना जाता है। चूँकि देह-धंधे को एक व्यवसाय मानकर कानूनी दर्जा अभी तक नहीं मिल पाया है। अतः इसमें शामिल स्त्री को अधिकाधिक दमन एवं अत्याचार सहना पड़ता है। 'रेत' उपन्यास में कंजर स्त्री जहाँ अपने देह-धंधे को बुरा नहीं मानती इसी तरह की मानसिकता 'एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा' में दिखाई देती है-"अगर तुम सोचते हो कि यह एक जुर्म है तो तुम्हें सजा जरूर मिलेगी। अगर तुम सोचते हो कि तुमने डाका डाला है तो सबसे पहले आस-पास वाले तुम पर झपटेंगे, फिर पुलिस और अदालत तुम्हें सजा देगी। हम गुनहगार क्यों हैं? किस नजरिए से? अगर सेक्स कोई गुनाह है तो वो भी एक गुनहगार नहीं है?"[41] अक्सर देह-धंधे में शामिल स्त्री को ही सजा मिलती है जबकि पुरुष बरी हो जाते हैं। यह पितृसत्तात्मक समाज की दोहरी मानसिकता को ही उजागर करता है। अतः देह-व्यापार को जुर्म नहीं मानने पर ही इनके खिलाफ अत्याचार कम हो सकता है।

कंजर जनजातीय समाज में देह-व्यापार के कड़े नियम हैं। इस नियम के तहत यदि कोई पुरानी खिलावड़ी के ग्राहक को नई खिलावड़ी फुसलाती है तो अपराध माना जाता है। क्योंकि यह तो उसकी रोजी-रोटी से जुड़ा हुआ होता है। देह-व्यापार में कोई किसी का नहीं होता, धंधा-धंधा होता है। इस विषय में पारिवारिक संबंध भी हो तो भी दंड भुगतना पड़ता है। गलती हर हालत में गलती ही मानी जाती है। इस मसले की शिकायत पंचायत में की जाती है-"'रही बात बहन

[41] एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा-पृ.64

की, तो धंधे में नहीं चलते हैं ये रिश्ते-नाते... धंधे में खिलावड़ी, खिलावड़ी होती है। कोई बहन-बहन नहीं होती है। तो फिर तू ही बता मैं क्या करूँ?'

'करना क्या, मैं इसे पंचायत में ले जाकर ही मानूँगी।'"[42]

पंचायत में कज्जा (ग्राहक) तोड़नेवाले स्त्री को कड़े दण्ड का भागी होना पड़ता है, यह दंड आर्थिक व मानसिक दोनों स्तर पर हो सकता है। अतः कठोर दण्ड के कारण कज्जा तोड़ने की परंपरा कम ही देखने को मिलती है।

कंजरों में एक नियम पूर्वजों से है, जब किसी कंजरी को यौन विषयक रोग हो जाता है तो वह दूसरी खिलावड़ी को आधे बाँटे में रख सकती है। ऐसा इसलिए भी किया जाता है ताकि पुराने ग्राहकों को बचाया जा सके। देह-व्यापार में शामिल स्त्री की भी अपनी अस्मिता हो सकती है। यह सभ्य समाज के ठेकेदारों को समझ से परे बात मालूम लगती है। युवा नेता मुरली जब रुक्मिणी की इच्छा के बगैर सेक्स करना चाहता है तो रुक्मिणी शराब की बोतल तोड़कर उसके पेट में घुसाकर घायल कर देती है। जिस देह के कारण रुक्मिणी को अपमानित होना पड़ता है उसी देह को अस्त्र बनाकर वह मुरली को राजनीति के क्षेत्र में पटक देती है। कंजर पुरुषों के अपराध-वृत्ति यथा-चोरी, अवैध शराब निर्माण आदि में लिप्त होने एवं वेश्यावृत्ति को कानूनन मान्यता न मिलने के कारण कंजर स्त्री को आए दिन पुलिसिया बर्बरता का भी सामना करना पड़ता है। कंजर स्त्री स्वयं एवं अपने पुरुष के गैर कानूनन वृत्ति (पेशा) का मुआवज़ा अक्सर अपने दैहिक हिंसा झेलकर चुकाती है।

4.7 श्रमिक जीवन

आदिवासी समुदाय में कुछ लोग ऐसे हैं जो परंपरागत कृषक अथवा कारीगर हैं, परंतु भूमिहीन होने के कारण जीवन-यापन हेतु दूसरों की खेती में मजदूरी करते हैं। इसी पर उनका जीवन निर्भर करता है। ये लोग खेतिहार मजदूर के अतिरिक्त अन्य धंधों में भी अकुशल श्रमिक के रूप में काम करते हैं।

---

[42] रेत-पृ.67

दरअसल औद्योगिक श्रमिक भारतीय आदिवासियों के आर्थिक संगठन में अपेक्षाकृत नयी परिघटना है। औद्योगिक सभ्यता के संपर्क में भारत के आदिवासी दो तरह से आये। एक तो वे रोजगार यापन के लिए औद्योगिक क्षेत्रों में स्थानांतरित हो गये अथवा दूसरे जिन क्षेत्रों में वे बसते हैं प्रचुर खनिज-संसाधनों के कारण वहाँ उद्योग-धँधे स्वयं स्थापित हुए। बढ़ती हुई आर्थिक कठिनाइयों के कारण बड़ी संख्या में संथाल, गोंड, ओराँव, मुण्डा, खरिया आदि आदिवासी लोग असम जाकर वहाँ के चाय के बागानों में कार्य करने लगे जबकि परिवार के अन्य सदस्य शहरीकरण व औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप नई परिस्थितियों में अकुशल श्रमिक के रूप में काम करने लगे। अकुशल श्रमिक के रूप में 'संथाल' तथा 'हो' को प्रमुख स्थान प्राप्त है। मध्य भारत के प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर आदिवासी क्षेत्रों (झारखंड, उड़ीसा, बंगाल, छत्तीसगढ़ आदि) में काफी संख्या में औद्योगिक अकुशल श्रमिक जीवन से आदिवासियों की संबद्धता जाहिर हो चुकी है। इन क्षेत्रों ने आदिवासी जमात को जीवन-साधन के लिए निश्चित तौर पर नये साधनों को प्रस्तुत किया किंतु इनके लिए जो इन्हें मूल्य चुकाना पड़ा वह बहुत त्रासद् व भयानक है। औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने आदिवासियों के परंपरागत मूल्य व मान्यताओं को तहस-नहस कर जिन औद्योगिक कुप्रवृत्तियों की ओर ढकेला है वे हैं-वेश्यावृत्ति, जुआ, स्वार्थलिप्सा, मद्यपान आदि। अपरिचित नये परिवेश में वे अपने ही देश में बेगाने व पहचान की समस्या से लगातार जूझ रहे हैं।

आदिवासी स्त्री के श्रमिक जीवन का सटीक रूप में वर्णन 'सीता मौसी' उपन्यास में मिलता है। रमणिका गुप्ता ने छोटानागपुर, संथाल परगना के उन इलाकों जहाँ आदिवासी अपने जंगल-जमीन से विस्थापित कर श्रमिक मजदूर बना दिए गए हैं, की त्रासदी को बेहद प्रामाणिक व मार्मिक अभिव्यक्ति ही नहीं दी है बल्कि अदम्य जिजीविषा और संघर्ष का मादा रखनेवाली 'सीता' और 'मौसी' सरीखी आदिवासी नायिकाओं की सृष्टि भी की है। कोयला खदानों में कार्यरत श्रमिकों की कार्य-अवस्था एवं जीवन-सुविधाओं को बेहतर बनाने के लिए आंदोलन करना रमणिका गुप्ता का कार्यक्षेत्र रहा है। 'सीता मौसी' उपन्यास कोयला खदानों में संघर्ष

की प्रामाणिक दास्तानें हैं जहाँ जड़ता, अज्ञान और अंधविश्वास के बीच से फूटती गत्यात्मक चेतना और दिशाबोध को परत-दर-परत खुलते-फैलते देखा जा सकता है।

'मौसी' उपन्यास हजारीबाग जिले के केदला कोलयारी के ठेकेदारों, रंगदारों, महाजनों द्वारा श्रमिक दलित आदिवासियों के शोषण की कहानी है। यह एक सामंत की कोलियारी है जिसका राज्य की राजनीति एवं उस क्षेत्र में प्रभावी हस्तक्षेप एवं दबदबा है-"वहाँ किसी यूनियन का संगठन नहीं था। उस क्षेत्र को लोग 'नो मैन्स लैंड' कहते थे। ठेकेदारों, लठैतों, रंगदारों, महाजनों का राज था। धनबाद का 'माफिया' शब्द अभी वहाँ नहीं पहुँचा था। पर 16 वीं शती के मध्ययुग जैसा सामंती परिवेश था। राजा साहब की खदानें थीं। राजाशाही चलती थी। भले ही कंपनियों, ठेकेदारों, पहलवानों की मार्फत ही सही।"[43] सामंती दबदबा होने के कारण राजाखदान में प्रवेश करने की हिम्मत न सरकारी अफसर, न किसी यूनियन ने कभी की। अतः वहाँ होने वाले सारे कार्य नियम-कानून को धत्ता बताते थे-"माँ-बाप के साथ 12-13 वर्ष के बाल-मजदूरों को खटना आम बात थी। रात को भी औरतें लोडिंग करती थीं मरदों के साथ। बगल में कुजू फील्ड में तो हेसागढ़ कोलियारी में अंडरग्राउंड खदान तक में औरतें खटती थीं। लगभग चार सौ औरतें पर कोई टोकने वाला न था।"[44] इस उपन्यास की नायिका सीता एवं उसकी बहनें भी अपने परिवार के साथ बाल श्रमिक के रूप में खदान जाना आरंभ करती है। रात में खदान में कार्य करवाना व लोडिंग में स्त्री को शामिल करना श्रमिक कानून के विरुद्ध माना जाता है किंतु सामंती वर्चस्व के कारण यह सब बगैर रोक-टोक के चलता रहता है।

केदला कोलियारी में विधिवत यूनियन बन जाने पर कई कामिनें यूनियन के नेतृत्व में आ चुकी होती हैं। करमाली आदिवासी स्त्री सीता लेखिका के नेतृत्व में चल रहे मजदूरों के आंदोलन की भी सक्रिय सदस्य बन जाती है। वह कहीं-कहीं

---

[43] सीता-पृ.13

[44] सीता-पृ.11

हड़तालों, मीटिंगों, धरनाओं और प्रदर्शनों का नेतृत्व भी कर चुकी है। वह बड़ी प्रखरता और मुखरता से मज़दूरों के अस्तित्व, पहचान और सुरक्षा की माँग आए दिनो करती रहती है। सीता लेखिका के साथ कोयला खदानों के सरकारीकरण करने के आंदोलन में भी बढ़-चढ़कर अपनी भूमिका का निर्वहन कर चुकी है। वह कई बार मजदूरों की दोहरी लड़ाई भी लड़ चुकी है। खदान के सरकारीकरण के बाद श्रमिक मज़दूरों की लड़ाई का आयाम विस्तृत हो जाता है। सरकारीकरण के बाद हज़ारों मजदूरों के नाम छूट गये थे। फर्जी यूनियनें भी बन गयीं जो मजदूरों को गुमराह करती थीं। सीता भ्रष्ट यूनियन के नेताओं के खिलाफ प्रतिवाद करती है-

"साले जब ठेकेदारवन से लड़ना था तो कोई नेता नहीं आया, तब गुप्ता मैया ही मार खाई। अब खावे-पकावे खातिर सब चोरवन रातों-रात नेता बन गेल हैं। हड़ताल तोड़े के कहत हैं। ... हड़ताल न टूटतै, जब तलक हमर माँग नाय मिलतै।"[45]

श्रमिक मजदूरों के अधिकारों के लिए लड़नेवाले यूनियन का चरित्र हमेशा संदेहास्पद रहा है। खान के सरकारीकरण के बाद ढेर सारे भ्रष्ट यूनियन का गठन होने लगा। जब ठेकेदारों, दलालों व रंगदारों से सीधी लड़ाई थी तब ये यूनियन नदारद थे। सरकारीकरण की लड़ाई में भी न तो कोई नेता सामने आये न ही कोई यूनियन। किंतु खान के सरकारीकरण होते ही शर्माजी न केवल यूनियन-लीडर बनते हैं बल्कि दूसरी यूनियन भी खड़ी कर लेते हैं। वे यूनियन खड़ी करते ही प्रबंधन से सौदाबाजी कर ट्रक-लोडरों की बहाली की माँग में रुकावट पैदा करते हैं। अपढ़ होकर भी सीता नेपथ्य में शर्माजी द्वारा की जा रही दलाली को समझती है और कड़े शब्दों में प्रतिकार करती है।

सीता न केवल भ्रष्ट यूनियन के नेताओं के खिलाफ लड़ती बल्कि श्रमिक मज़दूरों के हक मारनेवाले खदान के मैनेजर को भी सीधी चुनौती दे डालती है-"चल भड़ुए, ऑफिस में बैठ जाके! दखल दिया तो मुंडी काट लेंगे। हमर पेट पर लात

[45] सीता-पृ.44-45

मत मार, नहीं तो तोर रोने वाला भी न मिली।"[46] सीता के विद्रोही चरित्र से न सिर्फ मैनेजर बल्कि पुलिस भी डरती थी। इतना ही नहीं पति के मना करने पर भी वह यूनियन में शामिल होती है और बढ़-चढ़कर यूनियन के गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी निभाती है। सरकारीकरण के बाद रोजगार से वंचित रह गए मजदूरों के लिए यूनियन संघर्ष करती है। सीता इन मजदूरों के अधिकारों के लिए जान जोखिम में डालकर संघर्ष करती है। श्रमिक मजदूरों के आपसी फूट का फायदा प्रायः मैनेजमेण्ट उठाता है। जिन ट्रक लोड़रों को नौकरी मिल गई है वे अपने साथी की लड़ाई में मदद नहीं करते। इस स्थिति को देखकर सीता स्वार्थी मजदूरों की खबर लेती है-"साले आपन काम नहीं था तो इन सबसे मदद लिया। इनकर मदद की बारी आई तो जे सब काम पा गेले सभै चुपचाप बैठ गेले है। आज एकता तोड़ोगे तो कल तुमरी भी कोई मदद नाय करब।"[47]

एकता का अभाव ही मजदूरों को अक्सर अपने अधिकारों से बेदखल कर देता है। शिक्षा का अभाव एवं स्वार्थों में लिप्त रहने के कारण मजदूर इसे समझ नहीं पाते। जबकि अपढ़ सीता एक स्त्री होते हुए अपने विवेक से यह समझती है। मैनेजमेंट अक्सर आपसी फूट का फायदा उठाकर अपना हित साधते हैं।

औद्योगिक क्षेत्र में कार्यरत आदिवासी श्रमिक स्त्री को कई तरह के अधिकारों से बेदखल किया जाता है। 'सीता' उपन्यास में खदान के सरकारीकरण के बाद सीता की बहन सरस्वतिया का नाम सरकारी खदान के खाते में उम्र कम होने के कारण दर्ज न होने पर, नौकरी नहीं मिल पाती है। खदान में काम करते वक्त सबसे ज्यादा संकट स्त्री को गर्भवती होने के दौरान झेलना पड़ता है। सरकारीकरण के पहले खदान में जहाँ स्त्री को न तो मैटरनिटी बैनेफिट मिलता न ही छुट्टी। बल्कि खदान का मालिक बच्चा जन्मते समय दूसरे श्रमिक स्त्री को खदान में शामिल कर लेता। अस्तित्व संकट से बचने हेतु स्त्रियाँ बच्चे के जन्म के दो-तीन दिन बाद ही खदान पर काम करने को मजबूर होती। इस दौरान उसका वेतन भी काटा जाता है।

---

[46] सीता-पृ.45

[47] सीता-पृ.52

खदान के सरकारीकरण होने पर यूनियन मैटरनिटी बैनेफिट की चर्चा तो करता है किंतु अधिकारियों की स्त्री के प्रति दुर्भावना के कारण यह पूरी तरह लागू नहीं हो पाती। सीता का पति यासीन मियाँ भी प्रबंधन का हिस्सा होने के कारण अपनी पत्नी को भी इस अधिकार से महरूम करता है ताकि अन्य लोग भी इस हक के लिए आगे न आने लगें। सीता न केवल अपने लिए बल्कि दूसरों के लिए भी मैटरनिटी बैनेफिट के वास्ते लड़ती है। एक ओर मैटरनिटी बैनेफिट बिना घूस लिए नहीं मिलता वहीं दूसरी ओर अक्सर प्रबंधन द्वारा इन्क्वायरी (जाँच) के नाम टालने की कोशिश की जाती-"किस बात की जाँच मनीजर साहब? तोरु जोरु के बच्चा जना,तो जी.एम. ने जाँच करवाई थी? स्कूलवा में तोर बेटा के नाम पर तोर नाम लिखाया तो क्या मास्टर ने जाँच करवाई थी तोर जोरु की? ये मुंशी बाबू लोग का फार्म भरता है तो कोई जाँच करता है? ई दू कानून कैसन? माय ना जानेगी बाप के है? ... भर मोर फार्म! अभी कर आपन सैन (साइन) ई पर! काहै इ रकम ताक रहल है रे मोर तरफ? भर साले, नहीं तो आज टाँगी फैसला कर देतै। जाँचो कर लेगी मोर टाँगी।"[48]

प्रबंधन अपने एवं श्रमिकों के लिए अलग-अलग नियमों का पालन करता है। अधिकतर प्रबंधन श्रमिक मजदूरों को अधिकार देने वक्त आना-कानी करते हैं। अतः अपना हक हासिल करने के लिए सीता प्रबंधन तक से प्रतिवाद करती नज़र आती है।

औद्योगिक इकाइयों में श्रमिकों का विशेषकर स्त्री का शोषण कोई नया नहीं। आदिवासी स्त्री का शिक्षित न होना शोषण को और बढ़ावा ही देता है। सिर्फ प्रबंधन ही नहीं प्रबंधन के खिलाफ लड़नेवाले यूनियन के नेता भी स्त्री के शोषण करने से बाज नहीं आते। 'मौसी' उपन्यास में अधेड़ उम्र के नेता अपनी एकाकी जीवन को दूर करने हेतु रिटायरमेंट के बाद नौकरी देने के शर्त पर आदिवासी युवती के साथ साझा जीवन जीने का फैसला करते हैं। किंतु पुरुषवादी मानसिकता से लैस पूरा जातितंत्र आदिवासी युवती को नौकरी देने के खिलाफ उठ खड़ा होता है-"पर मोसी

[48] सीता-पृ.62

की नौकरी के खिलाफ पूरा का पूरा जातितंत्र खड़ा हो गया था। पुरुष समाज का तंत्र भी उसकी नौकरी के पक्ष में न था। दो-दो तंत्रों से जूझ रही थी मौसी्! ... ऊ कोलियरी के जितने राजपूत भाई थे, रेणुकाजी की अपनी यूनियन समेत, सबके सब मौसी की नौकरी के विरोधी थे। कोई दामाद को, तो कोई भतीजे को नौकरी देने के पक्षधर थे। मौसी की नौकरी का कागज वे लोग, केदला परियोजना के कार्यालय से बढ़ने ही नहीं देते थे।"[49]

इस प्रकार पुरुष सत्तात्मक समाज आज भी दलित आदिवासी स्त्री के अधिकारों के प्रति उदासीन है।

नये औद्योगिक परिवेश में रहने को मजबूर आदिवासी समाज अपने परंपरागत जीवन-मूल्य खोकर मुख्यधारा के समाज के दुर्गुणों को अपना रहे हैं। बदल रहे परिवेश एवं मूल्य ने आदिवासी स्त्री के प्रति नज़रिया में भी बदलाव लाया है-"औरतों के बारे में भी अब वैसा ही कुछ हो रहा है। नहीं तो आदिवासी औरत को कोई 'दिकू' (गैर-आदिवासियों) को आदिवासी 'दिकू' कहकर पुकारते हैं। छू तो दे भला? अब तो 'हिंदुओं' की आदतें ही सीख रहे हैं आदिवासी भी। उनके भी मूल्य बदल रहे हैं। ढेर कारखाने अब 'बजबजा' रहे हैं इर्द-गिर्द। जंगल के भीतर घुसे आ रहे हैं क्रशर और ईंट-भट्ठे। आदिवासी का मन और मूल्य, दोनों ईंट-भट्ठे सा धुआँ रहा है।"[50] औद्योगिक परिवेश में बाहरी लोगों (दिकू) के संपर्क से न केवल स्त्री के प्रति आदिवासी समाज का नकारात्मक रवैया सामने आ रहा है वरन् ढेर सारे अवगुणों को भी अपने भीतर समाहित किये जा रहे हैं। आदिवासी लोग निजी लाभ हेतु अपने समाज को भी दाँव पर लगाने से अब नहीं हिचकते। आदिवासी समाज के भीतर ही दलाल वर्ग पैदा हो जाने से अपनी ज़मात की युवतियों का भी खरीद-बिक्री करने लग गये हैं-"'औरतें' इस समाज में हमेशा ही ज्यादा खटती रही हैं। अब थोक माल में सस्ते मजदूर के रूप में सप्लाई करना या व्यक्तियों के हाथ बेचना या अन्य गति पेशों में लगना भी शुरू हो गया है। बाहरी दलालों की तरह इनके समाज

---

[49] मौसी-पृ.141
[50] मौसी-पृ.147

में भी एक दलाल जमात पनप गई है। यह दलाल जमात बाहर के शहरी सपने समाज को दिखाकर, पुराने मूल्यों को नष्ट कर रही है। ... बढ़ता औद्योगिकीकरण, शहरीकरण उनकी ग्रामीण सामूहिकता को नष्ट कर रहा है। हालाँकि खदानों, कारखानों में दंगल के रूप में एक साथ रहकर खटना-एक झोंपड़पट्टी के धौड़ों एक ही स्थान पर रहना (दूसरी संस्कृति वाले लोगों के साथ उनके दबाव में या बराबर के दर्जे पर भी) सामूहिक तो है-पर यह अलग किस्म की सामूहिक जिंदगी है। दरअसल यह सामूहिकता अर्थवाद से अधिक जुड़ी है। ग्रामीण या जंगल का सामूहिक जीवन जिंदगी से जुड़ा होता है। उनके लिए अर्थ यानी पैसा उतना महत्व नहीं रखता जितने रिश्ते या संबंध रखते हैं।"[51] लगातार बदल रहे परिवेश में आदिवासी का सामूहिक जीवन-शैली खत्म होकर व्यक्ति केंद्रित होता जा रहा है। जब किसी भी समाज का सामूहिक मूल्य, आचरण एवं क्रिया-कलाप ध्वंस होता है तो वह टूटते-बिखरते हुए बुरे रूप में हमारे सामने नज़र आता है। समूह की जिंदगी से विलग होकर आदिवासी समाज में जो सबसे बड़ा हादसा सामने आया है वह है संबंधों की निजता में कमी की। औद्योगिक परिवेश में अर्थ केंद्रित दृष्टि होने के कारण रिश्ते या संबंध पहले जैसे नहीं रह गये। अतः स्त्री के प्रति दृष्टिकोण भी उपयोगितावादी नज़र आने लगा है।

निष्कर्ष

आदिवासी की परंपरागत अर्थ व्यवस्था मूलतः जंगलों पर निर्भर है। जंगल क्षेत्र के प्रथम निवासी होने के नाते वे वन उत्पादों पर अपना पहला हक समझते हैं। जंगल, आदिवासियों के रहने के स्थान के अलावा जीविका का साधन भी है। इसलिए उनकी संस्कृति भी वनों (जंगल) से काफी प्रभावित है। वनों से आदिवासियों का महज आर्थिक संबंध नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक संबंध भी है। आर्थिक हितों की पूर्ति हेतु औपनिवेशिक शासक अंग्रेज़ तथा देसी शासकों ने लगातार आदिवासी समाज के प्रति अपेक्षापूर्ण नीति को अपनाते हुए स्वार्थ के आधारपर वन नीतियों का निर्माण

[51] मौसी-पृ.151

पंचम अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री: धार्मिक संदर्भ

5.1 धर्म की अवधारणा

5.2 जीववाद

5.3 बोंगावाद

5.4 प्रकृतिवाद

5.5 टोटमवाद (गणचिह्नवाद)

5.6 बहुदेववाद

5.7 जादूवाद

5.8 पूर्वज पूजा

5.9 वर्जना (टैबू)

5.10 शमनवाद

5.11 शिरोच्छेदन

5.12 धर्मांतरण

पंचम अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री: धार्मिक संदर्भ

कोई भी मानव समाज ऐसा नहीं मिल सकता है जिसमें धर्म का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में न रहा हो। आधुनिक वैज्ञानिक मानव समाज, तर्क की तराजू पर धार्मिक मान्यताओं को तौल कर स्व-विवेक के माध्यम से इसे नकारने का प्रयास करता रहा है। अपने चिंतन की पराकाष्ठा पर पहुँचकर यह सोचता है कि 'अतिमानवीय' और 'अलौकिक' शक्ति की सत्ता में विश्वास, जिसका वैज्ञानिक तकनीकों से सत्यापन संभव नहीं, अंधविश्वास है। इस समूह के चिंतकों ने धर्म को अंधविश्वास की संज्ञा दे रखी है। फलस्वरूप इस समाज के अधिकतर लोग धार्मिक क्रियाकलापों में रुचि नहीं रखते और इन विश्वासों की वैधता को मानते ही नहीं। लेकिन अभी भी अनेक मानव समाज में, विशेषकर सरल समाजों में लोगों का विश्वास है कि प्राकृतिक क्रियाओं और मानव प्रयत्नों की सफलता ऐसी सत्ताओं के नियंत्रण में है, जो दैनिक अनुभूति से परे है और जिनका हस्तक्षेप घटनाक्रम को बदल सकता है। ऐसी सत्ताओं के लिए 'देवी' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

5.1 धर्म की अवधारणा

आधुनिक मानवशास्त्री आमतौर पर यह स्वीकार करते हैं कि धर्म संस्कृति के उन तत्वों में से एक है जो सर्वत्र पाया जाता है तथा आदिवासी समाज में धर्म उतने ही सरल अथवा कहीं-कहीं जटिल रूप में पाया जाता है जितना कि सभ्य कही जानेवाली जातियों में पाया जाता है। पूर्व मानवशास्त्रियों के अनुसार धर्म के आदिम स्वरूपों की उत्पत्ति के अनेक कारण थे। जैसे "जे.एच.किंग ने जादू तथा ब्रोसेज एवं अगस्त कोम्त ने भूत-प्रेतों में विश्वास को इसकी उत्पत्ति का कारण माना है। इसी प्रकार मैक्लेनन गणचिह्नवाद (टोटमवाद), आर.आर.मैरेट पूर्व-आत्मवाद (प्रि-

एनिमिज्म), ई.बी. टाइलर आत्मवाद तथा इमाइल दुर्खीम समाज की पूजा (कल्ट ऑफ सोसाइटी) को धर्म के आदिम स्वरूपों की उत्पत्ति का कारण मानते हैं।"[1]

मानवशास्त्रियों ने धर्म के सामान्य रूप को एक 'सांस्कृतिक सर्वव्यापकता' की उसी प्रकार की संज्ञा दी है जिस प्रकार विवाह, परिवार, गोत्र गमन निषेध, सामाजिक संगठन, जो सर्वत्र पाये जाते हैं, को दी जाती है। टाइलर ने सर्वप्रथम यह बतलाया कि आदिवासियों में किसी न किसी रूप में धर्म अवश्य पाया जाता है। आदिवासी लोगों का सांसारिक विषयों का ज्ञान कितना ही दोषपूर्ण क्यों न हो, परंतु धर्म के विषय पर उनकी स्थिर एवं निश्चित धारणा आम तौर पर पाई जाती है तथा उनके सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर धर्म का महत्वपूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

होबल ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि-"धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित है जो आत्मवाद एवं 'माना' को अपने में सम्मिलित करता है।"[2]

मजूमदार एवं मदान ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है-"धर्म किसी भय की वस्तु अथवा शक्ति का मानवीय प्रत्युत्तर है जो कि अलौकिक एवं अतींद्रिय है। यह व्यवहार की अभिव्यक्ति तथा अनुकूलन का वह प्रकार है जो कि लोगों की (उनकी) अलौकिक शक्ति की अवधारणा से प्रभावित है।"[3]

सर जेम्स फ्रेजर ने धर्म का उल्लेख करते हुए कहा है कि "धर्म से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की संतुष्टि अथवा आराधना समझता हूँ, जिनके संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति एवं मानव जीवन का मार्गदर्शन करती है तथा नियंत्रित करती है।"[4]

---

[1] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.131

[2] होबल, ई.ए; मैन इन दि प्रिमिटिव वर्ल्ड (1949)-पृ.405

[3] मजूमदार एवं मदान, इन्ट्रोडक्शन टू सोश्यल एन्थ्रोपोलॉजी (1957)-पृ.151

[4] सर जेम्स फ्रेजर, दि गोल्ड बो (न्यूयार्क , 1950)-पृ.459

इस प्रकार सर जेम्स फेजर ने धर्म के प्रमुख तीन पहलुओं पर प्रकाश डाला है-

(i) धर्म का संबंध एक ऐसी शक्ति से है जो मानव से श्रेष्ठ है।

(ii) यह शक्ति मानव जीवन एवं प्रकृति को निर्देशित एवं नियंत्रित करती है।

(iii) तीसरी विशेषता उसने यह बतलायी कि चूँकि यह शक्ति जो कि मानव से श्रेष्ठ है तथा प्रकृति एवं मानव जीवन को निर्धारित एवं नियंत्रित करती है, अतः उनकी आराधना, पूजा की जाये अथवा किसी अन्य प्रकार से उसे प्रसन्न रखा जाय।

मैलिनोवस्की ने धर्म को समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दोनों पहलुओं से महत्वपूर्ण माना है। अपनी परिभाषा में उन्होंने कहा है कि-"धर्म क्रिया की एक प्रणाली है तथा साथ ही विश्वास की एक व्याख्या तथा एक समाजशास्त्रीय प्रघटना एवं एक व्यक्तिगत अनुभव है।"[5]

लुसी मेयर की मान्यता है कि "धर्म में विश्वास और कर्म दोनों का ही समावेश है।"[6] सभी नृ-विज्ञानी क्रियाओं की महत्ता पर एकमत है, पर विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न विश्वासों पर उन्होंने अलग-अलग तरीके से विचार किया है। उन्नीसवीं शती में समझा जाता था कि विश्वास अनुभव के निर्वचन और धर्म के आधार हैं। फिर एक दौर आया, जिसमें क्रियाओं को सबसे महत्वपूर्ण माना गया और विश्वासों को उनका औचित्य स्थापित करने के लिए प्रयोजन मात्र। आजकल यद्यपि हम उन्नीसवीं शती की धारणा के अनुसार धर्म को गलत विवेक का परिणाम नहीं मानते, पर फिर भी यह निश्चित है कि हर समाज की अपनी 'विश्व-दृष्टि' होती है। जिन समाजों में प्रयोगात्मक विज्ञान की परंपरा नहीं है, उनमें यह धार्मिक रूढ़ियों का रूप ले लेता है।

---

[5] बी.मैलिनोवस्की, मैजिक, साइन्स एण्ड रिलीजन एण्ड अदर ऐसेज (1948)-पृ.24

[6] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी-पृ.57

आर.एच.लोबी ने धर्म के संबंध में अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए लिखा- "अति मानवीय प्रकार की जीवात्मा की सत्ता में विश्वास का प्रचलन पूरे विश्व में पाया जाता है। बीमारी, मृत्यु, अव्याख्यायित और अप्रत्याशित घटनाओं के दैनिक सांसारिक अनुभव के कारण जनजातियों को भौतिक गोचर संसार के अलावा अगोचर जीवात्मा के संसार में विश्वास करना पड़ रहा है। वे अपने में और जीवात्मा के संसार में निकट संबंध स्थापित करते हैं। वे जीवात्मा के संसार या अतिमानवीय शक्ति के अपने को दो रूपों में अर्पित करते हैं। प्रथम रूप हैं- जीवात्मा को मुग्ध कर उस पर अपना नियंत्रण या अधिकार स्थापित करना अथवा किसी अच्छे या बुरे उद्देश्य से उसे अपनी इच्छित दिशा में मोड़ना। दूसरा रूप है- इच्छित वस्तु को या किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति के लिए अतिमानवीय शक्ति की पूजा कर उसे प्रसन्न करना। पहली क्रिया को हम जादू और दूसरे को धर्म कहते हैं। जनजातीय धर्म में जादू, धर्म का एक अभिन्न अंग है और जादू का प्रयोग क्रिया को मनाने का एक तरीका समझा जा सकता है।"[7]

इसी प्रकार एडवर्ड टायलर अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' में धर्म को आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास के रूप में माना है। धर्म की परिभाषा उसने इस प्रकार दी-"धर्म परलौकिक प्राणियों में विश्वास का नाम है। जो लोग ऐसे जीवों के लिए क्रियाएँ कराते हैं, उन्हें उनके अस्तित्व में विश्वास होना चाहिए।"[8] टायलर के विचारानुसार विश्वास अधिक महत्वपूर्ण है। अपने इस विचार को सिद्धांत का रूप देते हुए उसने 'जड़ात्मवाद' (Animism) शब्द का व्यवहार किया, जिसमें सभी प्रकार की दैवी शक्तियों में विश्वास का समावेश था।

---

[7] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी-पृ.58

[8] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी-पृ.58

आर.आर.मैरेट ने "धर्म का मूल स्रोत अनुभव जगत के प्रति बौद्धिक नहीं वरन् भावात्मक उद्गार माना है।"[9]

रामदयाल मुण्डा व रतनसिंह मानकी ने अपनी पुस्तक 'आदि धरम' में आदिवासियों के धार्मिक पहलुओं को विशिष्टता के साथ उजागर किया है। विश्व में स्थापित धर्म व्यवस्थाओं से इनका बिल्कुल अलग है। प्रकृति से जुड़े विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से आदिवासी अपनी धार्मिक आस्था व्यक्त करते हैं जो कि जीवन से सहज रूप में जुड़ा हुआ है। इनके देवता (सिड़बोंगा, धर्मेस इत्यादि) मनुष्य के सामाजिक संबंधों में जुड़े होते हैं। अतः भगवान के प्रतीक रूप में कृत्रिम चीज़ों मंदिर, गिरजाघर इत्यादि अनावश्यक हैं। 'आदि धरम व्यवस्था' में ईश्वर से साक्षात्कार की प्रक्रिया में न किसी मध्यस्थता (पंडित, मौलवी, पादरी इत्यादि) की जरूरत है न समाज विरोधी दृष्टिकोण स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य व अवतारवाद की। समाज विरोधी काम को यहाँ नरक की संज्ञा दी जाती है। आदिवासी धार्मिक आस्थाओं को सारना,जाहिरा, सारि, संसारी, बाथउ, दोनिपोलो इत्यादि नामों से जाना जाता है। इस धर्म की विशिष्टता का रेखांकन आदि धर्म नामक पुस्तक में दिखाई देता है-

"आदि धरम सृष्टि के साथ ही स्वतः स्फूर्त है, किसी अवतार, मसीहा या पैगम्बर द्वारा चलाया हुआ नहीं। समुदाय की पूर्व आत्माओं के सामूहिक नेतृत्व द्वारा समाज का दिशा निर्देश।

आदि धरम व्यवस्था में परमेश्वर के साथ सीधे जुड़ने की स्वतंत्रता होना। किसी मध्यस्थ पुरोहित, पादरी की अनिवार्यता नहीं।"[10]

वस्तुतः विभिन्न मतों को मानने वाले नृ-विज्ञानी इस बात पर एकमत है कि धर्म अलौकिक शक्तियों में विश्वास की अवधारणा है। इस दृष्टि से भारत के

---

[9] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी-पृ.59

[10] रामदयाल मुण्डा, रतनसिंह मानकी, आदि धरम, अंतिम फ्लैप पर

आदिवासियों के विश्वास एक समान नहीं हैं। विश्वास के विविध रूप होते हैं। विभिन्न क्षेत्रों की आदिवासियों के बीच निम्नलिखित विश्वासों की चर्चा अपेक्षित है-

(i) जीववाद

(ii) प्रकृतिवाद

(iii) मानावाद

(iv) गणचिह्नवाद

(v) बहुदेववाद

(vi) जादूवाद

(vii) पूर्वजपूजा

(viii) बोंगावाद

(ix) वर्जना

5.2 जीववाद (Animism)

जीव की आत्मा में विश्वास आदिवासियों की एक सार्वजनिक विशेषता है। भारतीय आदिवासी धर्म के प्रमुख आधारों में एक जीववाद है। इसे जिले से लेकर मजूमदार तक सभी विद्वानों ने स्वीकारा है। अदृश्य, अव्यक्त, अभौतिक तथा आत्मिक, इस प्रकार की शक्तियों में अधिकांश भारतीय आदिवासी समूह विश्वास रखते हैं।

टायलर ने सर्वप्रथम जनजातियों में आत्म संबंधी धारणा का उल्लेख करते हुए धर्म को 'जीववाद' की संज्ञा दी है अथवा उसने आत्मवाद के सिद्धांत के अनुसार धर्म की उत्पत्ति आत्मा से बताई। निद्रावस्था में आत्मा शरीर से निकलकर अन्यत्र विचरण करती है तथा पुनः शरीर में लौट आती है। टायलर का मत है कि "जनजातियों ने दो आत्माओं की कल्पना की-एक तो स्वच्छंद आत्मा (Free soul) जो कि अनेक स्थानों पर भ्रमण करती है तथा दूसरी शरीरस्थ आत्मा (Body soul) अर्थात जब तक मनुष्य जीवित रहता है, तब तक यह उसके शरीर में वास

करती है। उसके मनुष्य के शरीर से निकलते ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।"[11] इस प्रकार टायलर ने मानवीय आत्मा और पारलौकिक आत्माओं का उल्लेख किया है। आत्माएँ मनुष्य के नियंत्रण के परे हैं, किंतु ये उसे प्रभावित करती है। उन्हें अप्रसन्न रखने पर वे नुकसान पहुँचा सकती हैं। इसी विचार को लेकर आदिम मनुष्य ने पितरों की आराधना आरंभ की।

मजूमदार ने भारत में जनजातीय धर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है कि जनजातीय धर्मों को लंबे समय तक 'जीववाद' कहकर वर्णित किया गया है। 'जीववाद' एक अत्यधिक विकृत प्रकार का धर्म है जिसमें जादू एक विशिष्ट तत्व के रूप में होता है। यह मनुष्य के जीवन को भूतात्माओं की शक्ति तथा तत्वों, जो कि अत्यधिक अवैयक्तिक स्वरूप वाले हैं, की निराकार छायाओं से घिरा हुआ बताता है। इनमें से कुछ का जीवन के कुछ विशिष्ट पक्षों पर आधिपत्य होता है जैसे एक आत्मा का हैजे पर तथा दूसरी का चेचक पर प्रभुत्व है। कुछ आत्माएँ चट्टानों में निवास करती हैं, कुछ पर्वतों पर तथा वृक्षों में रहती है अथवा नदियों, जल-प्रपातों आदि से भी उनका संबंध माना जाता है। इनके प्रभाव से संबद्ध विपत्तियों से बचाव के लिए इनकी बड़ी परिश्रमपूर्वक आराधना की जाती है।

मिरजापुर की कोरबा जनजाति का उल्लेख करते हुए मजूमदार ने कहा है कि "एक आत्मा फसल के ऊपर, एक वर्षा के ऊपर तथा एक पशुओं के ऊपर तथा ऐसी अन्य अनेक आत्माएँ होती हैं जो जनजाति का अन्य समवर्ती जनजातियों, जाति के पुजारी तथा जाति के नायक आदि के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करती हैं।"[12]

इस प्रकार जीववाद, हितकारी तथा अहितकारी दोनों प्रकार की आत्माओं में विश्वास करता है जिन्हें मनुष्य के भाग्य को प्रभावित करने वाला माना जाता है। हितकारी आत्माओं की ओर कोई ध्यान नहीं देता है क्योंकि उनसे कोई भयभीत नहीं होता है। उदाहरणार्थ, महान सूर्य देवता, मुण्डा आदिवासी के सिंगबोंगा की उपासना

[11] हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.132
[12] हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.132

बहुत कम ही की जाती है क्योंकि वह सौम्य है तथा किसी को हानि नहीं पहुँचाता है। यह आदिम धर्मों का प्रारूप प्रमाणक चिह्न है।

जीवात्मवाद की श्रेणी में आनेवाले विचार भी हमें आदिवासी भारत के अनेक समूहों में दिखायी पड़ते हैं। इस मत के अनुसार अदृश्य जगत् में एक अभौतिक, अव्यक्तिक एवं जीव-तत्व सदृश शक्ति होती है, जो सजीव एवं निर्जीव पदार्थों पर अपना प्रभाव डालती है, और यदि उचित स्थिति में उसका ठीक उपयोग करने का प्रयत्न किया जाये वह आश्चर्यजनक फल देने में समर्थ हो सकती है। छोटानागपुर के अनेक आदिवासी समूहों में 'बोंगा' नामक इस प्रकार की अदृश्य शक्ति में विश्वास पाया जाता है।

5.3 बोंगावाद

बोडिंग ने सन्थाल धर्म के विषय में लिखते हुए कहा है कि मजूमदार जनजातियों के मूल विश्वासों को अहितकारी जीवात्मा एवं शक्तियों के विश्वास के रूप मानते हैं जो मनुष्य की नियति को प्रभावित करता है। उनका कहना है कि भारत में जनजातीय धर्म 'बोंगा के सिद्धांत' पर आधारित है। 'बोंगा' एक विश्वास पद्धति है। मजूमदार के मतानुसार "छोटानागपुर जनजातियों में 'बोंगा' शब्द से स्पष्टतः एक है। अदृश्य शक्ति का बोध होता है।"[13] वे तो धर्म को ही 'बोंगाइज़्म' या 'बोंगावाद' कहने के पक्ष में हैं। बोंगा सर्वत्र विराजमान हैं।

'बोंगा' प्रत्येक प्रकार की ऐसी आत्माओं को कहते हैं जिनकी पूजा जनजातियों द्वारा की जाती है। मुण्डा जनजाति पर खिलते हुए शतरचंद्र राय ने "'बोंगा' शब्द से आत्मा और देवता दोनों का बोध माना है।"[14] किंतु 'बोंगा' शब्द का यह अर्थ सीमित दृष्टि का परिचायक है।

यह अनिश्चित एवं व्यक्तित्वहीन है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह कोई भी रूप या आकार ले सकता है। यह शक्ति चल और अचल, जीवित और

---

[13] श्यामचरण दुबे, मानव और संस्कृति-पृ.262

[14] हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.132

जड़, दोनों श्रेणियों के पदार्थों में पायी जाती है। यह शक्ति सभी पशुओं और पौधों को जीवन प्रदान करती है।

यह पौधे को बढ़ने में उत्साहित करती है। यह वर्षा करती है, आँधी, ओला, बाढ़ और ठंडक लाती है। यह बुराइयों का विनाश करती है, महामारी को रोकती है, रोगों को ठीक करती है। नदियों की धारा को प्रभावित करती है, सर्पों को विष एवं बाघ, भालुओं एवं लोमड़ियों को शक्ति देती है।

समय में अनन्त और सीमा में चारों ओर फैले बोंगा की शक्ति अमर्यादित होती है। बोंगा पर्वत में निवास कर सकता है, किंतु स्वयं पर्वत बोंगा नहीं होता। इसी तरह नदी अथवा सूर्य के प्रकाश में बोंगा का वास हो सकता है, परंतु अपने-आप में वे बोंगा नहीं होते।

'वन-लक्ष्मी' उपन्यास में बोंगावाद का जिक्र मिलता है। यह छोटानागपर के 'हो'आदिवासियों का प्रकृति-शक्ति के प्रति आस्था भाव को इंगित करता है-"आस पास के आदिवासी इस पेड़ की पूजा करते हैं। क्यों न पूजा करें जब अनायास मस्तक नत हो जाता है उस अलौकिक अचिंत्य शक्ति के सम्मुख जिसकी सृष्टि यह अद्‌भुत विशाल वृक्ष है। इसी शक्ति को कोई प्रकृति कहता है, कोई परमात्मा कहता है। आदिवासी इसे बोंगा कहते हैं, जिसका अर्थ देवता या भूत प्रसंगानुकूल दोनों होता है। नास्तिकगण इस शक्ति को चेतनाहीन बताते हैं जिसे अपनी कृतियों का श्रेय पाने का अधिकार नहीं। ईश्वर के ऊपर न विश्वास करने वाले कहेंगे, शाल वृक्ष का ऊँचा, सुडौल और मोटा होना तो स्वभाव-सुलभ है, इसमें शक्ति की प्रेरणा अथवा परमात्मा की महिमा का कहाँ समावेश है?"[15]

दरअसल सभ्य समाज शाल वृक्ष की अवस्थिति को भले ही वैज्ञानिक कसौटी पर उतारकर उसके अलौकिक शक्ति को खारिज करे परंतु आदिवासी समाज का परंपरागत वन संपदा से नेह शाल वृक्ष के प्रति प्रेरणा व आस्था भाव से सहज जोड़

[15] वन-लक्ष्मी-पृ.75

देता है। देवता आदिवासी के यहाँ कोई अदृश्य अनुभव नहीं बल्कि अपने आसपास का प्रकृति परिवेश है जिस पर उसका अस्तित्व निर्भर करता है।

बोंगा एक विश्वास-पद्धति है आदिवासियों में जिसके तहत वे दो प्रकार की शक्तियों में विश्वास करते हैं-देवता व भूतादि। बुरी शक्तियों के प्रभावस्वरूप मनुष्य का जीवन संकटग्रस्त हो जाता है। इस संकट से उबरने के लिए बोंगा की पूजा-अर्चना, बलिदान देना आवश्यक हो जाता है-

"बोंगा उनका भूत देवता होता है। बोंगा बराबर भूखा, असंतुष्ट और क्रोधी होता है, जो इन्हें दंडित करने की कोशिश करता है और पूरा चावल, मुर्गियों और हँड़ियां लेने के बाद ही तुष्ट होता है। इनकी मान्यता है कि मरने के बाद कोई भी पूर्वजों की श्रेणी में आकर बोंगा हो जाता है। प्रत्येक का बोंगा अलग-अलग भी हो सकता है। उसकी पूजा-अर्चना करना, बलिदान देना और भोजन कराना, संताली की नियति बन जाती है।"[16]

5.4 प्रकृतिवाद

मैक्समूलर ने प्रकृतिवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार आदिमानव में यह धारणा थी कि सब वस्तुओं में जीवन है। इसलिए उसने सर्वप्रथम प्रकृति की वस्तुओं की पूजा की, जैसे-सूर्य, बिजली, पेड़, पर्वत इत्यादि। सूर्य, चंद्रमा एवं पृथ्वी या तो रचयिता या सर्वशक्तिमान समझे जाते हैं। भारतीय आदिवासियों में प्रकृतिवाद अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं की आराधना अथवा पूजा के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। मध्य भारत में बिहार के संथाल, मुण्डा, हो, मालेर एवं बिरहोर सूर्य को सिंगबोंगा अर्थात् सबसे बड़ा ईश्वर समझते हैं। संथाल लोग सबसे बड़े देवता धर्मेश को सूर्य जैसा मानते हैं और धर्मी माता या पृथ्वी माता का पति समझते हैं। बस्तर क्षेत्र के मुरिया एवं अबुझमारिया का विश्वास है कि सभी के जीवन का मूल स्रोत धरती माता है जो अपने बच्चों को खिलाती और उनका पालन करती है। उसने प्रत्येक गोत्र को जमीन दी है एवं उसके दायरे को निश्चित

[16] बाजत अनहद ढोल-पृ.6

किया है। मेघालय के गारों का विचार है कि सूर्य, चाँद और तारे क्षेत्र पर शासन करने के लिए स्वर्ग में रखी हुई जीवात्माएँ हैं।

सृष्टि का मनुष्य किसी न किसी ईश्वर से अवश्य जुड़ा हुआ होता है। किंतु आदिवासियों के देवता प्रकृति में ही निवास करते हैं-"इस पृथ्वी पर हर मनुष्य की यह नियति है कि उसका कोई न कोई ईश्वर है। मगर इस जन-जाति का न कोई धर्म-ग्रंथ है, न ही ये मंदिर बनाकर मूर्ति पूजा करते हैं। पहाड़, नदी, तालाब, गुफा ही इनका ईश्वर, देवता और श्रद्धा है। संतालों के भीतर यह आशंका बराबर रहती है कि ये सर्वत्र विराजमान हैं।"[17] दरअसल सहज रूप में संतालों के ही नहीं बल्कि सभी आदिवासियों के देवताओं का निवास प्रकृति में सर्वत्र विराजमान होने के कारण उनके धर्म में कट्टरता नहीं है न ही उन्हें धर्म के प्रतीक बनाने की आवश्यकता महसूस होती है। इसी उपन्यास में आदिवासी के देवताओ ंका प्रकृति के सहज मुक्त प्रांगण में होने का जिक्र हुआ है-"हमारा तो कोई मंदिर-चर्च नहीं होता। हम तो खुले आकाश के नीचे ही पहाड़, नदी, पेड़, कन्दरा को अपना प्रभु मानते हैं।"[18]

प्रकृति से गहरी आत्मीयता के कारण आदिवासी न केवल इसमें देवता का वास देखते हैं बल्कि इसकी पूजा भी करते हैं-

"आसपास के आदिवासी इस पेड़ की पूजा करते हैं। क्यों न पूजा करें जब अनायास मस्तक नत हो जाता है उस अलौकिक अचिन्त्य शक्ति के सम्मुख जिसकी सृष्टि यह अद्भुत विशाल वृक्ष है। इसी शक्ति को कोई प्रकृति कहता है, कोई परमात्मा कहता है।"[19]

प्रकृति शक्ति में अलौकिक तत्वों का आभास परंपरा से मनुष्य करता आ रहा है। इसी शक्ति के कारण प्रकृति में देवता का वास भी छोटानागपुर के 'हो' आदिवासी शाल वृक्ष की उदात्तता के कारण मानते हैं।

---

[17] बाजत अनहद ढोल-पृ.6
[18] वन-लक्ष्मी-पृ.28
[19] वन-लक्ष्मी-पृ.75

5.5 टोटमवाद (गणचिह्नवाद)

भारतीय आदिवासियों में गणचिह्नों का प्रचलन पाया जाता है। इनसे उत्पन्न विश्वास का धर्म की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है तथा धार्मिक जीवन में इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने में आता है। गणचिह्नों की पूजा से धर्म की उत्पत्ति मानने वालों में फ्रेजर, दुर्दीम, फ्रायड तथा राबर्टसन स्मिथ आते हैं। इसे ही टोटमवाद या टोटेमवाद भी कहा जाता है। किसी भौतिक वस्तु, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे या प्रकृति की अन्य कोई चीज़ जिसके साथ एक गोत्र के सदस्य अपना एक अलौकिक या गूढ़ संबंध मानते हैं और जिसके प्रति विशेष श्रद्धा, भक्ति और आदर का भाव रखते हैं, टोटेम कहलाता है। इस टोटेम से संबंधित समस्त धारणाओं, विश्वासों और संगठन को टोटेमवाद कहते हैं। मैरेट ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है कि- "किसी गोत्र के संबंध में टोटेमवाद उस पद्धति को कहते हैं जिसके अनुसार किसी जनजाति को कोई उपभाग किसी विशेष जानवर या वनस्पति से अपना विशिष्ट संबंध समझता है, उसके नाम का प्रयोग करता है और यह दावा करता है कि उसके साथ उसका एक रहस्यमय संबंध है।"[20]

भारतीय आदिवासियों के लिए टोटमवाद एक सामान्य विशेषता है। उसमें से अधिकतर पशुओं के अतिरिक्त पौधों के साथ अपने रहस्यात्मक संबंध में विश्वास करते हैं। 'हो' के लिए खिल्ली उनका गोत्र है एवं प्रत्येक गोत्र के टोटम से संबंधित एक वस्तु है जो उनके लिए पवित्र है। मुण्डाओं एवं उराँवों में भी टोटमवादी गोत्र हैं। संथाल एवं खड़ियाओं में भी गोत्र हैं जो या तो पौधों या पशुओं या भौतिक वस्तुओं के नाम से जाने जाते हैं। टोटम-संबंधी पौधे या पशु की धार्मिक दृष्टिकोण से श्रद्धा की दृष्टि से देखने वाली आदिवासियों में से मध्यप्रदेश के भील एवं गोंड, राजस्थान के मीणा एवं भील और महाराष्ट्र के करकारी का उल्लेख किया जा सकता है। केरल की कुछ आदिवासियाँ टोटमवाद की अनेक प्रथाओं और विश्वासों को आधार मानती है। आदिवासियों में ऐसा विश्वास है कि टोटम या गणचिह्नवाद संबंधी पौधों या

[20] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.62

पशुओं ने उनके गोत्र के पूर्वजों की रक्षा की है या सहायता की है या उनका कुछ उपयोग हुआ है। अतः वे लोग अपनी गणचिह्नवाद वस्तु को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और उसे नष्ट नहीं करते। पितृ पूजा में भी आदिवासियों का अटूट विश्वास देखने में आता है, जो कि धर्म की उत्पत्ति के एक आधार के रूप में माना जा सकता है। मध्यप्रदेश की अनेक आदिवासियों में पितृ-पूजा के विशिष्ट उदाहरण देखने को मिलते हैं। अनेक आदिवासियाँ मृत व्यक्ति को घर के आँगन में ही प्रतिष्ठित करती हैं, उनका पूजन करके उन्हें प्रसन्न रखने का भरसक प्रयास किया जाता है।

आदिवासियों के धार्मिक पहलू में टोटम और निषेधों का महत्व होने पर भी साहित्यकारों ने इन विषयों पर ध्यान नहीं और न ही उन्होंने अपने साहित्य में इस प्रकार की धार्मिक मान्यताओं का चित्रण करने के लिए प्रयास किये हैं।दरअसल जब तक कोई भी रचनाकार किसी संस्कृति विशेष के पहलू को याद ठीक से नहीं जान पाता है तो अक्सर रचना में उसकी कमी महसूस की जाती है। आदिवासी साहित्य में टोटमवाद संबंधी धार्मिक मान्यताओं की कमी को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। किंतु कतिपय लेखकों में अपनी रचनाओं में टोटमवाद संबंधी मान्यताओं का बखूबी चित्रण किया है-"एतवारी जब मिडिल स्कूल पहुँची तो बड़े भाई (दादा) ने उसका नाम सरस्वती लिखवाया। टाइटिल में खड़िया की जगह बागे गोत्र का नाम। दादा ने भी तो नाम बदला था, तेलंगा खड़िया से रवींद्र बागे। बागे यानी हिरण, उनका गोत्र था। पुरनापानी में सारे खड़िया लोग इसी गोत्र के थे। हिरण से ही उनके वंश की शुरुआत हुई। वह उनके लिए पवित्र और पूजनीय था। आदिवासियों ने सारे पशु-पक्षियों, सारी वनस्पतियों को अपना पूर्वज मान रखा था। यह एक बहुत ही खूबसूरत एहसास था। प्रकृति के साथ जुड़ाव का खूबसूरत फलसफा।"[21]

आदिवासियों के सामाजिक व्यवस्था अथवा सांस्कृतिक पक्ष पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक आदिवासी समूह अनेक गोत्रों में बँटे होते हैं, और प्रत्येक गोत्र का अपना एक टोटम होता है। ये सारे टोटम प्रकृति के अंग होते हैं

---

[21] चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ (रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ)-पृ.71

अर्थात् ये पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों से जुड़े होते हैं। जिस समूह का टोटम कोई पक्षी, पशु अथवा पेड़-पौधे हों तो वह उनको किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता, उसे नहीं मारता, नहीं खाता। आज पर्यावरण संकट को लेकर सभी चिंतित हैं तथा जंगल, पशु-पक्षियों, प्रकृति को बचाने के लिए न केवल चिंतित है बल्कि नित-प्रतिदिन नये कानूनों को लागू कर रहे हैं। दरअसल आदिम काल के मानव समूह ने सोच समझकर ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया जो प्रकृति में सभी प्रकार से संतुलन कायम कर सके। इस रूप में टोटम व्यवस्था का निर्माण हुआ और उन टोटमों को पशु-पक्षी, पेड़-पौधों से लिया गया। एक आदिवासी ऐसे जानवर को मारता है जो उसका टोटम नहीं, वह उसे खा सकता है उसी प्रकार दूसरा आदिवासी अपने टोटम को छोड़कर दूसरे जानवर का शिकार करता है। इसी प्रकार यह नियम पेड़-पौधों पर भी लागू होता है जिससे प्रकृति में किसी चीज़ का अभाव न होकर संतुलन बना रहता है।

आदिवासियों के गोत्र-चिह्नों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मानव किस हद तक अपने वातावरण के इर्द-गिर्द से प्रभावित होता है। गोत्र-चिह्नों का उद्भव यह संकेत करता है कि आदिवासी बड़े कृतज्ञ होते हैं और वे अपनी उपकारी, संरक्षक तथा कल्याणकारी के प्रति इतनी अधिक श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं कि वे उसे देवता के रूप में मानने लगते हैं। गोत्र-चिह्नों की स्वीकृति में कृतज्ञता एवं भय दोनों के एकीकरण को स्वीकारा गया है। रणेंद्र की कहानी 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ' में जहाँ हिरण को आदिवासी लड़की का गोत्र बताया गया वहीं 'वह बस धूल थी' कहानी में फूल को गोत्र माना गया है-"ऐसे भी राजकुमारी का गोत्र था कुजूर, एक जंगली फूल। जिसके मकरंद अक्षत होते थे और खुशबू अंतहीन। बस नेह से सहेजने की जरूरत थी। साँसों की हरारत और पोरों की छुअन से इस कुजूर फूल में माँदर बजने लगते।"[22]

---

[22] चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ (रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ)-पृ.14

भारत के आदिवासियों के लिए टोटमवाद एक सामान्य विशेषता है जिसके तहत वे पशुओं के अतिरिक्त पौधों के साथ भी अपने रहस्यात्मक संबंध में विश्वास करते हैं। इस तरह से टोटम के माध्यम से प्रकृति के प्रति आदिवासी समाज की अंतरंगता जाहिर होती है। सिर्फ प्रकृति ही नहीं बल्कि प्रकृति के बीच जीवन-यापन कर रहे मानवेतर प्राणियों के प्रति जुड़ाव होने का महत्वपूर्ण कारण टोटम भी है।

5.6 बहुदेववाद (अनेकेश्वरवाद)

भारत के आदिवासियों में प्रचलित विभिन्न विश्वासों एवं उनकी धार्मिक प्रथाओं के वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि ये लोग बहुदेववादी हैं। दैवी शक्तियों को ऐसे देवताओं में स्थान दिया गया है जो समुदाय के जीवन की घटनाओं पर प्रभाव डालती एवं उस पर नियंत्रण करती हैं। अधिकतर आदिवासियों में जीवात्माएँ अलौकिक शक्तियों का पुंज है और तदनुसार ही विभिन्न देवताओं को शक्ति प्रदान की गई है। अलग-अलग पर्व तथा उत्सव के अवसर पर अलग-अलग देवी-देवताओं की आराधना की जाती है। जैसे-फसल के लिए, वर्षा के लिए व बीमारी आदि के लिए अलग-अलग देवी-देवताओं का पूजन किया जाता है। सभी देवताओं का अपना-अपना विभाग, प्रभाव व क्षेत्र और नियंत्रण होता है। इन देवताओं को विभिन्न स्थानीय नाम, विभिन्न रूप एवं विभिन्न उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। जीववादी देवता, बोंगा, प्रकृति एवं पूर्वज की जीवात्माएँ उनके आधार हैं, जिसके साथ वे लोग पहले से ही संबंध रखे रहते हैं।

प्रत्येक आदिवासी अपने-अपने देवताओं की विशेष पूजा करते हैं। एक ही देवता विभिन्न नामों से जाना जाता है। किसी एक क्षेत्र में जो देवता महत्वपूर्ण है, दूसरे क्षेत्र में लोग उसको जानते भी नहीं। आदिवासियों में देवताओं की गणना आसान नहीं क्योंकि उनके विस्मयकारी प्रकार हैं। यथा-सावरा में देवताओं को बनाने की क्रिया कभी समाप्त नहीं होती। जब पुराने देवता अपना प्रभाव खो बैठते हैं और विस्मृत हो जाते हैं तो उनके स्थान पर नये देवता आ जाते हैं।

हिंदी आदिवासी साहित्य में भी आदिवासियों के धार्मिक आस्था के अनुकूल बहुदेववाद के रूप में अनेक देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में असुर के देवता के रूप में महादनिया महादेव, 'जंगल के गीत' में उराँव के टाँड देवता, 'काला पादरी' में बैगा के सींगी देवता, 'पठार पर कोहरा' में मुण्डा के सिंगबोंगा, 'जो इतिहास में नहीं है' में सन्थाल के माराडबुरु, जाहेर आयो, गोसाँय ऐरा, लिट्ठा गोसाँय, मोड़ेको-तुरुईको, माँझी हड़ाम आदि देवता, 'रक्तयात्रा' में नागा के भावेनो, उकेपेनोफै रहौफे, तेरहोमा, रुत्जेह (मौत की देवी) देवी एवं तेर्खुर्हो, मेत्सीमो देवता, 'सागर, लहरें और मनुष्य' में कोली आदिवासी के खण्डला देवता, 'शैलूष' में नट के मान गुरु और कुलदेवी नथिया, 'कब तक पुकारूँ' में करनट के हनुमान, घाट वाले भैरों देवता एवं कैलावरी मैया सहित अनेक देवी-देवताओं का चित्रण हुआ है। जीवन का हर क्षेत्र देवताओं के माध्यम से ही नियंत्रित हुआ करते हैं ऐसा मुण्डा आदिवासियों का विश्वास है-"जंगल के लोगों की आस्था भी यही कहती है कि सिंगबोंगा की इच्छा से ही हवा बहती है। माराङबुरु का मन हो तभी पत्ते डोलते हैं। देवता की इच्छा से ही मेह बरसते हैं या साँस चलती मनुष्य की। ... बड़े से बड़ा दुःख हो या बड़े से बड़ा सुख। सर्वशक्तिमान ईश्वर का प्रसाद मानकर हर दुःख-सुख के पार उतरते रहे हैं वनवासी। भले ही यथार्थ कुछ और हो।"[23]

शिक्षा से वंचित आदिम सोच ने ही आदिवासियों को अपनी नियति का जिम्मेदार देवता को बना दिया। आस्थावादी सोच के कारण कई बार यथास्थितिवाद एवं पलायन का रास्ता चुनने को मजबूर हो जाते हैं। शोषण के चक्र से मृत्यु प्राप्त करके भी प्रतिरोध का रुख अख्तियार करने में यह समाज इसी कारण असमर्थ नज़र आता है।

बहुदेववाद में आस्था होने के साथ ही आदिवासी प्रकृति में ही देवता का वास महसूस करते हैं और उसके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं-"हमारा तो कोई मंदिर-चर्च नहीं होता। हम तो खुले आकाश के नीचे ही पहाड़, नदी, पेड़, कंदरा को

---

[23] जो इतिहास में नहीं है-पृ.57

अपना प्रभु जानते हैं।"[24] प्रकृति के अनुकूल जीवन आधारित होने के कारण प्रकृति में ही ईश्वर की खोज इस समाज की अपनी विशिष्टता है जो कि धार्मिक रूढ़ियों से कुछ हद तक मुक्त है। प्रकृति में ईश्वर को पूजनेवाला आदिवासी समाज में किस तरह ईसाई पादरी अपने प्रभु यीशु के ईमेज को परिवर्तित कर देता है इस विडंबना का संकेत 'काला पादरी' उपन्यास के अंतर्गत हुआ है-

"इनके पास ईश्वर का कोई इमेज नहीं था डियर, जिसकी ओर ये आस भरी निगाह के साथ देख सकें, जब हम यहाँ आया तो राजा भी अपना देवी को प्लांट कर रहा था। यू नो हाऊ टू प्लांट ए थाट, इट इज़ वैरी इम्पार्टेंट, हमने भी प्रभु यीशु की इमेज प्लांट कर दी, इट वाज़ ए वार ऑफ इमेज़ेज, जिसमें जीत हमारी हुई।"[25]

प्रकृति की विराट सत्ता में ईश्वर का वास मानने के कारण स्पष्ट ईश्वर की धारणा की कमी का लाभ न केवल मुख्यधारा के समाज बल्कि विदेश से आये ईसाई पादरियों ने भी उठाया। मुख्यधारा के समाज आरंभ से ही अपने ईश्वर को आदिवासी समाज पर थोपने का साज़िश कर रहे थे। कालांतर में ईसाई पादरियों ने आर्थिक प्रलोभन देकर आदिवासियों के परंपरागत ईश्वर के प्रतीक की जगह प्रभु यीशु एवं मरियम का ईमेज़ प्रस्तुत करने में लग जाते हैं।

पूर्वोत्तर समाज में मातृसत्ता की प्रधानता है। मातृसत्ता की प्रधानता के कारण यहाँ ईश्वर के रूप में देवियों को प्रमुखता मिली है। 'रक्तयात्रा' उपन्यास में नागा समाज द्वारा अनेक देवी एवं देवताओं के प्रति आस्था व्यक्त की गई है-"देख कल तू उठते ही भावनो को सूअर की बलि चढ़ाना। वह खुश हो गई तो तेरे घर में किसी बात की कमी नहीं रहेगी। वह सबकी चीती करने वाली देवी है। मैं उससे कहूँगी कि मेरे बेटों को अच्छी तरह रखना। मेत्सीमो से कहकर उन्हें स्वर्ग जाने देगा। मोत्सीमो ही तो स्वर्ग के रास्ते का पहरेदार है। भोवेनो खुश रहेगी तो चेखो और जैरावै का जोड़ा तुझे शिकार में खूब चीते-हिरन देगा। ये दोनों मियाँ-बीबी जानवरों के देवता हैं, पर आदमी से नाखुश नहीं रहते। पर तेर्खुर्हो का कभी भरोसा

---

[24] बाजत अनहद ढोल-पृ.28

[25] काला पादरी-पृ.44-45

मत करना। वह चीतों का देवता जो ठहरा। जानता है जंगल में लोग उसी की शैतानी से खो जाते हैं। ... इसके बाद वह रहौफे का नाम रटते हुए कहने लगी, "तू तो सबका भला करनेवाली देवी है। हम सबका भाग है तू। तू कोई तेरेहोमा जैसी थोड़े है जो कभी भूचाल बनकर पहाड़ों को हिला देती है तो कभी चाँद-सूरज को निगलने लगती है। मेरे दोनों बड़े बेटे चाँद-सूरज जैसे थे। क्या कहूँ मैं। इस तेरहोमा ने उन्हें निगल ही लिया।"[26]

आदिवासी समाज में देवताओं की भी अपनी-अपनी विविध प्रकृति है। कुछ देवता जीवन को सुरक्षा प्रदान करते हैं तो कुछ जीवन के अस्तित्व को ही निगल जाते हैं। भावेनो, रहे फै, चेखो और जेरावे आदि नागा समाज के लिए भला करने वाले देवता हैं वहीं तेर्खुर्हो, तेरहोमा जैसे देवता की प्रकृति हिंसक है। इन देवताओं में हर का अपना अलग-अलग अधिकार क्षेत्र है कोई मौत का देवता है तो कोई जानवरों का तो कोई अन्य का। ईश्वर के प्रति अत्यधिक आस्था वाली आदिम सोच के कारण ही नागा स्त्री अपने बेटे के मौत का जिम्मेदार ईश्वर को मानती है।

इसके इतर विस्थापित आदिवासियों के बीच मिश्रित देवी-देवताओं के प्रति आस्था भाव देखने को मिलता है। इस दृष्टि से सुरेंद्र नायक की कहानी 'समायोजन' महत्वपूर्ण है जिसमें बस्तर, सरगुजा, छत्तीसगढ़, बंगाल के परंपरागत देवता के रूप में बुढ़ादेव, माता मावली आदि का वर्णन हुआ है वहीं प्रभु यीशु के प्रति भी निष्ठा आदिम समाज में घर करने लगी है। बदलते परिदृश्य में आदिवासी अपने प्रकृति में वास करनेवाले देवताओं के प्रति हीनता भाव दिखाने लगे हैं इसका भी जिक्र सूक्ष्म रूप में मिलता है। रणेंद्र की कहानी 'रात बाकी' में उराँवों की देवी चाला पच्चो का उल्लेख हुआ है।

5.7 जादूवाद

इसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति जादू से हुई मानी जाती है। दुबे ने जादू की परिभाषा देते हुए लिखा है-"जादू उस शक्ति विशेष का नाम है, जिससे

---

[26] रक्तयात्रा-पृ.140

अतिमानवीय जगत पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सके और उसकी क्रियाओं को अपनी इच्छानुसार भले या बुरे, शुभ-अशुभ उपयोग में लाया जा सके।"[27] इसमें जादू की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। प्रथम तो यह है कि जादू का संबंध अति मानवीय जगत से होता है। दूसरा यह कि जादू एक शक्ति है। जादूगर इस शक्ति को अपने अधिकार में अतिमानवीय जगत पर नियंत्रण पाने के उद्देश्य से रखता है, और तीसरी बात यह है कि इस शक्ति का प्रयोग जादूगर अपनी इच्छानुसार कर सकता है, इसलिए शक्ति का प्रयोग भले या बुरे, शुभ या अशुभ काम के लिए किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में जादूगर अपनी इस शक्ति की सहायता से दूसरे को हानि या लाभ पहुँचा सकता है।

फ्रेजर ने इससे भिन्न जादू की परिभाषा करते हुए लिखा है-"जादू इस आधार पर एक आभासी विज्ञान है कि कार्य-कारण संबंध के एक अटल नियम के अनुसार यह प्रकृति पर दबाव डालता है।"[28] इस प्रकार फ्रेजर के अनुसार जादू प्रकृति पर नियंत्रण पाने का एक साधन है। यह साधन कुछ नियमों पर इस अर्थ में आधारित है कि इसके अंतर्गत कार्य-कारण की एक नियमितता पायी जाती है। इस दृष्टि से जादू प्रकृति को नियंत्रण में करने के लिए कुछ प्रविधियों और पद्धतियों का एक समूह है। फ्रेजर के अनुसार जादू में विश्वास करनेवाला व्यक्ति अर्थात् जादूगर की दो विशेषताएँ होती हैं। पहली तो यह कि उसमें यह विश्वास होता है कि उसकी जादू की शक्ति प्राकृतिक शक्तियों के कार्य-कारण संबंधों के अटल नियमों को समझती है और इसलिए वह उन पर प्रभुत्व करने का दावा करता है। वह प्राकृतिक शक्तियों को स्वामी नहीं बल्कि दास समझता है जिसे वह इच्छानुसार अपने काम में लगा सकता है। इसलिए वह प्राकृतिक शक्ति को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता। जादूगर की दूसरी विशेषता उसकी कार्य विधि से संबंधित है। धर्म पर विश्वास करने वाले व्यक्ति की भाँति जादूगर प्राकृतिक शक्ति की विनती या आराधना, पूजा या प्रार्थना करके उसे प्रसन्न करके उस प्रसन्नता से लाभ उठाने का

[27] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.67
[28] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.67

प्रयत्न नहीं करता बल्कि वह उस शक्ति के भेद को जानकर उसे दबा कर अपने अधिकार में करके उस शक्ति को अपने उद्देश्यों की पूर्ति में प्रयोग करता है।

मैलिनोवस्की ने जादू के संबंध में लिखा है-"जादू विशुद्ध व्यावहारिक क्रियाओं का योग है जिन्हें कि उद्देश्यों की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है।"[29] उन्होंने यह भी लिखा है कि जब इच्छित परिणामों को अन्य किसी भौतिक प्रविधि या उपाय से प्राप्त नहीं किया जा सकता है, तब जादू के साधन से उन परिणामों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार मैलिनोवस्की ने जादू के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया। जादू की यह व्यावहारिकता या उपयोगिता आदिकालीन समाज में और अधिक थी क्योंकि आदिवासी लोगों के जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ और समस्याएँ उठ खड़ी होती थीं जिनका हल वे अपनी सीमित बुद्धि और कौशल के आधार पर नहीं कर पाते। उनकी इस कमी को धर्म और जादू पूरा करते हैं। उनके जीवन में अनेक खतरे होते हैं ऐसी अनेक दुर्घटनाएँ होती हैं जिनका अंदाजा पहले से नहीं लगाया जा सकता। ऐसी परिस्थितियों में जादू लोगों का बहुत बड़ा सहारा है। इसके अतिरिक्त जादू चमत्कारों में विश्वास दिलाकर अनेक कठिन परिस्थितियों का सामना करने का साहस लोगों को प्रदान करता है। जादू का चमत्कार इसके अधिकारी को शत्रु का विनाश करने या उसे हानि पहुँचाने में भी मदद करता है।

फ्रेजर के अनुसार जादू के दो भेद हैं-(1) अनुकरणात्मक जादू, (2) संक्रामक जादू। अनुकरणात्मक जादू इस नियम पर आधारित है कि जब एक प्रकार की क्रिया की जाती है तो परिणाम भी उसी प्रकार का होता है अर्थात् समान कारण से समान कार्य होते हैं। उदाहरणार्थ-आस्ट्रिया में यह विश्वास किया जाता है कि यदि प्रसवित माँ को किसी वृक्ष का प्रथम फल खाने को दिया जाए तो उस वृक्ष पर अगले वर्ष काफी फल आयेंगे। इसके विपरीत संक्रामक जादू का अर्थ है कि जो वस्तु एक बार किसी के सम्पर्क में आ जाती है, हमेशा संपर्क में रहती है। उदाहरणार्थ-

---

[29] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.67

यदि किसी व्यक्ति का बाल काट दिया जाए तो वह शरीर संपर्क से अलग जरूर हो जाता है, पंरतु संक्रामक जादू के सिद्धांत के अनुसार उसका संपर्क तत्व से समाप्त नहीं होता क्योंकि उसे कटे हुए बाल पर जादुई मंत्रों द्वारा नुकसान पहुँचाने जाने पर उस आदमी को कष्ट पहुँचेगा।

मैलिनेवस्की ने दो प्रकार के जादू की चर्चा की है-(1) सफेद जादू, (2) काला जादू। सफेद जादू सामाजिक कल्याण के लिए होता है जबकि काला जादू का उद्देश्य दूसरों को हानि पहुँचाना है। उन्होंने टोना और भूत-प्रेत की सिद्धि को काला जादू के अंतर्गत सम्मिलित किया है।

श्यामाचरण दुबे ने जादुई क्रिया के उद्देश्य के आधार पर जादू को तीन भागों में बाँटा है-

(1) संवर्धक जादू-इसमें वर्षा, नाव चालन, वाणिज्य-लाभ, आखेट, उर्वरता, मत्स्य-संकलन और विवाह के लिये जादू आते हैं।

(2) संरक्षक जादू-इसमें संपत्ति की रक्षा, ऋण की वापसी, दुर्भाग्य से बचाव, रोग का उपचार, यात्रा की सुरक्षा के लिए तथा विनाशक जादू के प्रभाव को रोकने के लिए किये जानेवाले जादू होते हैं।

(3) विनाशक जादू-तूफान नियंत्रण के लिए, संपत्ति विनाश के लिए, बीमारी बढ़ाने के लिए, किसी व्यक्ति को मारने के लिए किये गए जादू विनाशक जादू के अंतर्गत आते हैं।

भारतीय आदिवासी जीवन में जादू धर्म का एक अभिन्न अंग है। ऐसा कहा जाता है, जादू धर्म के बराबर महत्व रखता है। अशुभ प्राकृतिक घटना, अपर्याप्त तकनीकी साधन और अनिश्चितता एवं खतरे से पूर्ण वातावरण उन लोगों को जादुई प्रथाओं में विश्वास कराता है। यह किसी न किसी रूप में भारत के आदिवासियों की सामान्य विशेषता है। मजूमदार ने मुण्डाओं द्वारा अच्छी वर्षा के लिए पत्थर को लुढ़का कर या 'हो' द्वारा धुआँ उत्पन्न करने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। मुण्डा आदिवासी के लोग पहाड़ की चोटी पर जाकर सभी आकार के पत्थरों को नीचे की ओर फेंकते हैं जिससे पत्थर की गड़गड़ाहट बिजली की

गड़गड़ाहट से मिले। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से वर्षा होती है। 'हो' लकड़ियों के गट्ठर धुआँ उड़ाने के लिए जलाते हैं जो गाँव के ऊपर छा जाता है। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से वर्षा निश्चित रूप से होगी। खोंड लोग वर्षा के लिए मनुष्य के बलिदान में विश्वास करते हैं। कोरवा लोग बीमार पुरुष को लोहे की सीकड़ी से पीटते हैं और उसको अच्छा करने के लिए उसकी नाक में जलती हुई बत्ती डालते हैं। 'हो'एवं 'कुट्टिया' में गाँव का पुजारी एक विशेष अवसर के लिए जादूगर होता है। हिमालय की थारु औरतें जादू कला में प्रवीण होती हैं, साथ ही साथ जंतर देने में भी। जौनसार बावर के रवासा बोने के पूर्व फसल के बढ़ने के समय और कटनी के तुरंत बाद नंगे होकर नाचते हैं।

दुबे ने आदिवासियों में उपस्थित जादू में विश्वास का विश्लेषण किया है। वे लोग उसकी अदृश्य शक्ति में विश्वास करते हैं जो महामारी पर नियंत्रण, वर्षा करने एवं बीमार को ठीक करने में सहायता करती है। भारत में आदिवासी जीवन जादुई विश्वासों एवं कल्पनाओं से परिपूर्ण है। जादू एवं धर्म में अंतर दिखाने के पुराने तरीके का बहिष्कार जादुई-धार्मिक व्यवहारों के आधार पर जिसे आदिवासी लोग करते हैं, किया जा सकता है।

'पाँव तले की दूब' उपन्यास में जादू संबंधी बातों का जिक्र हुआ है। आदिवासी पात्र किस्कू जादू के भरोसे जीवन के सभी संकटों का समाधान पाने का अंधविश्वास पाले हुए है। कपड़े की थैली में वह हमेशा जादू करने की सामग्री (बाघ का नाखून, हड्डी आदि) लेकर चलता है। जंगल कटाई को रोकने के लिए सुदीप्त द्वारा ज्वायण्ट पेटीशन की सलाह देने पर किस्कू जवाब देता है-"कोई ज़रूरत नहीं साहब पिटीशन-आंदोलन का। आप फिकर मत करो। हम उसको मन्तर से ठीक करेगा। जान गुरु हमको अइसा-अइसा मंतर सिखाया गया है कि ... और कपड़े की उस थैली से, जिसे वह हर वक्त अपने साथ लिये रहता, एक-एक चीज़ निकलकर उसे दिखाने लगा, 'ई ठो का है?'

'क्या मालूम।'

'बाघ का नाखून। ... और ई ठो?'

'हड्डी।'

'मामूली हाड़ नहीं है। अभी बताता, पहले बूझिए ई ठो का है', उसने झोले से तीसरी चीज़ निकलनी चाही कि मैंने डाँट दिया, ... 'इन खयाली पुलावों से तुम्हारे अँधेरे दूर होने से रहे किस्कू। सोचो, अगर इस तंत्र-मंत्र में इतनी ताकत होती तो तुम्हारे गुरु अब तक जेल में क्यों सड़ रहे होते?"[30]

आदिवासी समाज के यथास्थिति में परिवर्तन न होने का कारण परंपरागत मूल्यों के प्रति लगाव रहा है। किस्कू जैसे लोगों का जादू जैसी क्रियाओं पर अत्यधिक निर्भरता ही उसके परिवार को संकटग्रस्त जीवन जीने को मजबूर कर देता है-"ई ठो कलिया का जनाना है। उन्होंने सामने खड़ी एक स्त्री की ओर इशारा किया, जिसकी आँखों के सूजे पपोटों के बीच के कोए मरी मछली की तरह सपाट थे, और ई ठो उसका लड़का गोपाल। कलिया के जेहल चले जाने से अब ई परिवार को साफ-ए समझिए।"[31]

जादू में स्त्री की प्रत्यक्ष रूप से भागीदारी न होने के बावजूद उसकी त्रासद् स्थिति का जिम्मेदार उसका पति है जो जादू पर अतिरिक्त भरोसा किया करता था। जीवन के संकट का समाधान किसी बाहरी चमत्कारी तत्वों से नहीं वरन् स्वयं द्वारा ही किया जा सकता है। इसे न समझ पाने के कारण किस्कू का परिवार दयनीय हालत में पहुँच जाता है।

5.8 पूर्वज पूजा

आदिवासियों के लिए पूर्वजों की क्रियाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनके धार्मिक विश्वासों में पूर्वज-पूजा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। वे लोग इस बात से सहमत हैं कि एक मनुष्य की शक्ति एवं पहुँच नियंत्रित एवं सीमित दायरे तक है। लेकिन पूर्वज-पूजा के द्वारा वह उस शक्ति एवं पहुँच को प्राप्त कर लेता है। वे लोग पूर्वजों के अस्तित्व, उनकी रुचि एवं सांसारिक क्रियाओं में उनके प्रवेश में विश्वास रखते

---

[30] पाँव तले की दूब-पृ.32-33

[31] पाँव तले की दूब-पृ.89

हैं। पूर्वज उनकी जिंदगी में क्रियाशील हैं।ऐसा विश्वास किया जाता है कि नया मृतक अपने पूर्व के मृत पूर्वजों में मिल जाता है। पूर्वजों की जीवात्माओं को पुकारा जाता है एवं उनकी पूजा वर्ष में, अवसर आने पर या जब कोई आर्थिक रूप से पूजा करने के लिए तैयार रहता है, उस समय की जाती है।

उत्तर पूर्व के आदिवासियों में, जैसे-नागाओं में 'मिथन' त्यौहार बहुत ही महत्वपूर्ण है जो पूर्ण रूप से पूर्वजों की जीवात्माओं को समर्पित किया जाता है। मृतक की संतुष्टि एवं अपनी उन्नति के लिए मृत पूर्वज के नाम से एक मिथन (पशु) की बलि दी जाती है। उत्तर प्रदेश के थारु अपने पूर्वजों को दीपावली के दिन रोटी अर्पित करते हैं। खासा में अन्य देवताओं की अपेक्षा अपने पूर्वजों की जीवात्माओं से अधिक लगाव पाया जाता है। 'मालेर' का सोचना है कि पूर्वज-जीवात्माएँ सूर्य देवता बेरों गोसइया की ओर लौटती हैं-जब वे उनके द्वारा चढ़ायी भेंट से संतुष्ट हो जाये। संथाल अपने कल्याण के लिए अपने पूर्वज की जीवात्मा पर आश्रित रहते हैं। किसी भी तरह की विपत्ति के लिए पूर्वज की जीवात्मा को उत्तरदायी ठहराया जाता है एवं उसको शांत करने के लिए पूजा की आवश्यकता होती है। मुण्डा अपने पूर्वज की जीवात्माओं को अदिंग (रसोईघर) में स्थान देते हैं। फिर साल में एक बार 'जांग-तोपा' अनुष्ठान मनाया जाता है, अर्थात् मृतकों की हड्डियों को जमा किया जाता है। इसी तरह का अनुष्ठान 'हो' एवं उराँव में भी प्रचलित है जो क्रम से 'जनटोपा' एवं 'हरबोरी' के नाम से जाना जाता है। खड़ियाओं में ऐसा विश्वास है प्रत्येक व्यक्ति की दो आत्माएँ होती हैं-'जिओम' एवं 'लोंगोएँ'। मृत्यु के उपरांत जिओम पूर्वजों में मिल जाती है जब कि लोंगाएँ अपने पहले वाले गृहों में रहने के लिए चली जाती हैं जो संतानों द्वारा बनाये जाते हैं। मध्यप्रदेश एवं पश्चिम भारत के भीलों में भी अपने पूर्वजों के प्रति दृढ़ भावना है। पूर्वजों की पूजा भीलों के त्यौहारों से निकट रूप से संबंधित है। इस रूप में साधारण रूप में आदिवासी जीवन में और विशेषकर उनके धार्मिक विश्वास में दिवंगत पूर्वजों की एक महत्वपूर्ण एवं निश्चित भूमिका होती है।

हिंदी आदिवासी साहित्य में पूर्वज पूजा का विधिवत रूप अनेक पर्व-त्यौहारों और धार्मिक अनुष्ठान के रूप में देखने को मिलता है। आदिवासी अपने पूर्वजों को अलौकिक शक्ति के प्रेरक स्रोत के रूप में पाते हैं।

5.9 वर्जना (टैबू)

वर्जना दूसरे प्रकार का धार्मिक विश्वास है जो किसी विश्वास की एक नकारात्मक प्रथा है। लोगों के लिए वर्जना अंधविश्वास बन गया है। कुछ लोग वर्जना को पवित्र-त्रास मानते हैं जिनके अनुसार वर्जित वस्तु में दानवी शक्ति छिपी रहती है। वर्जना में धार्मिक पक्ष पर विचार करते हैं और उसे धार्मिक पुरुषों तथा पूजा के स्थानों की रक्षा की वस्तु मानते हैं। वह अधर्म को फैलने से रोकती है। उनके मतानुसार बोंगा के विचार द्वारा वर्जना की पवित्रता प्रेरित होती है। आदिवासियों का विश्वास है कि वर्जना का उल्लंघन करने से उन लोगों पर कोई भयानक विपत्ति आ सकती है। खड़िया स्त्रियों के लिए हल और घर को छूना वर्जित है। कुछ खास धार्मिक त्यौहारों और अनुष्ठानों के अवसर पर खड़िया स्त्रियों की उपस्थिति उनके मासिक धर्म के समय उचित नहीं समझी जाती। इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्रियों को हेय दृष्टि से देखा जाता है वरन् खड़िया पुरुष ऐसे विश्वास करते हैं कि मासिक धर्म के समय स्त्रियों का खून दुष्ट जीवात्माओं को आकर्षित करता है। उराँव में भी स्त्रियाँ हल को नहीं स्पर्श करती है। इन वर्जनाओं का उल्लंघन किया जाता है तो उसके लिए एक पश्चाताप-अनुष्ठान संपन्न करना पड़ता है। मध्य प्रदेश का गोंड मासिक धर्मवाली स्त्री के समीप नहीं जाता क्योंकि ऐसा करने पर अच्छी फसल नष्ट हो जाती है।

वर्जना की दृष्टि से 'रक्तयात्रा' उपन्यास में वर्णित शिरोच्च्देक की प्रथा महत्वपूर्ण है। इस प्रथा के तहत कोई भी नागा स्त्री पुरुष का कटा हुआ सिर लेकर गाँव नहीं घुस सकती है जबकि पुरुष के लिए शौर्य का प्रतीक है-"गाँव के फाटक के

पास पहुँचने पर ही त्रोलेनु को ध्यान आया कि वह औरत होने के नाते विसाले का कटा हुआ सिर लेकर गाँव में नहीं घुस सकती। यह तो सिर्फ मर्दों का हक था।"[32]

अक्सर यह मिथ फैला है कि आदिवासी समाज में स्त्री को काफी स्वच्छंदता मिली हुई है। पूर्वोत्तर समाज में स्त्री की स्वतंत्रता को और भी बढ़ाकर प्रचारित किया जाता है। किंतु इन समाजों में भी पुरुषों ने स्त्रियों पर कई तरह की मान्यताओं एवं रूढ़ियों को अपने वर्चस्व की दृष्टि से कायम कर रखा है। इसी तरह की रूढ़ि या वर्जना है नागा स्त्री द्वारा नरमुण्ड को गाँव में ले जाने की मनाही।

इसी प्रकार 'जंगल जहाँ शुरू होता है' में थारु आदिवासियों के वर्जना का उल्लेख हुआ है। थारु आदिवासी न तो गाय का दूध पीते और न ही हिरण का माँस खाते हैं। बिसराम की छोटी बेटी दूध के लिए रोने लगती है तो बिसराम उसे समझाता है-"हम थारु लोग दूध पीते नहीं बिट्टी? लेरु की आत्मा कलपती है न! वह तो बाजी (बाहर से आए) लोगों का काम है।"[33] इस वर्जना के कारण पिता अपनी पुत्री को दूध पिलाने से डरता है। यह वर्जना थारु आदिवासी के अंधविश्वास का प्रतीक नहीं वरन् मानवेतर प्राणी के प्रति भी संवेदना के भाव को व्यक्त करता है। जबकि हरिन मारकर खाने पर हैजा फैलने के पीछे अंधविश्वास व रूढ़ि का डर इस समाज में गहरे रूप से कायम होने को अभिव्यक्त करता है।

5.10 शमनवाद

विश्व भर के आदिवासी व ग्रामीण समाजों में शमनवाद अथवा (ओझागिरी) व्यापक रूप से पाया जाता है। "शमनवाद के अंतर्गत वे धार्मिक अनुष्ठान आते हैं जिनमें यह माना जाता है कि व्यक्ति के बाह्य जगत की आत्माएँ उस व्यक्ति में प्रविष्ट हो जाती है, फलतः वह व्यक्ति उसी समय कार्य संपादन करता है जब उसमें प्रविष्ट आत्मा उसे उत्साहित करती है।"[34] इसके अंतर्गत अंधविश्वास और झाड़फूंक के वे दक़ियानूसी लटके शामिल हैं जो इस 'सिद्धांत' पर आधारित हैं कि

---

[32] रक्तयात्रा-पृ.109

[33] जंगल जहाँ शुरू होता है-पृ.25

[34] भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.63

कोई रूह या आत्मा किसी अन्य जीवित व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करके तथा उस पर हावी होकर उससे तरह-तरह के कृत्य और अभिचार करा सकती है। इस प्रकार की क्रिया को करनेवाले व्यक्तियों को 'शमन' (भारतीय संदर्भ में 'ओझा') कहा जाता है। 'शमन' या 'ओझा' लोगों के पास अति-मानुषी शक्तियाँ होती हैं जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं। अधिकांतशः उनका इस्तेमाल परोपकार के लिए किया जाता है।

जिन समाजों में 'शमनवाद' प्रचलित है उनमें ज्यादातर शमन या ओझा चिकित्सीय कार्य के निमित्त होता है। ये लोग ऐंद्रजालिक अभिचार और जादू-टोने की क्रियाएँ भी करते हैं। किसी दुर्भाग्य ग्रस्तता अथवा बीमारी के इलाज से अगर फायदा नहीं होता तो उनकी आत्मा को दुष्टात्मा द्वारा प्रभावित माना जाता है। तब इसे जानने के लिए लोग ओझा या शमन के पास जाते हैं क्योंकि ओझा ही साधारण क्षमताओं के बाहर संपर्क स्थापित करने में सक्षम होता है। वह पीड़ित व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार के पूजा-अनुष्ठान करते हैं। जब ये सभी बातें नाकामयाब सिद्ध हो जाती हैं तो शमन या ओझा प्रेतात्माओं, भूत आदि से परामर्श कर उपचार करता है। उपचारों में हवन, टोना-टोटका, पशुबलि आदि कोई भी अद्भुत कृत्य हो सकता है। आदिवासी समाज, विशेष तौर से पुरातन-संस्कारों की आदिवासी समुदाय अपने चारों ओर की अनिश्चितताओं से आशंकित और भयभीत रहते हैं। अंधविश्वास, महामारी, अप्रत्याशित प्राकृतिक विपत्तियाँ, भिन्न समुदायों में परस्पर युद्ध, भूत बाधा और एक दूसरे पर जादू-टोना करने-कराने का कार्य आदि बातें ओझागिरी के अस्तित्व को अब भी बनाये हुए है। बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल में ओझागिरी की मज़बूत संस्थाएँ हैं। मध्यप्रदेश के अधिकांश आदिवासी अपने ओझा को बैगा कहते हैं। यह बैगा कभी सरसों और कभी-कभी विशेष पेड़ की टहनी लेकर झाँड़-फूँक का काम करते हैं। गर्दिश के समय बैगा दुष्ट आत्माओं के प्रभाव को नष्ट कर सकता है ऐसी मान्यता प्रचलित है।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास में डाकू को मदद करने के नाम पर पुलिस थाने में बिसराम की बहू से अनाप-शनाप पूछती है और उसकी पिटाई भी

करती है। अधमरी पत्नी का इलाज बिसराम गाँव की रीति के मुताबिक ओझा द्वारा शमनवाद (ओझागिरी) से कराना उचित मानता है-

"गरी का गोला। कच्ची, पक्की धार। चूनर, मुर्गा और गाँजे का चढ़ावा। बहुत सिद्ध ओझा है कामद गिरि! नीम के चौरे के तले लोहबान सुलग रहा है। अड़हुल के फूल सजाकर रखे हुए हैं। ओझा मंतर पढ़ रहे हैं, पढ़ते-पढ़ते स्वर कभी तेज़ हो जाता है, कभी धीमा-छू काली कलत्ते वाली, बनदेवी, बनसप्ती देवी, नव देबी, माई के थान की माता, शीतला भवानी, रहसू भगत, सोमेश्वर देव अतना बेर से आई के... फूली लंवग से गोदकर दूसरी फूली लवंग उठाता है, उठाकर गिराता है। पचरा गाते समय स्वर बदल जाता है-नीमिया की डारी मैया डारे लीं, हिंडोलवा, कि झूलि झूलि ना... पचरा सुनते ही बिसराम बहू समेत कई गाँव की औरतें (अभुवाने) लगती हैं। नीम की चँवर से सबको झाड़ता है ओझा।"[35]

अशिक्षा के कारण सुदूर प्रांत में रह रहे थारु आदिवासी में अंधविश्वाास की जड़ें गहरी हैं। जब कोई चेतनसंपन्न मनुष्य इस प्रथा (शमनवाद) का विरोध करता है उसे ही फटकार सुनना पड़ता है-

"तुम विशबास नहीं करता? देखेगा तागत? कहते-कहते अभुवाती बिसराम बहू की आँखें उलटी होने लगती हैं और वह लद्द-सी गिर पड़ती है।"[36]

दरअसल एक तो पुलिस की पिटाई से अधमरी स्त्री का समुचित इलाज कराने की जगह ओझागिरी के करतूतों से स्त्री बेहोश हो कर अपना संतुलन खो देती है। शिक्षा से वंचित समाज स्त्री की यातना पर ध्यान न देकर ओझा का ही चमत्कार मान बैठता है।

5.11 शिरोच्छेदन (Head Hunting)

फ्रेजर ने अपनी पुस्तक 'गोल्डेन बॉउ' में नरमुण्ड शिकार करनेवाले आदिवासी समाज की चर्चा की है। यह अत्यन्त ही प्राचीनतम प्रथा है। ग्रीक

[35] जंगल जहाँ शुरू होता है-पृ.29
[36] जंगल जहाँ शुरू होता है-पृ.30-31

इतिहासकार हेरोडोटस ने पाँचवी सदी पूर्व में एशिया के लोगों में शिरोच्छेदन की परंपरा के प्रचलन का वर्णन किया है। वर्तमान समय में किसी भी ज्ञात समाज में इस प्रथा के पालन का उदाहरण नहीं मिलता है। "इस प्रथा के अंतर्गत व्यक्ति का सिर काटकर लाया जाता था उसे विभिन्न उद्देश्यों से 'स्मृति-चिह्न' के रूप में रखा जाता था। ... शिरोच्छेदन के शिकारियों का विश्वास था कि जिसका सिर काटकर वह लाते हैं उसकी रूह और उसकी सभी ताकतें उसे प्राप्त हो जाती हैं और वह पहले से ज्यादा ताक़तवर हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह प्रतिष्ठा का द्योतक भी माना जाता था। उससे आखेटक की उसके समाज में इज्ज़त बढ़ती थी। यह भी माना जाता था कि शिरोच्छेदन-आखेट से सौभाग्य, अधिक संतानें पैदा करने की शक्ति और अच्छी फसल की प्राप्ति होती है।"[37]

भारत में उत्तर पूर्व प्रदेश में निवास करने वाली नागा तथा अन्य आदिवासियों में भी ब्रितानी साम्राज्य काल तक शिरोच्छेदन एक परंपरा रही है। शिरोच्छेदन-आखेट करनेवाले दुनिया भर के सभी समूहों के लोग आमतौर से शत्रु-समुदाय के किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति को घात लगाकर मारते या उसका सिर काटते थे। शिकारियों में औरतों के सिर की लालसा अधिक रहती थी क्योंकि वे अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षा में पुरुषों द्वारा रखी जाती थीं। अतः औरत का शिरोच्छेदन करनेवाले को ज्यादा पराक्रमी माना जाता था। नागा लोगों में शिरोच्छेदन न केवल वीरता का प्रतीक है वरन् उनकी मान्यता है कि इससे गाँव में फसलों की वृद्धि के साथ-साथ अधिक संतानोत्पत्ति तथा समृद्ध शिकार प्राप्त होगा। नागा नवयुवकों में शिरोच्छेदन करने की कला और उसकी निपुणता विवाह के लिए एक अतिरिक्त योग्यता मानी जाती थी। नागाओं का विश्वास था कि अकाल, महामारी तथा अन्य प्राकृतिक विपदाओं का मानव बलि द्वारा शांत किया जा सकता है। नागा समाज में प्रचलित लोक-कथाओं और लोक-गीतों में संभवतः नर-बलि की चर्चा आती है। इसकी प्रमाणिकता का साक्ष्य अब उपलब्ध नहीं है। मेलेनेशिया के आदिवासियों में किसी बूढ़ी औरत का कटा हुआ सिर गंडा-तावीज मानकर बाँस के

---

[37] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत-पृ.76

सहारे ऊँचाई पर लटकाने की प्रथा एक आम बात थी। वे लोग उसे अच्छी पैदावार के लिए 'रक्षाकवच' जैसा मानते थे।" इस प्रकार आदिवासियों में शिरोच्छेदन केवल दुश्मनी नहीं वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना से सबंधित रहा है।

ब्रिटिश सरकार ने 1837 ई. में इसे हटाने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाया था जिससे यह प्रथा अंततः 1855 ई. में समाप्त हो गई। बाद में स्वतंत्र भारत की सरकार ने भी कुरीति को खत्म करने के लिए अनेक प्रकार के सामाजिक व राजनैतिक और प्रशासकीय कदम उठाये। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप शिरोच्छेदन-आखेट अब पूर्णतः गुजरे हुए ज़माने का किस्सा बनकर रह गया है।

'रक्तयात्रा' उपन्यास में शिरोच्छेदन की प्रथा पर विस्तार से जिक्र हुआ है। इस उपन्यास में नागाओं के आदिम जीवन के रूप में शिरच्छेदक की प्रथा की महत्ता का उल्लेख हुआ है। शिरोच्छेदन से न केवल सामाजिक समृद्धि होती थी बल्कि वह पौरुष का भी प्रतीक था। नागा युवतियों का शिरोच्छेदक के प्रति लगाव जगजाहिर था। कई बार तो अपनी प्रेमिका को पाने या खुश करने के लिए नागा पुरुष शिरोच्छेदक बन जाते थे। शिरोच्छेदक का गाँव में विशेष सम्मान का अधिकारी होने के साथ युवतियाँ भी विशेष स्नेह करती थी-"नरमुंड किसी भी नागा की नज़र में दिव्य शक्ति का प्रतीक होता था। उससे गाँव में खुशहाली आती है, बीमारियाँ दूर होती हैं, अच्छी फसल होती है, इससे गाँव का सम्मान बढ़ता है, यह हर किसी का विश्वास था। फलतः शिरोच्छेदक विशेष सम्मान का अधिकारी होता था। ... कोई भी नागा लड़की ऐसे जवान से शादी करने में अपनी हेठी समझती है जिसने दुश्मन का सिर न काटा हो। भला ऐसे आदमी से शादी करके कौन बाँझ रहना चाहेगी। जब उसने कोई सिर कटा ही नहीं तो तुम्हारी कोख कैसे भरेगी। मरने वाले की जगह तो आने वाला लेता है।"[38]

दरअसल शिरोच्छेदक से समृद्धि एवं कोख भरने जैसी मान्यता के प्रति आस्था एक तरह का अंधविश्वास ही है।

---

[38] रक्तयात्रा-पृ.110-111

नागा समाज का विशेषकर स्त्री का यह विचित्र विरोधाभास है कि एक ओर वह शिरोच्छेदक नागा पुरुष से ही नेह संबंध जोड़ना चाहती है दूसरी ओर शिरोच्छेदक पुरुष बनने के लिए स्त्रियाँ ही सबसे अधिक उपयुक्त समझी जाती हैं। कबीलाई समाज में एक का दूसरे के प्रति दुश्मनी सदैव बनी रहती थी। अतः दूसरे कबीले यानी दुश्मन की स्त्री पर आक्रमण पौरुषता की सबसे बड़ी निशानी मानी जाती थी।

"उसके समाज में स्त्री का सिर काटना विशेष गौरव की बात थी। स्त्री के कटे हुए सिर के बालों से शिरोच्छेदक अपने आपको सजाने में गौरव अनुभव करते थे। खेत पर जंगल जाती हुई स्त्री का सिर घात में बैठा हुआ कोई शत्रु काट लेता तो उसका गाँव उसे और भी बड़ा वीर मानता। सच तो यह था कि लड़ाई के वक्त स्त्री और बच्चे गाँव के भीतर सुरक्षित स्थान पर रहते थे। उन तक किसी दुश्मन का पहुँचना दुश्वार होता। फलतः घात लगाकर स्त्री का सिर काटनेवाले को भी ऐसे वीर का सम्मान दिया जाता जो शत्रुओं की पांतों को चीर कर उनके गाँव में घुसकर स्त्री-वध करने में समर्थ हुआ हो।"[39]

आदिम समाज में स्त्री स्वतंत्रता का बड़प्पन के साथ अक्सर जिक्र किया जाता है। लेकिन यह समाज भी अपने पौरुष का सबसे सशक्त माध्यम के रूप में स्त्री को ही चुनता है। अजीब विडंबना है जिस समाज की वंशवृद्धि में स्त्री की निर्णायक भूमिका होती है उसे ही मारकर पुरुष अपनी शक्ति प्रदर्शन कर अहं तुष्ट करना चाहता है। स्त्री के कटे सिर के बालों से अपने को सजाकर गौरव महसूस करना निहायत मध्य-युगीन पुरुषवादी मानसिकता का परिचायक है। इतना ही नहीं गाँवों में फैली महामारी या संकट को दूर करने के लिए अक्सर स्त्री को चुना जाता है। स्त्री के साथ उसके छोटे बच्चे को बड़ी निमर्मता से मारकर संकट से पार पाने की खुशी जोर-शोर से मनाई जाती। बच्चे किसी भी समाज के भविष्य होते हैं उनके प्रति अमानवीय बर्बरता घृणास्पद है। शौर्य की अभिव्यक्ति व आसन्न संकट से निजात पाने के लिए स्त्री पर हमला नागा समाज के अंतर्विरोध को ही उजागर करता है।

---

[39] रक्तयात्रा-पृ.102

इतना ही नहीं शिरोच्छेदक के रूप में नागा स्त्रियों को नरमुण्ड गाँव के भीतर लाने के लिए सख्त मनाही मूलतः पूर्वात्तर समाज में भी अप्रत्यक्ष रूप से पुरुष सत्ता को ही प्रतिबिंबित करते हैं।

इसके इतर 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में भी अच्छी फसल की कामना हेतु आदमी का बलिदान के प्रति अंधविश्वास का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में हुआ है। मुड़ीकटवा अक्सर फसल बोने के समय में आदमी की घात लगाए रहता।

5.12 धर्मांतरण

भारत के बारे में अक़्सर यह बड़बोलेपन के साथ कहा जाता है वह एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। 'अनेकता में एकता' इस देश की अपनी खास पहचान है। भारत में भले ही लोग, क्षेत्र, भाषा, धर्म, खान-पान, वेष-भूषा के धरातल पर अलग दिखाई देते हैं किंतु आंतरिक रूप में वे एक ही हैं। किंतु बचपन से सुनी हुई बातें तब अव्यावहारिक नज़र आने लगती है जब सामान्य मनुष्य को धर्म, जाति व संप्रदाय के नाम पर लगातार रौंदा व कुचला जाता है। धर्म अपने मूल स्वरूप में किसी भी मनुष्य को मुक्ति की स्वतंत्र दुनिया का रास्ता दिखलाती है। जब धर्म अपने मूल स्वरूप से विकृत होकर सत्ता एवं राजनीति का महज़ हथकंडा बन जाती है तब सामान्य आदमी के लिए ऊहापोह की स्थिति पैदा होती है। यह ऊहापोह जैसी स्थिति ही उन्हें अपने परंपरागत धारण किए हुए धर्म के मार्ग से विचलन पैदा करने को बाध्य करती है।

सवाल यह उठता है कोई भी आदमी धर्म-परिवर्तन को बाध्य क्यों होता है। जो धर्म आदमी के रोयें-रोयें में बसा होता है, जिसे वह सुबह से लेकर रात तक न जाने कितनी बार वर्षों से लगातार सहज रूप से जीता चला आ रहा होता है। जो धर्म तमाम प्रतिकूल स्थितियों में मनुष्य का एकमात्र संबल रहा है, राग-द्वेष को संयमित करने का एकमात्र औजार हो उस धर्म से मुक्ति के ठोस कारण जरूर ही समाज के आंतरिक संरचना में मौजूद होंगे। जब मनुष्य को अपने मनुष्य मात्र होने

से शर्म व ग्लानि महसूस होने लगती है तब वह धर्म-परिवर्तन मजबूरन करने को बाध्य होता है। इनसे अलग स्थिति आदिवासी समाज की है। वे मुख्यधारा में शामिल किसी भी जमात के धर्म को स्वीकार नहीं करते हैं। वस्तुतः वे किसी भी धर्म को नहीं मानते हैं, उनका धर्म है-'सरना'। 'सरना' अर्थात् प्रकृति के प्रति रागात्मक संबंध ही उनका सहज जीवन-धर्म है। किंतु आदिवासियों का मुख्यधारा के समाज व बाहरी समाज के धर्म को अपनाया जाना कहीं-न-कहीं उनकी त्रासद नियति का संकेत जरूर करती है। 'काला पादरी' उपन्यास में ऊराँव आदिवासियों का ईसाई धर्म में रूपांतरण इसी अभिशप्त नियति का संकेत करती है-"क्या यह सच नहीं कि हमारी इमेजेज़ में पहाड़ थे, नदियाँ थीं, पेड़ थे, चीते थे और राजा ने हमें बंधुआ बना दिया, फिज़िकली और इक्नॉमिकली एक्सप्लाइट किया, लेकिन आपने क्या किया? यू रादर टेम्स अस, आपने हमें पालतू बना दिया, हमारे लिये हिंदू फंडामेंडलिस्टों और आप में अब कोई ख़ास फ़र्क नहीं है। हमारी सारी इमेज़ेज छीन लीं आप लोगों ने...।"[40]

आरंभ से ही आदिवासियों की जिंदगी जहालत एवं अपमान से भरी हुई थी। लगातार सभ्य समाज ने उन्हें अपने ही जगह से खदेड़ते हुए जंगल, पर्वत-पठारों, दुर्गम एवं बीहड़ जगहों में आश्रय के लिए बाध्य किया। पहले राजाओं की कई पीढ़ियों ने आदिवासियों को जानवरों से भी बदतर जीवन को बाध्य किया, फिर आक्रमणकारियों एवं लुटेरों ने छल एवं धोखे से उन्हें लगातार लूटा व खसोटा-"यह सच है कि प्रभु यीशु के हमारे जीवन में आने से पहले हमारे अंदर कोई आवाज़ ही नहीं थी। कीड़ों की तरह रेंगता हुआ यह जीवन जिसकी डोर राजा दुर्जन साल के वंशजों और वहशी लुटेरों के हाथों में थी। अपमान, जिल्लत और ग़ैर-संवेदनशीलता से भरा एक गटर था जिसमें हम रहते थे बस किसी तरह।"[41] चारों ओर से शोषण एवं अपमान के इस वातावरण ने ही आदिवासियों के अंदर भय एवं असुरक्षा की गहरी पर्तें मुख्यधारा के समाज के प्रति पैदा कर दी। आदिवासियों को

---

[40] तेजिंदर, काला पादरी-पृ.45
[41] तेजिंदर, काला पादरी-पृ.46

गटर की जिंदगी से निकालने की सबसे सार्थक पहल निश्चित ही आधुनिक युग में ईसाई मिशनरियों ने की, भले ही वह धर्म के नाम पर क्यों न हुआ हो।

जब 'काला पादरी' उपन्यास का नैरेटर (लेखक) आदिवासियों द्वारा विदेशी धर्म को अपनाये जाने पर आश्चर्य व्यक्त करता है तो मुख्य पात्र जेम्स खासा उसका उत्तर विस्तारपूर्वक इस प्रकार देता है-

"सवाल धर्म के देशी या विदेशी होने का नहीं है, सवाल ट्रीटमेंट का था, सवाल हमारी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा का था, सवाल एक तरह के भय का भी था, यहाँ के आदिवासियों के लिए ज़मींदारों और भूत प्रेतों में कोई ख़ास फ़र्क नहीं था। दोनों ही एक बार जो इन्हें पकड़ते थे तो फिर पूरा निचोड़ कर भी नहीं छोड़ते थे। ऐसी स्थिति में वे आये और उन्होंने कहा कि हम तुम पर कृपा नहीं कर रहे हैं, बल्कि यह प्रभु यीशु का आशीष है जो परमेश्वर पुत्र ने तुम्हारे लिये भेजा है, इस आशीष को तुम स्वीकार करो और हमारे पुरखों ने इसे स्वीकार कर लिया। ... मिशनरीज़ ने हमारे सामने जो भी विकल्प रखे वह हमारी भावनाओं के अनुकूल ही रखे, हमारे ऊपर कुछ भी अपनी ओर से थोपा नहीं। हमारी लोक कथाओं में पिता को उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना कि माँ को दिया जाता है। मिशनरीज़ ने हमारे सामने माँ मरियम की आकृति रखी, इसके अलावा भी उन्होंने अपने बहुत सारे रीति-रिवाज और संस्कार हमारी जीवन शैली के साथ मिला लिये। जिस समय हमें अपने ही देश और समाज के लोगों के बीच जंगलियों और नंगे आदिवासियों की तरह रहना पड़ रहा था, ऐसे कठिन समय में उन्होंने हमें बताया कि तुम मनुष्य हो, हमारी तरह। यह हमारे लिये एक ऐसी बात थी कि जिनके सामने जीवन छोटा था और हमारे पूर्वज उनके साथ हो गये।"[42] इस प्रकार जब अपने समाज और देश के लोग उन्हें लगातार मनुष्यता की कोटि से बाहर करते रहे इसी बीच ईसाई मिशनरियों के माध्यम से ईसाई धर्म स्वीकार करने को बाध्य हुए। पर जब से वे ईसाई धर्म स्वीकार कर सम्मान-पूर्वक जीवन जीने लगे तभी से देश के तथाकथित

---

[42] तेजिंदर, काला पादरी-पृ.92

सभ्य समाज एवं हिंदू उग्र-पंथियों की नज़र में वे चढ़ गए। ईसाई मिशनरियों द्वारा आदिवासियों का धर्म-परिवर्तन आज उग्र हिंदू पंथियों को षडयंत्र लगता है जबकि वे मिशनरी द्वारा वर्षों तक आदिवासियों को दिये गए सुरक्षा एवं सम्मान भरा जीवन नहीं देख पाते। दरअसल धर्म का उग्र स्वरूप ही उन्हें मूल कारण की पड़ताल नहीं करने को विवश करता है इसमें संदेह नहीं है-"दरअसल, हमारे लोग यह नहीं समझ पा रहे हैं कि धर्म परिवर्तन आखिरकार होता क्यों है? हम खुद ही वह सम्मान आदिवासियों को और समाज के पिछड़े तबक़ों को नहीं दे रहे हैं जिसके कि वे हक़दार हैं और जब कोई और उन्हें वह सम्मान दे कर अपने साथ जोड़ लेता है तो हमें उसमें एक तरह के षड्यंत्र की बू आती है।"[43]

धर्मांतरण की यह पूरी प्रक्रिया भले ही समाजशास्त्रीय दृष्टि से उचित क्यों न लगे किंतु इसके भी गहरे निहितार्थ जरूर होते हैं जिसकी पड़ताल करना जरूरी ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। धर्मांतरित समाज के प्रहरियों के एप्रोच से दूर धर्मांतरण की छाया में जी रहे आदिवासी स्त्री की स्थिति एवं जीवन का आकलन शोध विषय का केंद्रीय बिंदु है। 'काला पादरी' उपन्यास में केंद्रीय चरित्र जेम्म खाका के परिवार एवं जेम्म खाका की प्रेमिका सोज़ेलिन मिज व अन्य अवांतर प्रसंगों के माध्यम धर्मांतरित आदिवासी स्त्री के जीवन पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला गया।

'काला पादरी' में उराँव आदिवासियों द्वारा तीन पीढ़ी पहले ईसाई धर्म को स्वीकार करने की प्रक्रिया का सशक्त रूप में वर्णन किया गया है। दूसरी पीढ़ी की आदिवासी स्त्री का ईसाई धर्म में परिवर्तन के बाद इस धर्म के प्रति सहज आस्था का भाव दिखाई देता है क्योंकि उनकी पीढ़ी ने देखा कि गटर की जिंदगी से निकालने की पहल सार्थक रूप में ईसाई धर्म के प्रहरियों ने ही किया न कि अपने देश व समाज के धर्म-रक्षक व चिंतक। अतः दूसरी पीढ़ी की प्रतिनिधि पात्र के रूप में जेम्स खाका की माँ का मानस-तंत्र लगातार ईसाई धर्म को जीवन में ढालने एवं परिवार के सदस्यों द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार पर ज्यादा बल है। अप्रत्यक्ष रूप से अपने परिवार के सदस्यों के न चाहने पर भी उन्हें ईसाई धर्म के प्रचार व सेवा के लिए अपना जीवन

[43] तेजिंदर, काला पादरी-पृ.103

होम करने का आग्रह वे अपने बेटे एवं बेटी से करते हैं जिसका संकेत उपन्यास में जेम्स खाका की प्रेमिका सोज़लिन मिंज के कथन में मिलता है-"मुझे पता है जेम्स कि सिस्टर अनास्तसिया भी शादी कर के अपना घर बसाना चाहती है और तुम्हारी माँ को यह बात बिलकुल पसंद नहीं और तुम शायद इसी कारण अपने बारे में कोई निर्णय नहीं ले पा रहे हो। ... वैसे तो अम्माँ तुम दोनों में से किसी के भी विवाह के लिए तैयार नहीं हैं। वे चाहती हैं कि तुम दोनों भाई-बहन प्रभु यीशु की प्रार्थना के प्रचार का ही काम करो, पर अगर ज़रूरी हुआ तो सिर्फ़ एक ही गृहस्थी का बोझ ढोना होना, लेकिन सिस्टर अनास्तसिया की इच्छा है कि तुम बहुत 'टेलेंटेड' हो, इसलिए तुम्हें ही धर्म के प्रचार में अपना जीवन लगा देना चाहिए।"[44]

अतः पुरानी पीढ़ी का धर्म के प्रति अतिरिक्त आस्था भाव नयी पीढ़ी के स्त्री के जीवन में हस्तक्षेप डालता है और चाहे-अनचाहे मन से वे ईसाई धर्म के प्रचार में अपना जीवन समर्पित करने को विवश होते हैं। सिस्टर अनास्तसिया का बेमन से घर में अवैवाहिक जीवन व्यतीत करना इस साक्ष्य के गहरे प्रमाण हैं। धर्मांतरित आदिवासी स्त्री की नई पीढ़ी का धर्म के प्रति विश्वास एवं जीवन दृष्टिकोण पुरानी पीढ़ी से बिलकुल भिन्न है। यह अलगाव इस पीढ़ी अंग्रेज़ी शिक्षा के फलस्वरूप समाज के प्रति आलोचनात्मक रवैये के कारण है।

निष्कर्ष

विश्व में स्थापित धर्म व्यवस्थाओं से इनका बिल्कुल अलग है। प्रकृति से जुड़े विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से आदिवासी अपनी धार्मिक आस्था व्यक्त करते हैं जो कि जीवन से सहज रूप में जुड़ा हुआ है। इनके देवता (सिड़बोंगा, धर्मेस इत्यादि) मनुष्य के सामाजिक संबंधों में जुड़े होते हैं। अतः भगवान के प्रतीक रूप में कृत्रिम चीज़ों मंदिर, गिरजाघर इत्यादि अनावश्यक हैं। 'आदि धरम व्यवस्था' में ईश्वर से साक्षात्कार की प्रक्रिया में न किसी मध्यस्थता (पंडित, मौलवी, पादरी इत्यादि) की जरूरत है न समाज विरोधी दृष्टिकोण स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य व

[44] तेजिंदर, काला पादरी-पृ.98

अवतारवाद की। समाज विरोधी काम को यहाँ नरक की संज्ञा दी जाती है। आदिवासी धार्मिक आस्थाओं को सारना,जाहिरा, सारि, संसारी, बाथउ, दोनिपोलो इत्यादि नामों से जाना जाता है। जीववाद, प्रकृतिवाद, बोंगावाद, टोटमवाद, बहुदेववाद, जादूवाद, पूर्वज पूजा, वर्जना (टैबू), शमनवाद, शिरोच्छेदन आदि जैसी धार्मिक विश्वास के कारक आदिवासी समाज में मौजूद रहते हैं। धर्म के ठेकेदारों द्वारा स्त्री के प्रति नकारात्मक मिथ (भूतिन-डायन आदि) रचकर अपमानित करना विज्ञान व प्रविधि के इस युग में लज्जास्पद बात है जिसका रेखांकन आदिवासी साहित्य में हुआ है। अशिक्षा एवं अंधविश्वासों के कारण प्रायः आदिवासी स्त्रियाँ आये दिन प्रताड़ित होती हैं। आदिवासी समाज में कुछ वर्जनाएँ भी हैं अर्थात् मासिक धर्म के समय स्त्री कृषि कार्य नहीं कर सकती। जहाँ तक धर्मांतरण का सवाल है निःसंदेह धर्मांतरण के फलस्वरूप ईसाई धर्म को अपनाने पर आदिवासियों के जीवन में प्रकाश आया। किंतु धर्म का मूल संदेश मानवीयता की जगह धर्म के प्रचार पक्ष पर ज्यादा बल देने के कारण व्यापक समाज का भला हो सका। सेवा के नाम पर जहाँ आदिवासी स्त्री को संपूर्ण जीवन बलिदान करने को प्रेरित किया जाने लगा।

* * *

छठा अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री: सांस्कृतिक संदर्भ

6.1 संस्कृति का स्वरूप

6.2 आदिवासियों की संस्कृति

6.3 लोक-कथा

6.4 लोक-गीत

6.5 लोक-नृत्य

6.6 लोक-विश्वास

6.7 गुदना

6.8 युवागृह

6.9 आखेटन

छठा अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : सांस्कृतिक संदर्भ

समष्टि के समस्त जीवधारियों में मानव एक विशिष्ट प्राणी है। मानव की विशिष्टता इस रूप में है कि वह जैविक धरातल से उठकर सर्जनात्मकता की ओर उन्मुख रहता है। यही कारण है मानव, संस्कृति की धरोहर एवं उसका जन्मदाता है। मानव समाज से संस्कृति को पृथक् कर दिया जाये तो मानव एवं पशु में कोई विशेष अंतर नहीं रह जायेगा। मानव को यद्यपि संस्कृति का निर्माता कहा गया है, परंतु संस्कृति-निर्माण की यह क्षमता उसे प्रकृति ने प्रदान की है। चूँकि संस्कृति का जन्म एवं विकास मानव समाज के अभ्युदय के साथ ही आरंभ हुआ है अतः आदिवासी समाज मानव इतिहास में संस्कृति के उन आरंभिक चरणों की ओर करते हैं, जहाँ से वह विकास की वर्तमान अवस्था तक पहुँची है।

6.1 संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति शब्द का प्रयोग उसके पर्यायवाची अंग्रेज़ी शब्द 'कल्चर' की भाँति अनेक अर्थों में होता है। मैलिनोवस्की ने अपनी रचना 'दि डाइनैमिक्स ऑफ कल्चर चेञ्ज' में संस्कृति के कुछ पहलुओं की सार्वभौमिकता को समझाने का प्रयत्न किया है। मैलिनोवस्की के अनुसार हमारी आवश्यकता की अवधारणा को समझने में संस्कृति द्वारा प्राप्त प्रत्युत्तर का प्रत्यक्ष संबंध निहित है। मानव के सांस्कृतिक कार्यों में व्यक्त मूलभूत मानवीय आवश्यकताएँ पुनः ग्रहण की गई आवश्यकताओं की एक श्रेणी को जन्म देती हैं। इसका तात्पर्य है कि "संस्कृति मानव को ग्रहण की जानेवाली संभावनाएँ, योग्यताएँ और शक्ति प्रदान करती हैं। ग्रहण की गई आवश्यकताओं से सांस्कृतिक अनिवार्य की एक श्रेणी निकलती है जो कि एक संस्कृति की संस्थाओं को स्वरूप प्रदान करती है, जिसे कि 'पहलू' की संज्ञा दी जाती

है।"[1] आगे मैलिनोवस्की संस्कृति के बारे में लिखते हैं कि यह एक प्रेरक तत्व है जिससे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करते हुए अपने परिवेश की विशिष्ट समस्याओं का सामना करने में समर्थ हो पाता है। मैलिनोवस्की ने संस्कृति का तात्पर्य प्रकार्यात्मक रूप में लिया है। उन्होंने संस्कृति को उसके संपूर्ण रूप में देखा तथा यह बताया कि संस्कृति के विभिन्न अंग पृथक-पृथक हाते हुए भी संपूर्ण निर्माण करते हैं।

एलियट ने संस्कृति को अत्यधिक व्यापक स्वरूप प्रदान करते हुए जीवन को ही संस्कृति का एक अंग माना है जिसके विशाल रूप के बारे में मानव अनभिज्ञ रहता है। हीगल और कान्त जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक चिंतक संस्कृति और नैतिकता को परस्पर संबंधित मानते हैं जबकि कुछ दार्शनिकों ने संस्कृति का संबंध धर्म से भी माना है। इसके विपरीत जर्मनी के दार्शनिक जोसफ पाइपर ने संस्कृति की परिभाषा करते हुए कहा है कि-"संस्कृति विश्व की उत्तम प्राकृतिक वस्तुओं में तथा उपहारों एवं गुणों में, मानवीय संपर्क में, जो कि उसकी आवश्यकताओं और प्रतीतों के समीपस्थ क्षेत्र से बाहर है, सर्वोच्च है।"[2] इस परिभाषा में संस्कृति को जैविकता के धरातल से बाहर एक सर्जनात्मक आयाम के रूप में रेखांकित किया गया है। इतिहासकारों ने संस्कृति को किसी समूह या देश के विशेष कलात्मक अथवा बौद्धिक विकास के रूप में ग्रहण किया है। निःसंदेह जीवन के पक्ष संस्कृति के अंग हैं, परंतु मानव-विज्ञान की वैज्ञानिक दृष्टि विशेष विकासों के अतिरिक्त सामान्य व्यवहार-प्रकारों को भी संस्कृति का अविभाज्य अंग मानती है। संस्कृति की विकसित और महान सभ्यताएँ संस्कृति के एक नए रूप तथा धरातल का प्रतिनिधित्व करती हैं, परंतु आदिवासी के आदिवासी, जिनकी भौतिक संस्कृति अत्यधिक अल्प-विकसित है, किसी तरह भी संस्कृतिविहीन नहीं माने जा सकते। इस रूप में संस्कृति को विज्ञान के धरातल पर रखने का श्रेय मानवशास्त्र को है।

---

[1] बी.मैलिनोवस्की, दि डाइनैमिक्स ऑफ कल्चर चेञ्ज, न्यू हैवन, 1945-पृ.125

[2] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.21

मानवशास्त्री संस्कृति को सीखे हुए व्यवहार के रूप में प्रयुक्त करते हैं। 'संस्कृति' पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है। श्यामचरण दुबे संस्कृति को मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, कलात्मक अथवा सारांश में मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों की समग्रता के रूप में देखते हैं-"सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों की उस समग्रता को, जो किसी समह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है, संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवनयापन के जो विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते हैं, वे ही उस समूह की संस्कृति है।"[3] पिडिंगटन के शब्दों में-"संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों और उपकरणों का संपूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि एवं पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"[4] रूथ बैनेडिक्ट ने संस्कृति को एक प्रतिमान के रूप में मानते हुए कहा है-"व्यक्ति की भाँति संस्कृति भी विचार और क्रिया का एक बहुत कुछ सुस्थिर प्रतिमान है।"[5] हॉबल ने सब व्यवहार-प्रतिमानों की समग्रता को ही संस्कृति माना है जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है। हॉबल का कथन है कि-"संस्कृति का निर्धारण वंशानुक्रमण द्वारा नहीं होता है अपितु यह पूर्ण रूप से सामाजिक खोजों का परिणाम है। अर्थात् मानव ने अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के एक साधन के रूप में संस्कृति की रचना की है।"[6] लिंटन ने संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार की है-"संस्कृति ज्ञान, धारणाएँ एवं प्राकृतिक व्यवहार के प्रतिमानों का कुल योग है जिसके सभी भागीदार होते हैं तथा जो संप्रेषित होती है।"[7] लॉवी ने संपूर्ण सामाजिक परंपरा को ही संस्कृति की संज्ञा प्रदान की है। बोआस, बैनेडिक्ट तथा मारगेरेट आदि मानवशास्त्री उपर्युक्त परिभाषा से सहमत होते हुए संस्कृति में मानव द्वारा उपार्जित कुशलताओं, रीति-रिवाजों तथा आदतों का भी समावेश करते हैं।

---

[3] श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति-पृ.69
[4] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.21
[5] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.21
[6] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.21
[7] डॉ.हरिश्चंद्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ-पृ.21

परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि संस्कृति रहन-सहन की एक प्रणाली है, एक सामाजिक विरासत है जिसे व्यक्तिगत रूप में प्राप्त किया जा सकता है। मानवशास्त्री ने संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक, दोनों ही पक्षों को महत्वपूर्ण माना है, वे संस्कृति को मात्र आध्यात्मिक प्रदत्त वस्तु ही नहीं मानते। इस प्रकार वास्तव में 'संस्कृति' शब्द की कोई व्याख्या प्रस्तुत करना एक जटिल कार्य है। इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है।

6.2 आदिवासियों की संस्कृति

आदिम समुदायों की संस्कृति मूलतः लोक संस्कृति पर आधारित रहती आयी है। इस तरह से आदिवासी संस्कृति को ठीक से समझने के लिए उनके बीच प्रचलित लोक-संस्कृति को जानना होगा। भारत के पास समृद्ध व व्यापक लोक-संस्कृति की परंपरा रही है। मानव समाज की परंपरा का ठोस आधार और लोक-चेतना की नींव आदिवासी जीवन-दर्शन में है जो मूलभूत आदिम (इंसान के अर्थ में) सरोकारों से भरपूर है। "लोक-संस्कृति के विकास का मूल स्रोत ही आदिम समाज की बहुआयामी कल्पना, कल्पनाशीलता और उसकी रचनाशीलता से जुड़ा हुआ है। आदिवासियों के पास मन और बुद्धि की मानवीय प्रयोगशाला रही है, जिसमें आदिम कलाओं, उत्कीर्ण पाषाण चित्रों, प्रकृति के साथ तन्मय उल्लासपूर्ण रास और नृत्य, स्वरों का समायोजन और मौखिक-वाचिक परंपरा का लोक साहित्य प्रारंभ से ही मौजूद है। ... भारतीय लोक साहित्य, लोक नृत्यों और लोक कलाओं का जन्मदाता रहा है हमारा आदिवासी समुदाय, उनके कबीले और कुनबे।"[8]

इस प्रकार मनुष्य और प्रकृति की सहभागिता, सहयोग और सह-अस्तित्व का जीवन-दर्शन हमारे आदिवासी पूर्वजों की देन है और जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह मूल रूप से आदिवासी संस्कृति का ही विकसित रूप है।

[8] कमलेश्वर, वर्तमान साहित्य (जून, 2005)-पृ.19

6.3 लोक-कथा

कथा कहने की प्रवृत्ति का इतिहास मनुष्य के बोली सीखने के उपरांत से ही जुड़ा हुआ है। लोक-कथाएँ आदिवासी जीवन-संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। इन लोक-कथाओं में आदिवासियों के वैभव-पूर्ण, सुखद अतीत का जिक्र तो है ही साथ ही छले गए जीवन का दंश भी। अतः ये कथाएँ जहाँ आदिवासियों के सुख-प्रदर्शित करती हैं वहीं इनके सामाजिक संगठन की एक प्राचीन रूप-रेखा प्रस्तुत करती हैं तथा धार्मिक विश्वासों का एक विस्तृत इतिहास बताती है। संसार कैसे बना? वृक्ष किस प्रकार धरती पर खड़े हो गए? आकाश चारों ओर कैसे फैल गया? ... संगीत की उत्पत्ति कैसे हुई? ... मरने के पश्चात् मानव को कितनी लंबी यात्राएँ करनी पड़ती हैं? ... सूर्य, चंद्रमा, तारे और जुगनू सहसा कैसे चमकने लगे? ... आग आकाश से उतरकर धरती पर कैसे आई? ... आदि हजारों ऐसी कहानियाँ इन आदिवासियों में प्रचलित हैं जो इन आदिवासियों की उर्वर कल्पना शक्ति को प्रदर्शित करती हैं।

वस्तुतः जीवन, विश्वास, परंपराएँ तो इनमें प्रतिबिंबित हैं ही, साथ ही साथ इनमें उनकी भोली-भाली मनोरम कल्पना के भी दर्शन सहज रूप में किये जा सकते हैं। जीवन का कोई भी पहलू नहीं है, जो आदिवासियों की कथाओं में अवतरित न होता हो। इन आदिवासियों की लोक कथाएँ कौतूहल से परिपूर्ण हैं क्योंकि चमत्कार इनको अधिक प्रिय हैं। प्रकृति के सतत् साहचर्य के कारण इन लोक-कथाओं के अभिन्न अंग के रूप में प्रकृति जुड़े हुए हैं। आदिवासियों के धार्मिक जीवन, नृत्य, उत्सव, विश्वाास, अंधविश्वास सभी का प्रतिबिंब उनकी कथाओं में अंकित है। आदिवासी जीवन और संस्कृति का जैसा सर्वग्राही रूप उनकी लोक-कथाओं में दिखाई देता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

आदिवासियों की अनेक उपजातियों की उत्पत्ति-कथाओं के संबंध में ढेरों किंवदंतियाँ रोचक रूप में प्रचलित हैं। जब उन्हें कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मनुष्य जाति की उत्पत्ति समझाने का यत्न करता है तब वे उपेक्षा पूर्ण दृष्टि से देखकर हँस

देते हैं। पशु व प्रकृति से संबंधित चीज़ों की उत्पत्ति कथाएँ कल्पनात्मक होने के साथ-साथ देवी-देवता-विषयक कथाएँ मान्यताओं से अधिक संबंधित होते हैं। इन कथाओं के कथानक सरल हैं जिनमें किसी भी प्रकार की जटिलता नज़र नहीं आती है। कथावस्तु का रूप गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। पात्रों की संख्या इन कहानियों में सीमित देखी गई है जिससे रोचकता बनी रहती है। लोक-कथा को रोचक बनाने हेतु अलौकिकता के द्वारा मानवेतर पात्रों की कल्पना के साथ ही सैकड़ों अभिप्रायों का पुट भी दिखाई देता है। साधारणतया ये अभिप्राय लोक विश्वासों एवं कल्पना पर आधारित हैं। स्थानीय बोलियों में कही गई लोक-कथाओं में आदर्श का पुट मौजूद रहता है। वस्तुतः आदिवासी संस्कृति तथा सभ्यता के अध्ययन के लिए ये कथाएँ बड़ी उपयोगी हैं।

हाल ही में चर्चित उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में मुंडाओं के सिंगबोंगा की कहानी के माध्यम से असुर जाति के विध्वंस का पता चलता है। भगवान सिंगबोंगा ने किस तरह छल से आत्म-स्वाभिमानी असुर का संहार किया इसका वर्णन इस कहानी के माध्यम से किया गया है-

"काफ़ी लंबी चौड़ी मुंडारी गीत-कथाका भाव वह था कि एक्कासी मैदान और तेरासी टाँड़ में केला के घौंद और फलों के गुच्छों की तरह झुंड के झुंड असुर भाई लोग दिन-रात धौंकनी धौंक रहे हैं। चौबीस घंटे लोहा पिघलाते रहते हैं, जिससे आकाश में आँधी चल रही है, धरती पर कुहासा छा रहा है। सारे जीव, सारी वनस्पतियाँ आँच से कुम्हला रही हैं। कीड़े-मकोड़े, फुनगे-फतिंगे सब एक-एक कर मर रहे हैं। कमल फूलों की पोखरी और कुमुद फूलों की बावड़ी सूख रही है। पंछी-पखेरुओं के साथ-साथ मुंडा लोग भी सातों दिन सात रात दाना पानी के बिना तड़प रहे हैं। स्वयं भगवान सिंगबोंगा और देवी कुमारी को आकाश में भी धुएँ से परेशानी हो रही है।

भगवान सिंगबोंगा ने एक-एक कर कई पक्षियों को दूत बनाकर असुरों के पास भेजा कि वे धौंकनी धौंकन बंद करें। लेकिन पत्थर की छाती और अरकंठे जैसी बाँहोंवाले असुर किसी की इज्ज़त नहीं करते। खुद को ही भगवान मानते हैं। उन्होंने

बारी-बारी से सारे दूत पंछियों को कष्ट दिया। उन्हें सड़सी से पकड़ा, कुटासी से कूट दिया। किसी पर कोयला डाला, तो किसी को राख से नहला दिया।

अंत में उन अहंकारी-दुष्ट असुरों को सज़ा देने स्वयं भगवान सिंगबोंगा ने चर्म रोगवाले लड़के का भेष बदला। लुटुकुम बूढ़ा और लुटुकुम बुढ़िया के यहाँ धाँगर-नौकर बनकर रहने लगे। रहते-रहते चालाकी से लालची असुरों को सोने-चाँदी के लालच में उन्हीं की भट्ठी में जलाकर मार डाला। लौटने को आकाश की ओर बढ़े तो असुर औरतें उनके पैरों में लटक गयीं। तब सिंगबोंगा भगवान ने पैरों को ऐसा झटका कि वे जहाँ-तहाँ पहाड़-जंगल-झरना-नदी में गिरीं और भूत बनकर रहने लगीं।"[9]

इस कहानी से यह ज्ञात होता है कि बचपन से सुनी सुनाई कहानियाँ वस्तुतः विजयी जाति के चारण-भाटों द्वारा ही निर्मित होती है। विजयी जाति पराजित जाति के शौर्य का वर्णन नहीं करती बल्कि उसके प्रति घृणा भाव करते हुए उसे बेईमान व अनाचारी सिद्ध करता है। इन कहानियों में सत्य, न्याय जैसे शब्दों को दरकिनार करते हुए इतिहास की गलत व्याख्या की जाती है। इस प्रकार आदिवासी के इस लोक-कथा के माध्यम से असुर के अतीत में वैभवशाली जीवन के ध्वंस का मार्मिक चित्रण किया गया है।

राकेश कुमार सिंह के प्रसिद्ध उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में कई लोक-कथाओं का जिक्र मिलता है। इस उपन्यास का नायक हारिल जब अपनी प्रेमिका लाली से विजातीय होने के नाते विवाह करने की स्थिति में नहीं रह पाता तो उसे लोककथा की स्मृति सहसा हो जाती है। इस लोककथा के माध्यम से वह असंभव स्थिति को संभव बना कर देखने लगता है। "सन्ताल समाज में जबकि संतालों के आदिपुरुष पिलचु हड़ाम और आदिवासी पिलचु बूढ़ी सगोत्रीय ही नहीं थे वरन् एक पेट से जनम लेते हुए भी आपस में विवाह किया था। यह कोई नयी बात नहीं थी, युगों पुरानी घटना थी। सतयुग की बात...।

[9] ग्लोबल गाँव के देवता-पृ.42-43

सतयुग में जब धरती पापों के बोझ से डगमगाने लगी थी तो ईश्वर ने ‘गजमती’ नामक एक हाथी बनाया जिसने अपने बोझ से पाप भरी धरती को जल में डुबो दिया था।

जलमग्न हो गयी धरती। डूब गये सारे जीव-वनस्पति। फिर ईश्वर ने ‘जाहेर आयो’, ‘माराङबुरू’ और ‘लिटा गोंसाई’ के साथ दो युगों तक गहन विचार-विमर्श किया था। तय हुआ कि सृष्टि का निर्माण नहीं किया तो हमारी पूजा कौन करेगा? कौन देगा अक्षत, फूल, नैवेद्य और बलि...?

ईश्वर ने बादलों के दो टुकड़ों से एक हंस और एक हंसिनी का निर्माण किया था। ज्यों ही ईश्वर ने दोनों पक्षियों में प्राण फूँके, पक्षी युगल आकाश में उड़ गया।

प्राण-प्रतिष्ठा के बाद ईश्वर के बनाये हंस और हंसिनी ने दो अंडे दिये। चूँकि इन्हीं अंडों से भावी सृष्टि की रचना होनी थी अतः ईश्वर की इच्छा हुई कि ‘माराङबुरू’ नयी धरती का निर्माण करें।

माराङबुरू ने कछुवे को बुलाया। प्रस्ताव रखा कि यदि कछुआ अपनी पीठ पर धरती का निर्माण करने दे तो माराडबुरू का आधा राज्य उसे मिल सकता था। साथ ही ‘माराडबुरू’ की एक पुत्री भी।

कछुआ सहमत हो गया। ईश्वर ने कछुए के चारों पैरों में सोने की जंजीरें बाँध दीं। चारों जंजीरों को चार दिशाओं में कील दिया। कछुए को इतनी भर सुविधा मिली कि वह बारह वर्षों में मात्र एक बार हिल-डुल सकता था। अपने देह की जकड़न मिटा सकता था।

दूसरी एक पुत्री और शेष आधा राज्य का आकर्षक प्रस्ताव, नागराजा को भी भा गया था। उसने भी पृथ्वी के निर्माण में सहयोग किया। बारह वर्षों में मात्र एक बार हिलने-डुलने की शर्त को भी नागराजा ने सहर्ष स्वीकार किया।

ईश्वर ने नागराजा को लपेटकर कुण्डली बनायी और उसे कछुवे की पीठ पर स्थापित कर दिया। नागराजा की कुण्डली पर रखा गया एक स्वर्ण थाल। पृथ्वी-निर्माण का ठोस आधार तैयार हो चुका तो आवश्यकता पड़ी मिट्‌टी की।

स्वर्णथाल को मिट्टी से भरना विकट कार्य था। क्योंकि चारों ओर जल ही जल था। प्रचुर मिट्टी यदि उपलब्ध थी तो सीधे पाताल में।

'माराङबुरु' के आदेश पर चिंगड़ी मछली मिट्टी लाने पाताललोक को गयी परंतु वह विफल रही। सारी मिट्टी रास्ते में ही घुलकर विलीन हो गयी। केंकड़ा राजा का प्रयास भी असफल रहा। वह भी मिट्टी साथ न ला सका। अंततः 'माराङबुरू' की अपेक्षाओं पर खरा उतरा केंचुआ राजा। अनथक परिश्रम करने के बाद अंततः केंचुआ राजा ने पाताल लोक की मिट्टी से स्वर्णथाल भर डाला। पृथ्वी के निर्माण के गुरु-गंभीर अभियान में सफल होने पर प्रसन्न माराङबुरू ने अपनी तीसरी पुत्री को केंचुआ राजा के साथ ब्याह दिया।

ईश्वरीय आदेश पर 'माराङबुरू' ने धरती पर वनस्पतियों के बीज छींटे। हंस-हंसिनी के अंडों को हिहिड़ी-पिपिड़ी नामक स्थान पर सुरक्षित रखने की व्यवस्था की। इन्हीं अंडों से उत्पन्न हुए थे पिलचु हड़ाम और पिलचु बुढ़ी।

आदिपुरुष और आदिनारी पले-बढ़े। सृष्टि के विकास हेतु संतानोत्पत्ति की। सात बेटों-सोंदरा, सांदोम, चारे, माने, अचारे, देलहू और किरु-को जन्म दिया। सात बेटों के अतिरिक्त सात बेटियाँ भी। छिता, कापरा, दिसी, डुमनी, दानगी पुँड़गी और तासी।

इन बेटों-बेटियों के आपस में ब्याह हुए जिनसे बढ़ा आदिवासियों का वंशवृक्ष। (उराँव लोककथा)"[10]

दरअसल इस उराँव लोककथा में काफी प्राचीन समय में आदिपुरुष पिलचु हड़ाम व आदि नारी पिलचु बुढ़ी का सृष्टि के विकास हेतु संतानोत्पत्ति का तो जिक्र है ही साथ ही उनके बेटों-बेटियों के आपसी विवाह का भी वर्णन है। इसी प्रकार की लोक-कथा संताली समाज में भी विद्यमान है अर्थात् उनके आदिपुरुष पिलचु हड़म और आदिनारी पिलचु बूढ़ी सगोत्रीय ही नहीं वरन् एक पेट से जन्म लेने के बावजूद आपस में विवाह किये। किंतु कालांतर में संथाल समाज में स्त्री-पुरुष के विवाह

---

[10] जो इतिहास में नहीं है-पृ.88-89

संबंध दूसरे के साथ निषिद्ध हो गया। हारिल का संथाल होने के साथ बेगार होना भी इस रास्ते को मुश्किल बना रहा था। अतः समाज की नज़र में वह उराँव प्रेमिका से शादी कर पाने की स्थिति में नहीं था। इस लोक-कथा के माध्यम से वैवाहिक संबंध हेतु आदिवासी समाज में मौजूद जात-पाँत व विजातीय विवाह के प्रतिबंध के प्रति घृणा-भाव दर्शाया गया है।

माँ व बच्चे के बीच वात्सल्य-भाव आदिम रूप की तरह आज भी विद्यमान है। परिवार की धुरी आदिवासी समाज में स्त्री के इर्द-गिर्द ही घूमती है। बच्चे के विकसित होने में माँ की निर्णायक भूमिका होती है। माँ द्वारा बच्चे से किस्सा-कहानी सुनाया जाना बाल-सुलभ जिज्ञासा एक हिस्सा रहा है। आज विज्ञान व प्रविधि के लगातार विकसित हो रहे इस युग में किस्सागोई की प्रवृत्ति बच्चों में खत्म होकर उसका जगह टी.वी. के कार्टून नेटवर्क एवं हिंसक कार्यक्रम लेता जा रहा है। अतः बच्चे का सहज-स्वाभाविक विकास रुकने के साथ ही उनका बालपन छिनता जा रहा है। ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में मुंडा बालक सोनारा अपनी माँ से कहानी सुनाने का आग्रह करता है। अपने परिवेश से लगातार संघर्ष करती हुई भी एक माँ अपने बच्चे के इस प्रस्ताव को सहज स्वीकार करते हुए कहानी सुनाना आरंभ करती है-"

"तो एक गो थी पण्डुकी...।

हूँ...!

पण्डुकी रोज राजा के घर से तीसी लाती थी। रात को तीसी का तेल पेरती थी और अनुगुत्ति राजा के घर तेल पहुँचा आती थी।

"कैसा राजा था माई? आदमी जन नईं थे उसके घर में का जो चिरईं से तेल परवाता था... दुर् ऐसन राजा!" सोनारा कथा के प्रारंभ को ही नकार दिया।

"थे आदमी जन" माँ ने कथावाचक की पारंपरिक रीत समझायी, "पर कहानी में जादा किंतु-परंतु और पूछ ताछ नईं करते। बस सुनते हैं और हुंकारी भरते हैं।"

"कहानी झूठी लगे तो भी हुंकारी?" सोनारा ने विरोध किया।

"हाँ, तो भी। तुझे कहानी सुननी है कि नहीं रे?"

"हाँ-हाँ, सुननी है। तो कहन आगे तू। अब हम हुंकारी भरेंगे बस। कह तू...।"

तो एक दिन का बात है...! (कहानी आगे बढ़ी) पण्डुकी का बच्चा भूखा था। हाथ-पैर पटक रहा था।

भूख से। गलती से बच्चे का पैर तेल के बासन में लग गया। थोड़ा सा तेल छलककर बाहर गिर गया...।

सोनारा-"जाआआआत्तेरी।"

पण्डुकी डर गयी। तेल घटेगा तो राजा गोस्सा जायेगा। राजा का कोप गिरा तो बहुत मुसकिल...। अब का होगा दद्दा...? पण्डुकी ने हाथ में पकड़ी मूसल से एक मूसल बच्चे की पीठ पर धर दिया। बच्चा 'चेंह' करके घोलट गया और हड़बड़ायी पण्डुकी राजा के घर तेल पहुँचाने निकल गयी। राजा के घर तेल नापा गया। ले मजा, तेल तो मनिक घटा ही नहीं, उल्टे थोड़ा बढ़िए गया।

बाह! इ कैसे माई? सोनारा खुश हुआ।

का पता कैसे... पर जब पण्डुकी घर लौटी और अपने बच्चे को सोया बूझकर खाने के लिए जा गाने लगी तो हाय...!

बचवा मूँ गया था न? बच्चे की आवाज़ में अवसाद उमड़ आया था।

हाँ रे! चिरईं के बच्चा में जान केतना? मूसल की मार से मर गया था।

रो-रो के बच्चे को जगाने लगी पण्डुकी, पर मरा बच्चा उठता क्या?

फिर माई?

फिर का? ... कपार नोचने लगी पण्डुकी। रोने लगी तो आज तक रोती फिरती है रे तूने सुनी है पण्डुकी के रोने की आवाज?

नईं...।

तो ध्यान से सुनना अब की कैसे बोलती है पाण्डुकी। कहती है-तुर्र-तुर्र... तीसी के तेेल तुर्र-तुर्र टक्के

सेर... तुर्र-तुर्र बेटी भेल तुर्र-तुर्र... घर-घर गेल तुर्र-तुर्र... बेटा भेले तुर्र-तुर्र...

मर-मर गेल सोनारे ने पण्डुक की आर्त टेर का अंतिम बंध पूरा किया।

हाँ... कहानी गई वन में, सोच अपने मन में, और अब सुत जा! कहानी खत्म हो गयी।"[11]

इस मार्मिक लोककथा में पशु-पक्षियों से आदिवासी स्त्री का गहरा रागात्मक संबंध-बोध जाहिर होता है। माँ के पशु-पक्षियों के विस्तृत ज्ञान का लाभ बच्चे को भी अनिवार्य रूप से मिलता है। शहरी संस्कृति में बच्चे पशु-पक्षी से सिर्फ किताबी रिश्ता ही कायम कर पाते हैं क्योंकि शहरी कान्वेण्ट से शिक्षा ग्रहण की हुई आधुनिक 'मम्मी' का प्रकृति में मौजूद पशु-पक्षी के विस्तृत दुनिया का ज्ञान बहुधा शून्य ही रहता है। साथ ही यह लोककथा वार्तालाप शैली में रोचक तरीके से कही गई है।

नागाओं के जीवन पर आधारित 'रक्तयात्रा' उपन्यास में भी कई लोक-कथाओं का वर्णन है। आदिवासी समाज के बच्चे थोड़े बड़े होते ही युवा-गृह (घोटुल) में रहना शुरू कर देते हैं। परिवार से अलग होकर युवक व युवतियाँ रात में स्वच्छंद जीवन जीते हैं। किंतु इस स्वच्छंद जीवन में अनैतिकता नहीं वरन् समाज के प्रति गहरा दायित्व-बोध भी जुड़ा रहता है। नागाओं में युवा गृह को 'मोरंग' कहा जाता है। 'मोरंग' में लड़कियों का आपस में परिहास करते हुए कथा सुनने के प्रति रुचि का भाव भी झलकता है। उपन्यास के आरंभ में आदिम जीवन व्यतीत कर रहे नागाओं के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। 'मोरंग' में रह रही सखियाँ उपन्यास की नायिका त्रेलेनु से कहानी सुनाने का आग्रह करती हैं। त्रेलेनु सखियों का आग्रह न टाल पाने के बाद कहानी कहना आरंभ करती है-"बड़े पुराने जमाने की बात है...।" एक हंसोड़ लड़की ने बाधा दी, "अरे यह तो बुढ़िया की तरह कहानी सुनाने जा रही है।"

क्रेलेनु ने उसकी बात अनसुनी करके कहा, "एक लड़का था जिसकी न माँ थी, न बाप।

उस हंसोड़, लड़की ने फिर टोका, "तो क्या आसमान से टपका था।"

---

[11] पठार पर कोहरा-पृ.98-99

पहले वाली लड़की ने हंसोड़ लड़की को टोका, "अरी सुनने भी देगी कि नहीं।"

क्रेलेनु जल्दी से कहानी खत्म करने के चक्कर में कहने लगी, "वह गरीब भी बड़ा था।

एक सीधी-सी लड़की ने कहा, "नहीं, किसी राजा की कहानी सुनाओ।"

सभी लड़कियों ने मौन रहकर उसका समर्थन किया। भला गरीब यतीम लड़के की कहानी में क्या मजा आएगा। क्रेलेनु ने कहा, "राजा भी है इसी कहानी में सुनो तो पहले।"

यह कहकर उसने कहानी का सूत्र बढ़ाया, "वह लड़का केडी (राजा) के गाँव गया। वहाँ उसे पता चला कि राजा के एक लड़की है ब्याहने लायक। बस उसने मन ही मन एक चाल सोची और राजा के पास गया। इससे पहले कि राजा उससे पूछे कि कैसे आए, क्या चाहते हो, वह कहने बैठा, तुम्हारे घर में कितना अंधेरा है।"

लड़कियाँ सावधान होकर सुनने लगीं। उन्हें कहानी में रस आने लगा था। क्रेलेनु ने कहा, "राजा ने लड़के से पूछा, "तो तुम्हारा अपना घर कैसा है?"

लड़का बड़ा चालाक था। जवाब दिया, "मेरे घर ऐसा है जिसके आरपार सब कुछ दिखाई देता है। मैं अपने घर के भीतर भी खुला आसमान देख सकता हूँ।"

यह सुनकर राजा अचरज से भर उठा था। उसने लड़के से कहा कि आज वह उसके घर पर ही जीए। जब खाना खाया तो लड़के ने पहले की ही तरह कहा, "क्या तुम्हारे पास खाने के लिए सिर्फ एक तश्तरी है।"

राजा ने 'हाँ' कहकर पूछा "और तुम्हारे पास कितनी हैं?"

लड़के ने जवाब दिया, "मैं तो जूठी तश्तरियाँ फेंक देता हूँ। नित नई तश्तरियों में खाता हूँ।"

इसी तरह लड़के ने राजा की गायों को देखकर पूछा कि तुम्हारे पास सिर्फ इतनी ही गायें हैं और जब राजा ने पूछा कि तुम्हारे पास कितनी हैं तो लड़के ने जवाब दिया, मेरे पास तो इतनी हैं कि मेरे घर में समा ही नहीं पातीं। इसलिए आधी घर के बाहर रखनी पड़ती है।

हाँ तो जब ये बातें हो रही थीं तो लड़के की नज़र खिड़की से बाहर एक बुढ़िया पर पड़ी जो घोड़े पर सवार थी। क्रेलेनु ने यह कहा था कि एक लड़की ने पूछा, "अरी यह घोड़ा क्या होता है?"

इसका जवाब तो क्रेलेनु के पास भी नहीं था। उनके देश में घोड़ा होता ही नहीं था। इस पर एक दूसरे लड़की ने कहानी में बाधा पसंद न करके कहा, "अरी होगा कुछ भी, जानवर या चिड़िया। तू कहानी कह क्रेलेनु।"

क्रेलेनु ने कहानी बढ़ाई-लड़के को जब पता चला कि वह केडी की दादी है तो उसने कहा कि क्या राजा अपनी दादी को ठंड में छोड़ देता है। इस पर राजा ने पूछा कि वह खुद अपनी दादी को कैसे रखता है? लड़के ने बताया कि वह उसे आग के पास रखता है जिससे वह बराबर आग तापती रहे।

क्रेलेनु कहती रही-राजा पर लड़के की बातों का कुछ ऐसा असर हुआ कि उसने अपनी लड़की उसे ब्याह दी। शादी के बाद जब राजा की लड़की उसके घर आई तो उसने कहा, "तुम तो कहते थे कि तुम्हारा घर ऐसा है कि जिसके आर-पार सब कुछ दीखता है, पर ऐसा तो कुछ नहीं। मुझे तो आसमान दिखाई नहीं दे रहा।"

लड़के ने राजा की बेटी को झोंपड़े की छत के छेद दिखाए और कहा कि उस छेद से देखो और बताओ कि क्या मैंने झूठ कहा था। फिर लड़की ने जब उसने तश्तरियों के बारे में पूछा तो उसने बताया कि उसके पास तश्तरी नाम की कोई चीज़ नहीं है। वह तो रोज केले का पत्ता तोड़ लाता है और खाने के बाद उसे फेंक देता है। दादी के बारे में पूछने पर उसने बताया कि जैसे आसमान हम सबका पिता है उसी तरह धरती हम सबकी माँ है। उसके घर के चूल्हे के नीचे की जमीन ही उसकी दादी है। फिर अगले सवाल के जवाब में उसने कहा कि उसके पास एक ही गाय है। पर मेरा घर इतना छोटा है कि वह आधी ही भीतर समा पाती है।"[12]

इस कहानी के माध्यम से लड़के के छली प्रवृत्ति को उजागर किया गया है। लड़कों का लड़कियों के प्रति धोखेबाजी जग-जाहिर है। आज के परिवेश में यह

---

[12] रक्तयात्रा-पृ.16-17

प्रवृत्ति और भी भयानक होती जा रही है। अतः आये दिन लड़कियों की आत्महत्या की खबरें सुनने को मिलती हैं। यह कथा जीवन में लड़की को लड़कों के लुभावने वायदे के प्रति सतर्क रखने की सीख देती है। यह कहानी 'वाद-विवाद-संवाद' शैली में कही गयी बिल्कुल अलग तरह की है।

इस उपन्यास में आगे भी तारे, चाँद आदि की प्रकृति संबंधी अंतहीन लोककथाएँ वर्णित हैं जिसमें मनुष्य का अस्तित्व सहज रूप से शामिल है-

"अच्छा तो इधर देख इन तारों को। इसे थेमैटिकरू कहते हैं। इनकी शक्ल वैसी ही है जैसी नागा औरतों की बरसाती की होती है। एक बार शम के वक्त एक औरत बरखा से बचने के लिए बरसाती ओढ़े जा रही थी। तभी कुछ ऐसा हुआ कि किसी ने उससे बरसाती छीन ली। पर छीनने वाला उसे दिखाई नहीं दिया। तभी बारिश भी रुक गई। उसने हैरत से भरकर आसमान में देखा। बादलों का नाम तक न था। तारे जगमगा रहे थे और उसकी बरसाती भी तारों का झुरमुट बनकर आसमान में जा टिकी थी। कहते हैं वह औरत बड़ी नेक थी। सदा दूसरों की मुसीबत में काम आती थी। उसके बाद भी कभी ऐसा नहीं हुआ कि वह जब भी घर से बाहर निकली हो तो बरसता पानी थम न गया हो।"[13]

तारों की इस लोक-कथा से स्त्रियों व समग्र समाज को नेक बनने की शिक्षा मिलती है। उपन्यास में वर्णित प्रकृति-संबंधी अधिकांश लोक-कथाएँ उपदेश, नैतिकता व परोपकार से संबंधित हैं जो मनुष्य को सदाचार बनने की ओर अग्रसर करती हैं।

'जंगल के फूल' उपन्यास में वर्णित लोककथा से पता चलता है कि देवता के अलावा सारी दुनिया में सबसे पहले जादू सीखनेवाला व्यक्ति गोंड समुदाय का ही था। गोंड समुदाय की यह समृद्ध विरासत परंपरा से लोककथा के रूप में प्रसिद्ध है। अपने पुत्र गुण्डा द्वारा जादू की कला को खतरनाक बताते हुए उससे बचने की सीख देने पर उसकी माँ परंपरा प्रदत्त गुण को अभिवृद्धि करने की सलाह देती है। अपनी

---

[13] रक्तयात्रा-पृ.84

दादी से सुनी जादू-टोना की कला में निपुण अपने पुरखों की कहानी गुण्डा की माँ बेटे को सुनाती है-

"हमारा देवता नन्दराज जादू-टोनों का स्वामी है। दुनिया-भर की सारी तांत्रिक विद्याएँ उसे आती हैं। एक दिन स्वर्ग के सारे देवता नन्दराज गुरू के पास जादू सीखने गए। तब हमारे इसी गाँव का एक चेलिक उसी जंगल में जड़ खोद रहा थ। उसने अंजानी जगहों से कुछ आवाजें सुनीं। उसने चारों ओर देखा। उसे तो आवाज बराबर सुनाई दे रही थी, पर कहीं कोई दिखाई नहीं देता था। वह रोज ये आवाज़ें सुनता रहा। कहते हैं, नंदराज गुरु अपने चेलों को जादू इसी जंगल में सिखाया करते थे। जब सारे देवता और मृतक जादू सीख चुके तो नंद राज ने अंतिम दिन इस जंगल में समारोह मनाया और उसने मुरगी तथा अंडे अपने देवता को भेंट किये। उस प्रसाद को गुरु ने सात हिस्सों में बांटा, क्योंकि सीखने वाले चेले सात थे। पर उसने देखा कि सात हिस्से आठ हिस्सों में बंट गए हैं। नंदराज ने सबको बुलाया और कहा-जाओ सारा जंगल खोजो, कहीं न कहीं कोई भूत, जानवर या मृत्युलोक का आदमी छिपा है। उसने हमारी विद्या सीख ली है। उसे ढूँढ़ो। सातों चेले खोजने के लिए निकल पड़े। उन्हें एक झाड़ की डाल पर यही चेलिक बैठा मिला। उसे पकड़कर वे गुरु के पास ले गए। गुरु नंदराज ने उस आदमी से कहा-देखो यह सब देवता ही हैं। तू ही एक आदमी है, जिसने हमारा जादू सीख लिया है। यह तूने बड़ी गलती की है और यदि अब तू कुछ भेंट नहीं देता तो तेरा सारा परिवार नष्ट हो जाएगा। उसने जब भेंट के बारे में पूछा तो नंदराज ने उसके इकलौते लड़के की बलि मांगी। नंदराज नहीं चाहते थे कि पृथ्वीचल का कोई वासी यह विद्या सीखे। इस तरह कि मांग करने से वह हिम्मत हार जाएगा और मक्ति की प्रार्थना करेगा। नंदराज को यह भी भय था कि वह दुनिया में जादू का उपयोग करेगा, जिस से कहीं मृत्यु नहीं होगी और दुनिया में सारे कष्ट नष्ट हो जाएंगे और जब आदमी ही नहीं मरेंगे तो देवता शासन किन पर करेंगे। पर चेलिक तो इस अमूल्य विद्या के लिए अड़ गया था। उसने अपने इकलौते लड़के की भी बलि दे दी। नंदराज ने उस लड़के का कलेजा सातों देवताओं और उस चेलिक को प्रसाद के रूप में बाँट

दिया। चेलिक ने जैसे ही उसे खाया, वह सारे भूत-प्रेतों का स्वामी हो गया। इस चेलिक की हम सब संतान हैं। सारी दुनिया में सबसे पहले जादू हमने सीखा है।"[14]

लोककथा में प्रचलित अपने पुरखों की समृद्धि जादू की कला में अभिवृद्धि का काम स्त्री द्वारा ही संभव हो पाता है। इस कला में दक्षता हासिल कर स्त्रियाँ सामाजिक प्रतिबंधों का प्रतिरोध भी दर्ज करती है। पुरुष द्वारा किए जानेवाले अत्याचार को भी जादू-टोना के माध्यम से ध्वंस करती है। यही ‘पठार पर कोहरा’ की नायिका रेगनी भी करती है।

इसी तरह विमुक्त आदिवासी समुदाय में भी अनेक लोक-कथाएँ प्रचलित हैं। ‘शैलूष’ में नटों तथा ‘अल्मा कबूतरी’ में कबूतरा जनजाति के बीच ऐसे कई प्रसंगों का वर्णन उपन्यास में हुआ है। नटों के घुमक्कड़ कबीलाई संस्कृति में नथिया कुलदेवी के रूप में मान गुरु देवता तुल्य हैं। इनके बीच नथिया बंजारन व मान गुरु के प्रेम और शौर्य की कथाएँ परंपरा से प्रचलित हैं-"कहा जाता है कि दिल्ली के सुलतानपुर के सैकड़ों पहलवानों को आसमान ताकने वाले मान से सुलतान ने इस्लाम स्वीकार करने को कहा। मानगुरू ने सुलतान को फटकार दिया, "तुम क्या सबको बड़ी नाल उठाने वाले, तुम्हारे सारे पहलवानों को चारों खाने चित्त करनेवाले से उम्मीद करते हो कि वह तुम्हारे टुकड़ों के लिए अपना धरम बेच देगा?" मानगुरू चुपचाप किसी से बताये बिना अपनी जन्म-भूमि बुंदेलखंड लौट आये। नथिया एक चंचल, शोख और शरारती युवती थी। मान जब उसकी झोंपड़ी के पास पहुँचा तो उसने कहा ‘क्यों री छोकरी, मुझे एक चुल्लू पानी मिलेगा’

‘क्या करके आ रही है तू? इतने बड़े मुलुक में डूब मरने के लिए तुझे एक चुल्लू भर पानी नहीं मिला?’ वह खिलखिलाई। ‘तूने मुरेठा तो ऐसा बाँधा है स्साले कि लगता है सुलतान का साला है, पर तेरे कंधे पर न तो गमछा है और न तो बदन पर साबुत कपड़ा।’

[14] जंगल के फूल-पृ.155-156

मान चुप रहा आज पहली बार उसके भीतर एक हलचल जगी। बचपन में उसने माँ ने एक गीत सुना था-'मैं बंजारिनि श्यामा की।' श्याम की ही क्यों, मान की क्यों नहीं?"

'क्यों रे छोकरी, सामने वाले पेड़ पर छुरा फेंकेगी? तू चुन ले, जो भी तुझे आता-जाता हो, मान उसी में तुझे आसमान तका सकता है।'

'जा, जा', नथिया खिलखिलाई और पहाड़ी वादी में घंटियाँ बजने लगीं।

नथिया को देखते ही हिंदुस्तान का सबसे बड़ा ताकतवर आदमी अपनी कुश्ती हार गया।

'ले, रोटी खा ले', नथिया बोली, 'स्साले अपने को नामी-गरामी पहलवान कहता है और बच्चे की तरह गूजड़ में छिपकर सोया है।' फिर घंटियों की खिलखिलाहट। नथिया अधजागे मान गुरू को उंगली से कोंच रही थी।

मान मन-ही-मन मगन था मगर दिखाने के लिए 'उंह्, उंहुक्' बोलकर करवट बदल लेता था। तभी नथिया उसके गूदड़ पर चढ़ गई, 'क्यों बे, जरा चेहरा तो बाहर कर, जरा सोन पहाड़ की हवा भी देख ले। कटारी है जाने मन, तूने महुवे के सफेद फूलों को खाया तो होगा, कभी सूंघा भी है?'

मान ने गूदड़ फेंककर नथिया को अंकवार में भर लिया, 'आठ घड़ी से डूब रहा हूँ महुवे के फूलों की महक में।' उसने नथिया को पकड़े-पकड़े गूदड़ ओढ़ लिया और दोनों चैली रात की अंजोरिया में नहाने लगे।

'देख, चान देख रहा है हमें' नथिया कुनमुनाई।

मान ने अपने और उसके सटे हुए होंठों को फिर गूदड़ से ढंक लिया। पलाश के फूल, झरबेरी की मादक गंध और करौंदा, माहुल, इंगौट के फूलों की खुशबू गर्म सांसों में डूब रही थी। सामने अंकवार में गबदू को कसकर लपेटे देउलदार की फूलों से लदी लता गंध भीर हवा से थरथरा रही थीं।

'नथिया!'

'हूँ'

'सुबह हो गई'

मुंह-हाथ धोकर सीकों की बनी उथली टोकरी को सिर पर रखे नथिया इठला रही थी।

कपरा प धइले छितनियां न हो महुली बीने जाय

महुली मदन रस टपके न हो जिअरा मारे हमार।

'क्यों बे, तू तो बांसुरी की तरह मन मिरग को घायल कर रहा है।'

'सच' मान ने नथिया को चूम लिया।

'हट!' वह लजाती हुई भागी। वे यानी मनु-सतरूपा, आदम-हौवा, नथिया-मान, मान-नथिया।"[15]

परंपरा से प्रचलित इस लोक-कथा में नट स्त्री-पुरुष के बीच स्वच्छंद प्रेम का वर्णन हुआ है। इस समुदाय में प्रेम को लेकर नैतिकता का बंधन सभ्य समाज की तरह नहीं है। सभ्य समाज की नज़र में जो समुदाय हेय का पात्र है उनमें भी प्रेम का ऐसा बंधन मुक्त सहज जीवन भी हो सकता है यह कल्पना से परे की बात लगती है।

6.4 लोक-गीत

आदिवासी लोक संस्कृति के विविध रूपों में लोक-गीत अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। लोक-संस्कृति के ज्ञान का प्रमुख साधन लोकगीत होते हैं। लोकगीत, लोक जीवनानुभूति (सुख-दुःख) का सरलतम प्रकाशन है। लुप्त होती भारतीय अस्मिता को आदिम समाज और प्राकृतिक उपादानों से उसके आपसी संबंधों में खोजा जा सकता है। उस रूप में आदिवासी लोकगीत इस देश की संस्कृति के वाहक हैं। आदिवासियों के लोक-गीतों की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए पंडित नेहरू ने कहा था-"आदिम समाज में लोक-गीत एवं नृत्य निकाल दिए जाएँ तो फिर इनकी संस्कृति एवं सभ्यता चार-दीवारी के बीच शहरी संस्कृति की तरह सिनेमा एवं होटलों के प्यालों में ही सीमित हो जाएगी और उनका जीवन शिथिलता तथा कृत्रिमता की ओर अग्रसर हो जाएगा।"[16]

---

[15] शैलूष-पृ.156

[16] संपादक रमणिकता गुप्ता, आदिवासी लोक-2, डॉ.हरिश्चंद्र रौत, आदिवासी लोकगीतों में मीडिया का प्रभाव-पृ.44

लोक-गीतों से आदिवासी जीवन का घनिष्ठ संबंध होने के कारण इनमें आदिवासी समाज और संस्कृति का प्राचीन गौरव का आदर्श प्रत्यक्ष रूप में व्यंजित होता है। आदिवासियों का गौरवपूर्ण इतिहास, उनकी सांस्कृतिक परंपराएँ, उनके देवी-देवताओं के प्रति आस्था, मेले-त्यौहार तथा पुत्र-जन्म, विवाह आदि उत्सवों पर उच्छलित भावावेग और विशेषकर स्त्रियों की पोशाकों व आभूषणों की झंकार सभी ने लोक-गीतों को जन्म देने में विशिष्टता उत्पन्न की है। आदिवासी क्षेत्रों में लोक-गीतों के अथाह अलिखित भंडार हैं। ये गीत परंपरा से चले आ रहे हैं व आज भी इनमें अजीब ताज़गी देखने को मिलती है। "आदिवासी लोक-गीतों के रचयिता अधिकतर अशिक्षित होते हुए भी समय एवं परिस्थितियों के अनुकूल विषय की बड़ी जबरदस्त पकड़ रखते हैं। आज़ादी के पूर्व के गीत विदेशी जातियों से संघर्ष एवं सामंती शोषण की गाथाओं पर आधारित वीर रस के ओज पूर्ण गीतों के दिग्दर्शन होते हैं...। प्राकृतिक प्रकोप, अकाल, कृषि, आखेट, मेले-त्यौहार, शादी-ब्याह जैसे अवसरों पर सतरंगी लोक-नृत्य के थिरकते पाँव गैर-धूमर नृत्य द्वारा सामाजिक जीवन में जान फूँकते हैं। प्रकृति ही लोक-गीतों की सृजन शक्ति एवं प्रेरणा स्रोत रही है।"[17] वहीं आजादी के बाद नयी सभ्यता के साथ संपर्क व व्यावसायिकता आदि का प्रभाव आदिवासी लोक-गीतों में शामिल होने लगे हैं। इस प्रकार आदिवासी के उपलब्ध सारे लोकगीत मानव-जीवन के विकास के विभिन्न स्तरों और सामाजिक विकास के विभिन्न सोपानों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही कारण है कि उनमें सर्वत्र स्वाभाविकता पाई जाती है। शास्त्रीयता के बंधनों से मुक्त इन गीतों में सौंदर्य तथा सत्यता के दर्शन होते हैं।

आदिवासियों ने जीवन की कठोरता को रसमय बनाने के लिए लोक-गीतों एवं लोक-नृत्यों का आश्रय लिया। राग, नृत्य और वाद्यवृंद के लय-ताल के अनुसरण पर अज्ञात लोक-कवियों द्वारा विचरित परंपरागत आदिवासी लोक-गीत विभिन्न प्रकार के होते हैं-

---

[17] डॉ.हरिश्चंद्र रौत, आदिवासी लोकगीतों में मीडिया का प्रभाव, आदिवासी लोक-2, संपादक रमणिकता गुप्ता-पृ.44

1) संस्कार संबंधी गीतःविवाह, मृत्यु

2) व्यवसाय संबंधी गीत-(कृषि, मदारी गीत)

3) आवसरिक गीतःदेवी-देवता, पौराणिक सिद्ध पुरुष के लिए, मेले, त्यौहार और व्रत संबंधी, आखेट, गुदना गोदने के अवसर पर

4) मनोरंजन संबंधी गीत

5) अन्य गीत-संयोग-वियोग गीत, वात्सल्य

विवाह संस्कार गीतः

मनुष्य के जीवन में विवाह सबसे महत्वपूर्ण संस्कारों में से एक माना जाता है। सभी समुदाय में विवाह के अपने-अपने बोली-बानी में हजारों गीत मौखिक परंपरा से आज तक गाये जाते हैं। विवाह संस्कार में गाये जानेवाले गीतों की दृष्टि 'जंगल के फूल' उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गोंड कन्या जलिया के विवाह के अवसर पर गाँव भर के चेलिक (लड़के) और मोटियारी (लड़कियाँ) गीत गाने लगते हैं-

"लयोर ततले मदा री सांगो।
मन्दो देरी कोकोती वाकोती सोयबाड़
(लड़के डगाल ला रहे हैं। शादी का खंभा एक झुकी हुई लड़की है।"[18])

विवाह की तैयारी हेतु काम करते हुए चेलिक और मोटियारी बीच-बीच में गीत गाना न भूलते हैं-

"बाले कुंवार पेकान दाइ
सुखुन दुखुन कोहावो दाइ
(अरी ओ, इस लड़की की माँ उसके सुख-दुःख भुला दो।"[19])

विवाह चूँकि मांगलिक बेला है, अतः इस शुभ अवसर पर इष्ट-मित्रों, संबंधियों एवं ग्रामीण लोगों द्वारा परस्पर हास-परिहास किया जाता है। घोटुल (युवागृह) के मित्रगण अपने किसी साथी के विवाह के अवसर पर उनसे परिहास

[18] जंगल के फूल-पृ.150
[19] जंगल के फूल-पृ.150

करने से कभी नहीं चूकते हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में सोमा की शादी के वक्त महुआ व विशेष रूप से जलिया परिहास करते हुए गाती हैं-

"बरग सरपार ते, उदीतन सिरदार,
... ...
सरपार ताहे हनद।
ताने इने पांयनदी,
अयो अयो इनद्
तुत ताने ओ नदी सेइदार
(सरदार सड़के के बीच क्यों बैठे हो? वह सड़क से आ रही है।
तुम उसे पकड़ लो।
कह कहेगी-नहीं, नहीं सिरदार।
तुम इसे खींचकर जंगल ले जाना।)"[20]

'शैलूष' उपन्यास में भी रूपा और मानिक की शादी के बाद नट कन्याओं द्वारा गाये जानेवाले लोक-गीत का वर्णन है-

"केकरा हि नदिया रे झिलमिल पनिया
आ रे केकरा हि नदिया सेवाल रे
केकरा हि नदिया चल्हवा मछलिया
कवन दुल्हा लावेला जाल रे
बाबा के नदिया लावेला जाल रे
बाबा के नदिया रे झिलमिल पनिया
भइया के नदिया सेवाल रे
ससुरु के नदिया के चल्हवा मछरिया
मानिक दुल्हा लावे महाजाल रे।"[21]

---

[20] जंगल के फूल-पृ.147
[21] शैलूष-पृ.259

विवाह संपन्न होने की बाद स्त्री के विदाई का दृश्य व विदाई से संबंधित लोकगीत समाज को भाव-विह्वल कर देते हैं। जिस परिवार व समाज में लड़की बचपन से पल-बढ़कर बड़ी होती है, शादी के बाद उसे अपने घर को अनायास रूप से छोड़ देना पड़ता है। घर के सदस्यों से लेकर समाज के लोगों से जो रागात्मक संबंध विकसित होने के कारण लड़की के विदा होते हुए कारुणिक स्वर में फूट पड़ता है। 'जंगल के फूल', 'पठार पर कोहरा' तथा 'शैलूष' आदि उपन्यासों में लड़की के विवाहोपरांत विदाई गीत का उल्लेख हुआ है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में रुदिया के विवाह के बाद औरतें विदाई का कारुणिक गीत गाती हैं-

"... जिस गाँव में तू जाएगी ओ धिया, सूखे वृक्ष पत्तों से लद जाएँगे! बाँझ औरतों की गोद भर उठेंगी। बूढ़ी गायों के थन से दूध टपकने लगेगा। जहाँ तेरे पाँव पड़ेंगे धिया, उजड़े गाँव आबाद हो जाएँगे। सेमल और कपास के बीज मोतियों में बदल जाएंगे।"[22] यह गीत परंपरागत लोक-गीतों से भिन्न है क्योंकि यह गद्य के रूप में है।

इसी उपन्यास में दूसरी तरफ मड़वे में लड़कियाँ कारुणिक स्वर में विदाई-गीत गाती हैं-

"केकर माथे लाल-सुन्नर पगड़ी
केकर हाथे लाल गेंदा फूल
ओ मैना रे,
मति जाबे दूर बिदेस...।"

(किसके सिर पर सुंदर लाल पगड़ी है? अर्थात्, दूल्हे के/किसके हाथ में गेंदे का लाल फूल है? अर्थात् दुल्हन के/ओ मेरी दुलारी मैना (बेटी), इस पगड़ी पर लुभाकर हमसे बहुत दूर परदेस न चली जाना।)"[23]

[22] पठार पर कोहरा-पृ.210
[23] पठार पर कोहरा-पृ.211

मृत्यु संबंधी गीत :

मृत्यु के समय गीत का गाया जाना कई बार अजीब लगता है। किंतु आदिवासी ही दुनिया में एकमात्र जमात हैं जिनके यहाँ जन्म से मृत्यु तक का क्रियाकलाप गीत व नृत्य से जुड़ा हुआ है। 'जंगल के फूल' उपन्यास में हिरमा की पत्नी सत्ताय के मरने पर एक विशेष प्रकार के कर्कश स्वर में ढोल बजाया जाता है ताकि गाँव भर के लोग मृत्यु क्रिया में शामिल हो सकें। मृतक का शरीर दफनाने पर्यंत औरतें बराबर गीत गाती रहती हैं-

"चोले दादरो रोले, अइ अइ अइ।
ओरु बोरु राजाल रे ए ए ए।
(भाइयों, आओ, यह कौन जा रहा है? इत्यादि।)"[24]

आदिवासी समाज में मृतक संस्कार की क्रिया सभ्य समाज से बिलकुल अलग है। मृतक को पास में दफनाने के पीछे इनका तर्क होता है कि धरती उर्वरा से युक्त हो सके और मृतक की स्मृति बराबर बनी रहे। जबकि हिंदू समाज शरीर को नश्वर मान कर जला देता है। साथ ही मरघट में आदिवासी स्त्री की उपस्थिति भी हिंदू धर्म के विपरीत है। दरअसल आदिवासी समुदाय अपने सभी क्रियाकलापों में स्त्री को शामिल करता है। अतः मृतक संस्कार में भी वह उपस्थित रहती है।

मृतक संस्कार के उपरांत ईसाई धर्म की भाँति आदिवासी समाज मृतक की याद में एक पत्थर दफनाने की जगह लगाता है। स्मारक के रूप में पत्थर पर कई तरह के चित्र, मृतक के जिंदगी से संबद्ध कुछ अच्छे कारनामों का भी जिक्र किया जाता है। स्मारक लगाने की प्रथा के समय नृत्य व गायन भी होता है-

"सोरा घारू धरती रोए देवता
नव खण्डू पिरथीर एले
सिंगार मालोर दिपू रोए देवा
दगाल हाय वालोर र एले।

[24] जंगल के फूल-पृ.108

(सोलह परत दुनिया, नौ परत धरती। मनुष्य के कल्याण की धरती है। यहाँ सब मरते हैं।")[25]

जो गोण्ड स्त्री सत्ताय जीवन पर्यंत समाज के लोगों से भर्त्सना सुनती रही मरने के बाद वही समाज (पुरुष-स्त्री) उसका स्वागत करने में लीन था।

व्यवसाय संबंधी गीत

<u>कृषि संबंधी गीत</u> :

भारत के आदिवासी भले ही विभिन्न क्षेत्रों में रहते हैं किंतु जंगल क्षेत्र प्रतिबंधित होने के उपरांत कृषि व्यवसाय ही उनकी जीविका का मुख्य स्रोत रह गया है। किसी भी कार्य विशेषकर कृषि से संबंधित आरंभ करने से पहले आदिवासी समुदाय पूजन (धार्मिक अनुष्ठान) की क्रिया अवश्य करता है। 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में भी कृषि कार्य आरंभ करने से पहले संथाल द्वारा 'जाहेर आया' (संतालों के कृषि देवता) के पूजन-पर्व 'असाढ़िया पूजा' का वर्णन है। असाढ़िया पूजा के संपन्न होते ही कृषक खेतों में हल-बैल लेकर निकल पड़ते हैं और धरती के उर्वरा होने के लिए बारिश की कामना करने लगते हैं-

(i) "धरती तांग तिस काबा
दत्ते धरती ओदा तिस ओदा
बादुर देन बादुर
बादुर अतान तेतांग लगाई SSS

(जब चाहती है धरती। प्यास हरना, तृप्त करना। तभी धरा पर बरसता है जल। बरसो माटी पर ओ बौछार! प्यास हरो औ बौछार!)"[26]

(ii) "अतांग दा-दिंग... धातिंग-धातिंग
धरती काएतम इंग
दात्ते तेतांग लगाई तिंग

---

[25] जंगल के फूल-पृ.109
[26] जो इतिहास में नहीं है-पृ.115

धरती अबोबा दा केतान मेना आ

दात्ते धरती ताबो सोना रे। SSS

(आह्वान करते हैं तुम्हारा। इस पवित्र धरा पर बरसो हे मेघ! प्यास हरो, तृप्त करो, ओ वर्षा के जल। धरती तैर रही है जल पर। पानी ही तो उगाता है माटी से सोना।)"[27]

दरअसल आदिवासी समाज में किसी भी कार्य का आरंभ एक पर्व जैसा ही होता है। अतः कृषि संबंधी हरेक कार्य का आरंभ एक पर्व के रूप में मनाया जाता है। आदिवासी उपन्यासकार पीटर पौल एक्का के लघु उपन्यास 'जंगल के फूल' में 'कादलेटा' उत्सव के साथ धान की रोपाई शुरू करने का वर्णन किया गया है। गाँव में रोपा का उद्घाटन विधि पहान द्वारा विधिवत पूरा किया जाता है। इस अवसर पर गाँव की लड़कियाँ-औरतें सज-धज कर आती हैं। उद्घाटन विधि खत्म होते ही औरतें, युवतियाँ बीड़ा उखाड़ने में लग जाती हैं। उनके मुख से आनेवाले गीतों की बेहिसाब कड़ियाँ खुद-ब-खुद निकलने लगती हैं। रोपा करती गाँव की अल्हड़ बालाएँ एक कतार में बेहद खूबसूरत लगती हैं। युवतियों की टोली गीतों की कड़ियों में खोयी, रिमझिम बारिश में अनंत-आकाश के नीचे पहाड़ियों से घिरे खेतों में रोप करते किसी तिलस्मी दुनिया की परियाँ जैसी लगने लगती हैं-

"रसा-रसा चेप पुंइयी

है रे भयासिन एरा हूँ पोल्लोन।

पइरी बरी चेप पुंइयी

हैं रे भइयासिन-चिन्हा दूँ पोल्लेन।।

(रसा-रसा कर बारिश हो रही है,

हैं रे, मैं अपने भाई को देख भी नहीं सकती हूँ।

सबेरे से बारिश हो रही है,

हैं रे, मैं अपने भाई को पहचान भी नहीं सकती हूँ।)"[28]

---

[27] जो इतिहास में नहीं है-पृ.116

[28] जंगल के गीत-पृ.107

इसी तरह 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में मुण्डा स्त्रियों द्वारा रोपनी के गीतों का जिक्र हुआ है। बारिश हो रही है सावन-भादों के मौसम में स्त्रियों द्वारा गाये जानेवाले गीत अजीब तरह के सम्मोहन राग उपस्थित कर देते हैं-

"बिर तबु चब तन
ओते तबु पीड़ि तन
दारु बु रोवाया
सादी... सादी...
उली कण्टड़ कुद बारु
मु दू हंस, जोतो दारु
दारु बू रोवाया...

(जंगल खत्म हो रहा है। धरती बंजर हो रही है। अतः गाछ रोपेंगे। टाँड़ के आड़ में रोपेंगे। कतार-कतार। आम, कटहल, जामुन, कुसुम, फरसा, पीपल आदि-आदि। गाछ रोपेंगे...)"[29]

'जंगल के फूल' उपन्यास में गोंड द्वारा अस्थाई खेती करने के तरीकों का वर्णन है। प्राचीन काल से गोंडों द्वारा की जा रही इस प्रकार की खेती में स्त्री श्रम की निर्णायक भूमिका रही है। बल्कि जमीन को खेती लायक तैयार करने में स्त्रियाँ पूर्ण रूपेण सहयोग देती हैं। सर्वप्रथम खेती करने लायक जमीन को आग लगा दी जाती है फिर अधजली डगारें बाहर फेंककर एक औजार से खेत में राख फैलाया जाता है। फिर हल्का-हल्का पानी राख से सींचा जाता है। इस तरह का काम मोटियारियाँ (लड़कियाँ) करती हैं और श्रम परिहार हेतु गाना भी गाती हैं-

"विरपोंडी पन्डो रोमो रोमो
कोरक पहची वायकम सांगो
मिया वाय वाय पचतोरम सांगो
कोरक हाह वायकम सांगो

[29] पठार पर कोहरा-पृ.224-225

मिया वाय वाय हायतोरर सांगो
हुर्री तासी वायकम सांगो
मिया वाय वाय हुर्री तसतोरम सांगो।
(विरपोंडी के जंगल में रोमो की पहाड़ी है।
हम वहाँ झाड़ की डगालें काटने आएँगे।
तुम्हारे आने के पहले, हम डगालें काट डालेंगे।
हम डगालों को मैदान में फैलाने के लिए आएँगे।
तुम्हारे आने के पहले, हम डगालें मैदान में फैला देंगे।
हम डगालों में आग लगाने आएँगे।
तुम्हारे आने के पहले, हम उनमें आग लगा देंगे।)"[30]

आवसरिक गीतः

देवी-देवताओं के गीत :

'शैलूष' उपन्यास में नट समुदाय द्वारा कुलदेवी नथिया की पूजा का वर्णन हुआ है। सब तरह के विधि-विधान के साथ नथिया देवी का पूजन होने के समय जुड़ावन कबीले की औरतें और छोकरियाँ जुबेदा और ताहिरा के साथ स्वर में स्वर मिलाकर गाती हैं-

"कंवरु देसवा से चलेली भगवती पहुँचे ली मलिया अवास हो
किया मोर सेवक बाँधे देव घरवा किया जोहे बटिया हमार हो।
जागु जागु नथिया जागु बनजारिन पुखो हमारी आस हो
आजु कि भीर पड़ल सेवकन पर रच्छा करो रच्छा करो मातु हो।"[31]

पौराणिक, सिद्ध पुरुषों के गीत :

आदिवासी समाज के दुःख-दर्द को समझने व उन्हें दूर करने के लिए अनेक ऐतिहासिक एवं पौराणिक चरित्र किंवदंती के रूप में प्रसिद्ध हैं। अवसर व समय के अनुरूप आदिवासी लोग इन्हें स्मरण कर ऊर्जा पाते हैं। 'बाजत अनहत ढोल'

---

30 जंगल के फूल-पृ.56
31 शैलूष-पृ.131-132

उपन्यास में महाजन व अंग्रेज़ों के शोषण से मुक्ति हेतु संताल व अन्य लोग सिदो, कान्हु, चाँद और भैरव को याद करते हैं। इन आदिवासी नायकों को याद करते हुए संताल स्त्री महुआ गीत गाती हैं-

"सिदो-कान्टु खुड़खुड़ी मितोरे
चाँद-भैरो घोड़ा चुपोरे,
देखो रे, चाँद रे, भैरो रे
घोड़ा भैरो, मुलिने-मुलिने।"[32]

इसी तरह के गीत हिंदी में बिरसा भगवान की याद करते हुए 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में उल्लेख हुआ है।

<u>मेले, पर्व, त्यौहार और व्रत संबंधी गीत</u>ः

मेला, पर्व-त्यौहार व व्रत आदिवासी जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आदिवासी अत्यन्त परिश्रम करके कठिन जीवन बिताते हैं अतः मेलों, पर्व-त्यौहारों में कुछ अपने लिए समय निकालते हैं। ये सब उनके कठिन दुःसाध्य जीवन में उमंग, उल्लास भरते हैं। आदिवासियों में प्रत्येक पर्व के संदर्भ में अलग-अलग गीत होते हैं। 'जंगल के गीत' उपन्यास में करमा पर्व 'जंगल के फूल' में 'चैत परब' व 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में सरहुल व करमा एवं सरहुल पर्व के संदर्भ-गीत का उल्लेख हुआ है। आदिवासी उपन्यासकार पीटर पौल एक्का ने 'जंगल के गीत' उपन्यास के आरंभ में ही सरहुल पर्व के अवसर 'उराँव' आदिवासियों द्वारा गाये जाने वाले गीत का जिक्र किया है-

"खद्दी गे झंडा गड़डेरा
गुचाय कोय डिंडा पेलो
बेचागे कालोत।
पइरी बारी झंडा गडडेरा
गुचाय कोय डिंडा पेलो

---

[32] बाजत अनहद ढोल-पृ.81-82

बेचागे कालोत।

(खद्दी के लिए झंडा गाड़ा गया है

ऐ कुँवारी लड़कियों चलो नाचने के लिए।।

सुबह से झंडा गाड़ा गया है,

ऐ कुंवारी लड़कियों चलो नाचने के लिए।)"[33]

उराँव बोली में खद्दी सरहुल को कहते हैं।

इसी उपन्यास में करमा पर्व के संदर्भ में गाये जानेवाले गीत का उल्लेख हुआ है-

"गुचा भइया रे खेल ओधरा

गुचा बरा रे करम तारा कालोत रे।

पुतवारी भइया खेल ओधरा

गुचा बारा रे करम तारा कालोत रे।

(चलो रे भाइया मांदर निकालो

आओ चलें करम काटने जायें।।

साँझ को भैया मांदर निकालो

आओ चलें करम काटने जायें।।)"[34]

'जंगल के गीत' व 'पठार पर कोहरा' दोनों उपन्यास में करमा पर्व के संदर्भ में गीत के साथ करमादेव का विदाई गीत का भी जिक्र हुआ है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में करमादेव का विदाई-गीत काफी मार्मिक है-

"सबकारो घरे आइत माँदर बजाय

मोर घारे सुना चेले रेSSS

मोर साइयाँ गेल परादेस

मोरा घारे सुना चेल रेSSS

करम कहाल गे सँवारो

---

[33] जंगल के गीत-पृ.1

[34] जंगल के गीत-पृ.51

करमा के दिन कैसे आवय रे SSS

करमा का तरे-तरे जला भरी फूल रे

डाला भरी बाती बराय रे SSS

(सबके घर आज माँदल बज रही है पर मेरा घर सूना है। पति गया है परदेस। अगले करमा में सइयाँ आनेवाला है। जल्दी अगला करमा आवे। घर की उदासी टूटे। करम की डाली को सींचूँ। टोकरी भर दीये जलाऊँ।)"[35]

आखेट के अवसर पर गीत :

आदिवासियों द्वारा प्रतिवर्ष आखेट करने की प्रथा है जिसे 'फग्गू सेंद्रा' के नाम से जाना जाता है। शिकार पर जाने से पहले गाँव का पहान आखेट देवता को बलि चढ़ाता है। सजी-सँवरी युवतियाँ युवकों को फग्गू सेंद्रा में भेजकर अखाड़े में परस्पर नाचते-गाते हुए शिकार में सफल होकर लौटने की कामना करती हैं-

"सेंदेरा कायद भइया, करेगा कादय

मझी-मझी भइया अमके मना, भइया रे मोरा, एकेसन रअदय।

तीर दिम लग्गो भइया, बंदुक दिम लग्गो,

मझी-मझी भइया अमके मना, भइया रे मोरा, एकेसन रअदय।।

(शिकार खेलने जाते हो भैया, पहाड़ जाते हो

बीच-बीच में मत रहना, भैया मेरे कहाँ हो।

तीर लगेगा भैया बंदूक लगेगा

बीच-बीच में रहना, भैया कहाँ हो!)"[36]

इसी तरह शिकार के प्रसंग में लोक-गीतों का उल्लेख 'पठार पर कोहरा', 'जंगल के फूल' उपन्यास में भी हुआ है।

गुदना गुदाने के अवसर पर गीत :

गुदना गुदवाने की प्रथा आदिवासी स्त्रियों में बहुप्रचलित है। यह स्त्रियों के सुंदरता का पैमाना माना जाता है। गोंड समाज की मान्यता है कि लड़कियों के गुदना

---

[35] पठार पर कोहरा-पृ.224

[36] जंगल के फूल-पृ.126

गुदवाने से उन्हें दुनिया-भर के प्रेमी प्यार करेंगे तथा साथ ही गुदने ही उसे नरक की यातना से मुक्ति प्रदान करेगा। बचपन से गुदने गुदाने का जो क्रम चलता है फिर चलता ही जाता है। देह में जितने ज्यादा गुदने होंगे, वह उतनी ही सुंदर मानी जायेगी। अतः शरीर गुदाना जरूरी है। ओझा द्वारा लड़की का शरीर गोदते वक्त उसकी सखियाँ (मोटियारियाँ) गीत गाती हैं-

"अरजी बिनती माँ हमारा,
उस दिन की बचन तुमारा
सूजी की झार उतारा।

(हे माँ, हमारी प्रार्थना सुन लो। उस दिन तुमने वचन दिया था। सूजी की जलन उतार दो।)"[37]

गुदना गुदाने के वक्त दर्द के बावजूद भावी सुख की कल्पना युवतियों में खुशी का संचार कर देती है। अधिकांश गुदना प्रकृति से संबंधित उपमानों के होते हैं।

6.5 लोक-नृत्य

हिंदी आदिवासी साहित्य में अनेक लोक-नृत्यों का चित्रण हुआ है। अधिकांश जगह जहाँ पर भी नृत्य का वर्णन है वहाँ गीत भी हैं। नृत्य व गीत आदिवासी समाज में एक दूसरे से गहरे स्तर पर जुड़े होते हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नही की जा सकती है। दिन के कठोर श्रम से मुक्ति हेतु नृत्य व गीत का सहारा लेते हैं। 'जंगल के फूल', 'जंगल के गीत', 'जंगल के आसपास', 'सूरज किरण की छाँव', 'शैलूष', 'पठार पर कोहरा', 'कचनार', 'सागर लहरें और मनुष्य', 'जो इतिहास में नहीं है' सहित अनेक उपन्यासों में लोक-नृत्य का बेहद सजीव चित्रण हुआ है।

मंजु ज्योत्सना की कहानी-संग्रह 'जग गयी जमीन' में 'प्रायश्चित' कहानी में कई लोक-नृत्यों का उल्लेख हुआ। कहानी का मुख्य पात्र डोमना का पूरा परिवार लोकगीत, लोकनृत्य, लोकवाद्य में पारंगत दिखाई देता है। डूमर, डोमकच जैसे

---

[37] जंगल के फूल-पृ.134

लोकनृत्य से समृद्ध यह परिवार सीमित साधन के बावजूद खुश दिखाई देता है। हर माता-पिता लोककला के ज्ञान को विरासत स्वरूप अपने बच्चों में प्रदान करते हैं-

"... डोमना को देखने से लगता था जैसे उसे अपने पिता और माता दोनों के गुण विरासत में मिले थे। यही नहीं उसका नृत्य भी अपूर्व था। लोकनृत्य-डूमर, डोमकच सभी कुछ। उसके कमर की लचक, देहयष्टि की गति देखते ही रह जाए। करमा और सरहुल में दस दिनों पूर्व से उनका पारिवारिक नृत्य-संगीत का यह कार्यक्रम चलता रहता। ... ढाक बजाते हुए जिस लय और लोच के साथ वह ढाक पर लकड़ी फेरता उससे उसके नृत्य और संगीत में कुशल होने तथा उसके भाव-विभोर होने का पता चलता था।"[38]

दरअसल वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने पूरी दुनिया में जिस तरह एक खास तरह की भोगवादी संस्कृति को जन्म दिया है, उससे स्थानीय लोक कलाओं के क्षरण का संकट लगातार बढ़ता जा रहा है। सरकार व राज्य की उदासीन रवैया लोक-कला के खात्मे में और भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है। वर्तमान में आदिवासी जमात के अस्तित्व पर गहराता संकट उन्हें भी लोक-कलाओं से दूर कर रहा है, वर्तमान में यह बेहद शोचनीय विषय है।

'जंगल के फूल' उपन्यास में भी लोक-नृत्य का वर्णन देखने को मिलता है। गाँव में रियासत का सबसे बड़ा साहब गोरा अफसर के आने पर गायता उनका सेवा-सत्कार करने के साथ मनोरंजन का साधन भी उपलब्ध कराता था। आदिवासियों को अंग्रेज़ अफसरों की कुदृष्टि से बचाने के लिए यह अनिवार्य हिस्सा था। इस उपन्यास में नर्तकों के वेशभूषा का भी वर्णन मिलता है-

"राज महल के सामने पचीस-तीस स्त्री-पुरुष आभूषणों से सजे खड़े थे। पुरुष सिर पर मोर-पंख और जंगली भैंसे के सींग बांधे थे। ... टेंडुर, निसार और किकिर भी बज उठे और जैसे ही बाँसुरी के सुरों ने हवा में लहराते झोंकों को पकड़ा, वह औरतों और मरदों की टोली झूम उठी। ... महुआ ने गीत पर जो पैंतरें

---

[38] डॉ.मंजु ज्योत्सना, प्रायश्चित (जग गयी जमीन-कहानी संग्रह)-पृ.6-7

दिखाए, उसकी लचीली कमर ने नागिन की तरह जितने रंग बदले, गीत की हर लय और तान के साथ उसने जो अंगड़ाई ली, गोरे अफसर की छाती में छुरी की तरह चुभ गई। नाले की तरह उचटती और हवा की तरह लहराती महुआ उस झुंड में अकेली दीख रही थी। ... आधी रात तक नाच-गाना होता रहा है।"[39]

आदिवासी उपन्यासकार हरिराम मीणा द्वारा विरचित 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में भी गेर नृत्य का उल्लेख हुआ है। यह नृत्य बनजारा समाज में होली के अवसर पर प्रस्तुत किया जाता है। सभ्य समाज में पुरुष के साथ स्त्रियों की भागीदारी हर कलाओं में देखने को नगण्य रूप से मिलती है जबकि सभी आदिवासी लोक-कलाओं में स्त्रियों की भागीदारी जीवन हिस्सा का सहज रूप रहा है। आदिवासी लोक समाज में विद्यमान अधिकांश लोक नृत्यों में पुरुष के साथ स्त्रियों की सक्रियता जरूरी है-"अब युवक-युवतियों का गीत व संगीत के साथ गेर नृत्य हुआ। नंदू सजा-धजा था। उसने हाथ में चाँदी का कड़ा पहन रखा था। कानों में भमरकड़ी। बदन पर पहनी हुई बंडी में पतरे की उंडिया। कमली भी दुल्हन की तरह सज-सँवर कर आमलिया पहुँची थी। उसकी कलाइयों में लाख की चूड़ियाँ व कुक्कड़ विलास के भोरिये थे। चाँदी का कंदोरा कमर में पहन रखा था। बाजुओं में झुमकेदार चाँदी के बाजूबंद थे। सिर पर चाँदी की राखड़ी गुँथी हुई थी। बालों की चोटी में काली फुंदा कमर तक झूल रहा था। उसने राता घाघरा व लाल छींटों वाली पीली ओढ़नी पहन रखी थी जिसका पल्लू कंधे पर लटका हुआ था। ... पून्यों की चाँदनी में खुले आसमान के नीचे गेर में भाग लेनेवाले सभी युवक व युवतियाँ इकदूजे का हाथ पकड़ कर खूब नाचे। असल रूप में तो केवल नन्दू व कमली ने एक दूसरे के हाथ थामे थे जिसका पता उन दोनों के अलावा केवल पानो को था।"[40]

नृत्य-संगीत कई बार वयस्क उम्र के युवक-युवती के बीच नेह संबंध विकसित करने का एक महत्वपूर्ण जरिया भी होता है। गेर नृत्य के समय परस्पर

[39] जंगल के फूल-पृ.18-19
[40] धूणी तपे तीर-पृ.322

आकर्षण में बँधे कमली व नन्दू को भी एक उचित अवसर प्राप्त होता है और उनका प्रेम क्रमशः प्रगाढ़ होता जाता है।

6.6 लोक-विश्वास

शगुन-अपशगुन (शुभ-अशुभ)

आदिवासियों में परंपरा के प्रति लगाव जग जाहिर है। ये लोग कोई भी महत्वपूर्ण कार्य करने से पहले शगुन-अपशगुन का विचार जरूर करते हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में कई जगह शगुन-अपशगुन का वर्णन है। गोंड आदिवासी शादी का भी सगुन करते हैं, यह उत्तरदायित्व गाँव के गेयता का होता है-

"गायता ने मिट्टी के बर्तन में पानी भरा। उसमें चावल के दो दाने डाले गए और सब लोग उन्हें देखते रहे। चावल के दोनों दाने यहाँ-वहाँ घूमते और चक्कर काटते अंत में एक साथ मिल गए।"[41]

अर्थात् चावलों के मिल जाने का अर्थ है-शादी सफल होगी।

इसी तरह उपन्यास के आरंभ व अंत में कई अशुभ संकेतों का उल्लेख हुआ है। नाच के दौरान मोर पंखों का गिर जाना भी गोंड लोग अपशकुन मानते हैं- "सुलक के सिर पर बंधे मोरपंखों में से एक पंख नीचे गिर पड़ा। उसे देखते ही सबके पैर अड़ गये। सुलक थोड़ी-देर तो उसे एकटक देखता रहा। फिर उसने पंख उठाया। उसे घोटुल की छत पर रख दिया। सबने लिंगों से प्रार्थना की-हे देवता, हम पर क्या अनर्थ आनेवाला है। हमारी रक्षा करो।

सारे चेलिक और मोटियारी नीचे बैठ गए। उनका उत्साह खो गया था। नाच में पंख का गिर जाना वज्र का टूटना है। सब चिंतित हो गए, न जाने अब कौन-सा पहाड़ टूटने वाला है।"[42]

दीवाली नाचने के बाद जब दल गाँव से लौटता है तो गेवड़ा पार करने के बाद किसी को पीछे लौटकर नहीं देखना चाहिए। लौटकर देखना अशुभ-सूचक माना

---

[41] जंगल के फूल-पृ.151
[42] जंगल के फूल-पृ.192

जाता है। झालर की प्रेमिका जलिया का अन्यत्र जगह किए विवाह हो जाता है। इसी बीच दूसरे गाँव से आई युवतियों में से कोसी का झालर नेह विकसित होता है, किंतु लौटते वक्त कोसी का पीछे देखना अशुभ संकेत माना गया है-"कोसी ने लौटकर झालर की ओर देखा। सुलक ने यह देखकर और भी चिंता प्रकट की। बोला-"एनदाना के समय पंख गिरा था और अब एक मोटियारी ने भी लौटकर हमें देखा है। ... इत्ते अशुभ हो जाएँ और वह उन्हें साधारण बात समझ ले।"[43]

'जंगल के फूल' उपन्यास के प्रारंभ में गाँव के गायता द्वारा अंग्रेज़ अफसर के आने पर अशुभ संकेत का उल्लेख हुआ है-

"मेरे ही लोन (घर) का किस्सा है, सिरकार। कोबेसाल (दो साल पहले) मिहरिया ने एक पेड़गी (लड़की) को जन्म दिगा। यह खबर बताने जब मेरी पेकी (जवान लड़की) बाहर आई, तो छानी पर उसने एक अरुआ (उल्लू) बैठा देखा। पेड़गी का जनम और अरुआ का सिर पर सवारी! कित्ता बड़ा अशुभ था यह! उसने अरुआ को मारने के लिए एक पथरा फेंका। उस पथरे को उठाकर अरुआ भाग गया और उसके बाद पेड़गी माटी-जैसी रोज़ घुलने लगी...। ... उस अरुआ ने वह पथरा पानी में भिगोकर किसी ऊँचे टिगस्ते पर रख दिया होगा। जैसे-जैसे पथरे का पानी सूखता गया, पेड़गी भी घुलती गई।"[44]

यहाँ लड़की के जन्म के समय उल्लू का दिखाई पड़ना गोंड समाज में बहुत ही अशुभ माना गया है।

योगेंद्रनाथ सिन्हा द्वारा रचित 'वन के मन में' उपन्यास में भी शगुन संबंधी आचार का उल्लेख हुआ। आदिवासी मजदूर आपसी वार्तालाप के दौरान समाज में हो रही घटनाओं का जिक्र करते हुए शादी के असफल होने में ठीक शगुन का न होना मानते हैं-

"अच्छा जंबीरा, तुम्हारे पड़ोस के सिदिउ हो का ब्याह ठीक हो गया था, गोनों (हो समाज में ब्याह के लिए वर-पक्ष की ओर से कन्या पक्ष को दहेज देना पड़ता है।

---

[43] जंगल के फूल-पृ.192
[44] जंगल के फूल-पृ.17

इसे पन भी कहते हैं) भी तय था और लड़की वाले गये भी थे गोनोहार (वह समारोह जिसमें कन्या-पक्ष के लोग लड़के के घर गोनों लाने के लिए जाते हैं) में, तब ब्याह कट क्यों गया? जंबीरा-ब्याह तो कटना ही था, काका बात यह हुई कि एरेउञ् (शकुन का विधिवत् विचार) खराब हो गया।

सोमप्पा-क्या खराबी आई?

जबीरा-लड़की के घर से सात चट्टु डियांग (चावल की बनी हल्के नशे वाली मदिरा। इसे 'हंडिया' भी कहते हैं। यह 'हो' समाज का प्रधान पेय है।) आई थी। सब कुछ ठीक था। किंतु जब से वे लोग अपनी यात्रा का वर्णन करने लगे तब हिसाब लगाने पर अपसगुन निकल गया। थोड़ा कुछ रहता तो पूजा-पाठ से कट भी जाता, लेकिन था बहुत खराब।

सोमप्पा ने उत्सुकता से पूछा-क्या था?

दल के स्त्री-पुरुष सभी का ध्यान इस ओर खिंच गया।

जंबीरा-गाँव से आधा मील ही लड़की के दलवाले चले थे कि कुत्ता सामने ही पैरों से जमीन खरोचता हुआ मिला। इसका अर्थ यह है कि कोई-न-कोई मरेगा और खोदकर गाड़ा जायेगा। खासकर जन्म होते ही बच्चे के मर जाने का भय है।

सोमपा-बस इतना ही?

जंबीरा-ना, इतने पर तो ब्याह न कटता, लेकिन फिर आगे चलकर उन लोगों ने देखा कि दाईं और दो गीदड़ आपस में लड़ रहे हैं।

सोमया-तब तो इसका भी अर्थ यही हुआ कि दोनों में कोई तरफ कोई न कोई मर जायेगा। ऐसी हालत में ब्याह कोई कैसे करता?"[45]

दरअसल 'हो' आदिवासी समाज में विवाह के सगुण के वक्त यात्रा में अशुभ संकेतों को देखकर भावी जीवन में अनिष्टता को भाँपकर विवाह को स्थगित कर दिया जाता है।

---

[45] वन के मन में-पृ.10-12

इसी तरह उपन्यास में ब्याह के सफल संपन्न होने के बावजूद आदिवासी स्त्री द्वारा पति को छोड़कर भाग जाने के कारण सगुण संकेत पर विचार न करने की भूल मानी गई-"जब लोग लड़के के घर गोनों लाने जा रहे थे, एक गाँव से पार होते समय सभी ने देखा कि सामने से ही चील एक मुरगी चेंगा को उठा ले गयी। इसका तो साफ अर्थ भगवान से ही दिखा हुआ है कि लड़की को कोई उठा ले जायेगा। मैंने एरेउञ् के समय खास आपत्ति नहीं की, मैं उनका अपना कुटुंब तो था नहीं। देखा, उन लोगों ने इस पर पूरा ध्यान नहीं दिया। लेकिन मैंने दोस्तों से कह रखा था कि क्या होनेवाला है और हुआ भी ठीक वही।

इस पर उस भागी हुई लड़की के प्रति मजदूर दल में सभी की सहानुभूति हो गई। दोष था सगुन न मानने का।"[46]

उपर्युक्त उद्धरण से साफ स्पष्ट है कि सगुण का विचार खास कुटुंब द्वारा ही किया जाता है साथ ही आदिवासी समाज में सगुण के प्रति दृढ़ धारणा के कारण ही पति को छोडकर भागी लड़की के प्रति भी सहानुभूति लोगों की हो जाती है। सभ्य समाज में इस तरह से भागी गई लड़की, समाज व परिवार के बीच उपेक्षा व तिरस्कार की शिकार होती है।

6.7 गुदना

पहले आदिवासी स्त्रियाँ अधिकार प्रकृति प्रदान चीज़ों का ही श्रृंगार करती थीं। लेकिन अब आभूषण भी पहनने लगी हैं। प्रकृति व आदमी के बनाये आभूषण के अतिरिक्त सारे आदिवासियों में शरीर गुदाने का रिवाज है। आदिवासियों का विश्वास है कि-"ये गोदने मरने के बाद भी साथ जाते हैं। कहते हैं, मरने के बाद गुदनों से स्वर्ग मिलने में सहायता मिलती है। युवक उनके सहारे ही आकर्षित होते हैं। गुदना गुदाने का काम बचपन से शुरू हो जाता है। शादी के पहले तक एक

[46] वन के मन में-पृ.13

लड़की का सारा शरीर गोद दिया जाना चाहिए। एक युवक का कहना है कि गुदना गुदी लड़की से प्रेम करने में धोखा नहीं है।"[47]

गुदना गोदने का काम ओझा स्त्रियाँ करती हैं। इस समय एक विशेष प्रकार का उत्सव होता है। सब लोग एकत्रित होते हैं और नाच-गाने के साथ लड़की का शरीर गोदा जाता है। इस वक्त युवती कष्ट के बवाजूद प्रेम की सहज कल्पनाओं से भर उठती है।

अधिकांशतः आदिवासी संस्कृति में आदिवासी स्त्रियों के शरीर पर गुदने का जिक्र मिलता है। हिंदी आदिवासी साहित्य में गुदने के प्रसंग का जिक्र अल्प मात्रा में ही हुआ है। इसका एकमात्र कारण यह रहा है बहुसंख्य लेखकों का आदिवासी समाज से रिश्ता दूर का रहा है। 'जंगल के फूल' व 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में आदिवासी स्त्री का गुदना के प्रति लगाव का वर्णन मिलता है। माड़िया गोंड स्त्रियों में गुदना सुंदरता का पैमाना माना जाता रहा है। अतः कष्ट के बावजूद गुदना के प्रति उनका लगाव जग जाहिर है। गाँव का ओझा शरीर गोदने का काम करते हैं-

"मत रो बेटी, ये गुदने तेरी सुंदरता में चार चाँद लगा देंगे। तुझे अच्छे से अच्छा प्रीतम मिलेगा। दुनिया-भर के चेलिक तुझे प्यार करेंगे, पर तू उनमें से सम्हलकर चुनाव करना। और मरने के बाद यही गुदने तुझे नरक की यातना से बचाएँगे। तब देवता तेरी छाती में भाला नहीं घुसेड़ेगा। ... इस दर्द और भावी सुख की कल्पना का जो एक मिश्रित अनुभव उसे रहा है, वही उसके चेहरे पर साफ दिखाई देता है। शरीर गुदाना जरूरी है। जिसकी देह में जितने ज्यादा गुदने होंगे, वह उतनी ही सुंदर होगी। बचपन से गुदने गुदाने का क्रम चलता है और फिर उसका अंत नहीं है, चलता ही जाता है।"[48]

इससे स्पष्ट है कि गुदने की संख्या सुंदरता का पैरामीटर है। बचपन से लेकर अंत तक गुदने गुदाने का क्रम आदिवासी स्त्री में चलता रहता है। गुदना मूल रूप से प्राकृतिक उपमानों से संबद्ध रहते हैं। यथा-मछली, शहद की मक्खी का छत्ता,

---

[47] हमारे आदिवासी, राजेंद्र अवस्थी-पृ.22

[48] जंगल के फूल-पृ.134-135

फूल, वाद्य-यंत्र आदि। गुदना गुदाने का ऐहिक एवं पारलौकिक दृष्टिकोण से अलग-अलग महत्व है। ऐहिक दृष्टिकोण से आदिवासी स्त्री को मनचाहा प्रेमी का प्यार मिलता है वहीं पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य को नारकीय जीवन से मुक्ति गुदना द्वारा ही मिलना संभव हो पाता है।

'पठार पर कोहरा' उपन्यास में मुण्डारी स्त्रियों के देह में गुदना का संकेत मिलता है-"संजीव ने स्त्रियों के ललाट, भौहों के मध्य, ठुड्डी, कपोलों, गरदन, छाती, बाहों, हाथों यहाँ तक कि पैरों की उँगलियों तक गोदने गुदे देखे।"[49]

आदिवासी स्त्री के शरीर में गुदने की अधिकता आदिवासी संस्कृति का एक अभिन्न हिसा है।

कहानी विधा के अंतर्गत भी आदिवासी स्त्री के गुदने के प्रति लगाव का जिक्र हुआ है, किंतु विधागत सीमा के कारण यहाँ विस्तार न मिल पाया है। पीटर पॉल एक्का के कहानी 'राजकुमारों के देश में' में आदिवासी स्त्री के शरीर में गोदना का उल्लेख है-"... पूरे साँवले तन में गोदना गुदा था। कितनी प्यारी, अच्छी लगी थी।"[50]

गोदना सुंदरता के साथ पुरुषों के आकर्षण का केंद्र भी है। युवा आदिवासी पुरुष युवती के शरीर पर अंकित गुदने के प्रति सम्मोहित होता है।

किंतु समय के साथ आये बदलावों के कारण आदिवासी स्त्री का गुदने के प्रति आकर्षण धीरे-धीरे खत्म होने लगता है। आधुनिकता, शहरीकरण आदि के प्रभाव स्वरूप इनमें गुदने का रिवाज सभ्य समाज के अनुकरण के फलस्वरूप नष्ट होता जा रहा है। गुदने को ये हीनता की ग्रंथि के रूप में देखते हैं। आदिवासी कहानीकार कोमल के कहानी 'पहचान' में आदिवासी स्त्री के पहचान के रूप गुदने की अनुपस्थिति का जिक्र है, यह गाँव के मुखिया को हैरत में डाल देने वाला है। "जी, मैं आदिवासी ही हूँ।" युवती ने कुछ संकोच के साथ कहा।

---

[49] पठार पर कोहरा-पृ.57

[50] राजकुमारों के देश में (राजकुमारों के देश में-कहानी संग्रह)-पृ.2

"आदिवाासी हो तो तुम्हारे हाथों में 'गोदना' कहाँ?" [51]

दरअसल सभ्य समाज अभी भी आदिवासी समाज को परंपरित उपमानों के रूप में पहचानता है। अतः पढ़ी-लिखी आदिवासी युवती के द्वारा पहचान-पत्र बनवाने के लिए आवेदन पत्र लिखने पर गाँव का मुखिया युवती को आदिवासी पहचान के रूप में गुदने को दिखाने की माँग करता है।

6.9 आखेटन

आखेटन की प्रवृत्ति आदिवासी समाज का प्रमुख अंग रहा है। आखेट आदिवासी जीवन-संस्कृति का अनिवार्य हिस्सा है। आखेट को यहाँ त्यौहार के रूप में मनाया जाता है। मारियागोंड प्रतिवर्ष इस त्यौहार को मनाते हैं वहीं उराँव बारह साल में एक बार इस पर्व को मनाते हैं। आखेटन के कार्य में मूल रूप से पुरुष की ही सहभागिता होती है किंतु स्त्रियाँ, पुरुषों को शिकार पर भेजने का कार्य उल्लास व हर्ष के रूप में करती हैं। जो पुरुष आखेट में जितना निपुण होता है स्त्रियाँ उसका उतना ही आदर करती हैं। शिकार पर गये पुरुषों का खाली हाथ लौटना अपशगुन माना जाता है तथा स्त्रियाँ उन्हें हेय दृष्टि से देखती हैं। अधिकांश हिंदी आदिवासी साहित्य में पुरुषों के आखेट का विस्तृत वर्णन मिलता है किंतु कतिपय स्थल पर आदिवासी स्त्री के आखेट रूप का भी रोचक चित्रण हुआ है। इस दृष्टि से 'पठार पर कोहरा' उपन्यास महत्वपूर्ण है-

"आदिवासी समाज में हर बारहवें वर्ष आयोजित होता है 'जनीशिकार' का कार्यक्रम। उराँव समाज की सिनगी दाई और कैली दाई-दो वीर स्त्रियों की स्मृति को सुरक्षित रखने और अपनी महिलाओं के मर्दाने साहस के साथ मर्दों से जूझने के इतिहास को संरक्षित रखने का त्योहार है-'जनीशिकार'। शिकार का ऐसा आयोजन जिसमें जनानियाँ मर्दों का वेष धारण कर शिकार पर निकलती हैं। साथ कोई पुरुष नहीं होता।"[52]

---

[51] पहचान (आदिवासी स्वर औरनयी शताब्दी-सं.रमणिका गुप्ता)-पृ.148

[52] पठार पर कोहरा-पृ.56

जनीशिकार मूलतः उराँव स्त्रियों के परंपरागत शौर्य का प्रतीक है। मुगल काल में रोहतास के किले पर मुस्लिम आक्रांओं का प्रतिकार करते उराँव स्त्रियों ने अपने वंशवृक्ष को नष्ट होने से बचाया था। अतः रोहतास गढ़ की पराजय के प्रतिकार का पर्व है-जनीशिकार। प्रतीक स्वरूप मनाये जानेवाले इस आखेट पर्व का उल्लेख राकेश कुमार सिंह ने अपने चर्चित उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में किया है-"सिनगरी देई, कइली देई और चम्पू देई नहीं रहीं तो उराँव समाज की स्त्रियों ने उन तीन सरदारिनों की स्मृति को अमरस्त प्रदान कर डाला। गोदने की तीन बिन्दियाँ धारण करने की परंपरा डाली उराँव स्त्रियों ने। रोहतास गढ़ की पराजय के प्रतिकार का पर्व मनाया जाने लगा। प्रतीक पर्व 'जनीशिकार'। अब आखेट पर्व-'जनीशिकार'।"[53]

6.8 युवागृह

संसार के प्रायः सभी भागों में साक्षरता पूर्व समाजों में युवागृहों का प्रचलन पाया गया है। युवागृह आदिवासी की सामाजिक संरचना की एक प्रमुख और विलक्षण विशेषता है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। आदिवासियों में अविवाहित युवकों एवं युवतियों के लिए अलग-अलग (एकलिंगी) अथवा मिश्रित (उभयलिंगी) निवास स्थान होते हैं जिन्हें हम युवागृह कह सकते हैं। भिन्न-भिन्न बोलियों के कारण आदिवासियों में युवागृह को अनेक नाम से पुकारा जाता है। प्रायः विद्वान भारत के आदिवासियों प्रचलित युवागृह को रुमानी, कामुक व दूषित तरीके से अंकित करते हैं। विश्व की अनेक आदिवासियों में युवागृहों का प्रचलन आज भी देखने को मिलता है।

'मुण्डा' तथा 'हो' आदिवासियों में इन्हें 'गिटिओरा' (Gitiora) ओराँव में 'घुमुकुड़िया' अथवा 'जोन्करया', गोंड में 'घोटुल' आदि नामों से जाना जाता है। आसाम के कोंयाक नागा लड़कों के युवागृह को 'मोरुंग' या 'बान' और लड़कियों

---

[53] जो इतिहास में नहीं है-पृ.31

के युवागृह को 'यो' कहते हैं। उत्तरी उत्तर प्रदेश के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया लोग इसे 'रंगाँग' या रंग-बंग कहते हैं।

युवागृह की उत्पत्ति का प्रश्न विद्वानों के विचार परस्पर विरोधी रहे हैं। हड्सन का विश्वास है कि "ये सामुदायिक गृहों के अवशेष हैं जो गुहों के विकास का प्रथम चरण था और जब संपूर्ण गाँव के लोग मिलकर एक साथ रहते थे।"[54] मानवशास्त्री शेक्सपीयर की कल्पना के अनुसार-"आदिवासियों में स्त्री-पुरुष संभोग करने के लिए एकांतर चाहते थे, इस काम के लिए अपने युवा बच्चों को कहीं टाल देना चाहते थे, इस उद्देश्य से 'शयनागार' निर्मित किये गये थे।"[55] मजूमदार के मतानुसार-"युवा गृह का जन्म वन के हिंसक जंतुओं से समाज के असशक्त व्यक्तियों की रक्षा हेतु हुई। इससे अन्य जातियों द्वारा ग्रामी युवतियों की चोरी का भय नहीं रहता था। इसके अलावा कालांतर में युवागृह की उत्पत्ति का कारण मकानों की सामूहिक जीवन का आनंद तथा जातीय जीवन का विकास भी था।"[56]

इस प्रकार आदिवासियों में अनुशासन, सामाजिक एवं धार्मिक कार्य और कर्तव्य तथा पास्परिक उत्तरदायित्व के संबंध में समाज के बालक और बालिकाओं को शिक्षा देने के उद्देश्य से ही इन युवा-गृहों की स्थापना हुई है। चूँकि आधुनिक समाजों की भाँति आदिम समाजों में भी बच्चों को शिक्षित करने का कोई अन्य संगठित संस्था का नितांत अभाव रहा है। ऐसी अवस्था में युवा-गृहों के माध्यम से इस उद्देश्य की पूर्ति करने हेतु ही उसकी स्थापना की गई।

जहाँ भी युवागृह होता है, वहाँ बालकों तथा बालिकाओं को उसका सदस्य बनना आवश्यक है। विभिन्न आदिवासियों में इसमें प्रवेश की आयु अलग-अलग होती है किंतु सामान्य रूप से औसत आयु लगभग दस वर्ष होती है तथा इसकी सदस्यता सदस्य के विवाहित होने तक चलती है। मनोरंजनात्मक क्रियाओं के अतिरिक्त इसके सदस्य अधिकारी के नेतृत्व में अनेक सामूहिक कार्यक्रमों में

---

[54] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत-पृ.79

[55] डॉ.वी.बी.सिंह, जनजातियों का समाजशास्त्र-पृ.123

[56] विजय शंकर उपाध्याय/विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति-पृ.123

सहायता करते हैं। जैसे-विवाह में कार्य करना, गृह निर्माण अथवा फसल तैयार कराना। युवागृह में प्रदान किया जानेवाला सामाजिक तथा यौन संबंधी प्रशिक्षण सदस्य के आनेवाले वैवाहिक जीवन में बहुत निर्णायक सिद्ध होता है। प्रेम के पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए भी इन गृहों में पर्याप्त अवसर प्राप्त हो जाता है।

उसके सदस्य दिन में अपने परिवार के लोगों के साथ रहते हैं किंतु सायं का भोजन करने के पश्चात् अपने युवागृहों की ओर चले जाते हैं। अधिकतर युवागृह ग्राम के बाहरी छोर पर बने होते हैं ताकि उनके सदस्य गोपनीयता कायम रख सकें तथा बिना किसी बाधा के अपनी क्रियाएँ संपन्न कर सकें। अजीब बात यह है कि संसार के सर्वाधिक विकसित समाजों में भी इस प्रकार के संस्थागत प्रशिक्षण का अभाव पाया जाता है।

इस प्रकार संयुक्त आर्थिक एवं धार्मिक कार्यों में भागीदारी, सामाजिक तथा यौन व्यवहारों में तथा आवास के प्रावधान में 'युवागृह' की महत्वपूर्ण एवं निर्णायक भूमिका है। किंतु खेद की बात यह है कि सभ्य समाज के संपर्क में आने के फलस्वरूप और अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण आदिवासियों में इस संस्था के प्रति उदासीनता व घृणा की भावना पनप रही है जिसके कारण आज दिन-प्रतिदिन इस महत्वपूर्ण संस्था का पतन होता जा रहा है।

निष्कर्ष

इस अध्याय के अंतर्गत आदिवासी स्त्री के लोक-संस्कृति से जुड़े विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है जिनमें प्रमुख हैं-लोक-कथा, लोक-गीत, लोक-नृत्य, लोक-विश्वास, पर्व-त्यौहार, प्रकृति-प्रेम, युवा-गृह, आखेटन, गुदना आदि। दरअसल आदिवासी समाज में पशु, प्रकृति, मनुष्य आदि से संबंधित चीज़ों की उत्पत्ति कथाएँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं वरन् परंपरागत रूप से चले आ रहे मान्यताओं व किंवदंतियों के रूप में प्रचलित हैं। ये कथाएँ आदिवासियों के वैभव-पूर्व अतीत का जिक्र करते हैं वहीं छले गए जीवन दंश का भी। लोक-कथाएँ भी किस प्रकार स्त्री की छवि को विकृत करने में निर्णायक भूमिका निभाती रही हैं इसका

सशक्त उदाहरण है 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में असुर स्त्री का भूत-पिशाच आदि के रूप में वर्णन। आदिवासियों ने जीवन की कठोरता को रसमय बनाने के लिए लोक-गीतों एवं लोक-नृत्यों का आश्रय लिया। विविध राग, नृत्य और वाद्ययंत्र के लय-ताल के अनुसरण पर अज्ञात लोक-कवियों द्वारा विरचित लोक-गीत आज भी परंपरा से जुड़कर उनके जीवन को गतिशील बनाए हुए है। सभ्य समाज की स्त्रियों की बनिस्पत आदिवासी स्त्री गीत व नृत्य में स्वच्छंद होकर सम्मिलित होती हैं। जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत गाने का रिवाज इस समाज की अपनी विशेषता है। विज्ञान की तमाम प्रगति के बावजूद आदिवासी समाज के जीने के अपने नियम हैं। इस समाज में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य आरंभ करने से पहले शगुन-अपशगुन का विचार जरूर किया जाता है ताकि भविष्य में कोई संकट न हो। हिंदू संस्कृति के संपर्क से आदिवासियों में भी शगुन-अपशगुन जैसे चिंतन होने लगे। गुदना गुदाने का रिवाज आदिवासी स्त्री में विशेष रूप से प्रचलित है। यह एक तरह का अंधविश्वास भी है। गुदना यहाँ स्त्री के सुंदरता के प्रतीक होने के साथ नरक से मुक्ति का साधन भी माना जाता है।

* * *

सप्तम अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री: अभिव्यक्ति के विविध आयाम

7.1 हिंदी आदिवासी साहित्य का कथ्य

7.2 वातावरण या परिवेश निर्माण की भाषा

7.3 वार्तालाप की भाषा

7.4 हिंदी के आदिवासी साहित्य का भाषिक स्वरूप

7.4.1 वर्णन की भाषा

7.4.2 प्रकृति-चित्रण

7.4.3 चरित्र चित्रण की भाषा

7.4.4 मिथक (पुराकथाएँ)

7.5 आदिवासी भाषाओं का अस्तित्व संकट

7.6 आदिवासी व गैर आदिवासी रचनाकारों की दृष्टि में आदिवासी स्त्री की छवि

सप्तम अध्याय

हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री : अभिव्यक्ति के विविध आयाम

मनुष्य एक चेतनशील प्राणी है। मानवेतर प्राणी जहाँ अपने आपको जैविक धरातल पर सीमित रखते हैं, वहीं मनुष्य इसका विस्तार करता है। जैविकता से ऊपर उठकर चिंतन-मनन की प्रवृत्ति ही उसे अन्य प्राणियों से विशिष्ट बनाता है। यह विशिष्टता ही उसे सर्जनशील बनने की दिशा में उन्मुख करता है। मनुष्य की सर्जनात्मकता इस मायने में महत्वपूर्ण है कि वह अपने को अभिव्यक्त करना चाहता है। यह अभिव्यक्ति साहित्य, कला, संस्कृति आदि विविध स्तरों पर होती है। साहित्य के संदर्भ में अभिव्यक्ति को अक्सर यांत्रिक प्रविधि मान ली जाती है। किंतु अभिव्यक्ति में सिर्फ भाषिक चिह्न ही नहीं वरन् मनुष्य जीवन के संकट भी मौजूद होते हैं। संकट के बिंदु की तलाश एवं समाधान की संभावना साहित्यिक अभिव्यक्ति के महत्वपूर्ण उपादान हो सकते हैं। अभिव्यक्ति के धरातल पर हिंदी आदिवासी साहित्य को निम्न बिंदुओं पर रेखांकित करना अपेक्षित है-

7.1 हिंदी आदिवासी साहित्य का कथ्य

हिंदी के आदिवासी साहित्य का कथ्य अधिकांशतः आदिवासी अस्तित्व के संकट एवं अस्मिता की खोज से संबद्ध है। वर्चस्वाशली सत्ता विरुपीकरण के द्वारा किस प्रकार आदिवासी समाज को हाशिये पर डाल देती है इस विडंबना का भी रेखांकन हुआ है। सभ्यता के आरंभ से लेकर वैश्वीकरण की प्रक्रिया का दबाव किस तरह से असुर समुदाय को खत्म करने पर तुली है इसका उल्लेख ग्लोबल गाँव के देवता उपन्यास में हुआ है-

"हम वैदिक काल के सप्तसिंधु के इलाके से लगातार पीछे हटते हुए आज़मगढ़, शाहाबाद, आरा, गया राजगीर से होते इस वन-प्रांतर कीकट, पौंड्रिक, कोकराह या चुटिया नागपुर पहुँचे। हज़ार सालों में कितने इंद्रों, कितने पांडवों,

कितने सिंगबोंगा ने कितनी-कितनी बार हमारा विनाश किया, कितने गढ़ ध्वस्त किये, उसकी कोई गणना किसी इतिहास में दर्ज नहीं है। केवल लोकथाओं और मिथकों में हम ज़िदा हैं। ... लेकिन बीसवीं सदी की हार हमारी असुर जाति की अपने पूरे इतिहास में सबसे बड़ी हार थी। इस बार कथा-कहानी वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया।"[1]

दरअसल वर्तमान समय में आदिवासी जमात पर छाया संकट कोई नया नहीं है वरन् सभ्यता के आरंभिक समय से ही इन्हें लगातार छला गया। अंतहीन प्रतिरोध करते हुए आदिवासियों ने अपने अस्तित्व कायम रखने हेतु कभी वन-गुफाओं में तो कभी कन्दराओं आदि जगहों में शरण लिया। तमाम विपरीत परिस्थितियों को सहते हुए भी औपनिवेशिक सत्ता के व्यवस्थित एवं सुनियोजित रणनीति एवं वर्तमान में वैश्वीकरण के कुचक्रों के बीच वे लहू-लुहान होकर अपने जीवन-अस्तित्व को कायम रख सकने में अक्षम हो रहे हैं। अपने अस्तितव पर छाये संकटों को दूर करने में आदिवासी स्त्री की भी निर्णायक भूमिका रही है जिसका जिक्र इतिहास में एकसिरे से अनुपस्थित है। जो समाज व्यवस्था आदिवासी समाज को ही निगलने पर आमदा हो वह स्त्री को कैसे 'स्पेस' दे सकता है? यह शोचनीय सवाल है।

'धूणी तपे तीर', 'बाजत अनहद ढोल', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'सीता-मौसी' उपन्यासों में अस्तित्व संकट से निज़ात पाने के लिए आदिवासी स्त्री की सक्रियता लगातार देखी जा सकती है। भले ही सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हो 'रात बाकी एवं अन्य कहानियों' में भी अस्तित्व के लिए आदिवासी स्त्री के संघर्ष का उल्लेख हुआ है। अस्तित्व संकट से मुक्ति की चाह ग्रेज कुजूर की कविता 'एक और जनी-शिकार' से भी अभिव्यक्त होती है-

"हे संगी!
तानो अपना तरकस
नहीं हुआ है भौथरा अब तक
'बिरसा आबा का तीर'

[1] ग्लोबल गाँव के देवता-पृ.43, 83

कस कर थामो

टहनी पर अटके हुए

सूरज के लाल 'गोढ़ा' को

गला दो अपनी हथेलियों की

गर्मी से

और फैला दो झारखंड की

फुनगियों पर

भिनसरिया में उजास

चटकने से पहले

बेध डालो

हाँ, बेध अलो।"[2]

प्रतिरोधी चेतना के द्वारा अस्तित्व निर्माण एवं अस्मिता की खोज संभव है। इस कविता के द्वारा कवयित्री आदिवासी स्त्रियों को परंपरागत शौर्य के प्रतीक बिरसा से सीख लेते हुए अपने समाज में फैली निष्क्रियता को तोड़ने का आह्वान करती है।

7.2 वातावरण या परिवेश निर्माण की भाषा

परिवेश या वातावरण का चित्रण साहित्य का अनिवार्य तत्व है। चाहे किसी भी तरह का साहित्य क्यों न हो, उसका कथ्य किसी वातावरण की अपेक्षा जरूर रखती है। अर्थात् वह किसी-न-किसी स्थान पर घटती है, उसके घटित होने का कोई-न-कोई काल होता है और वह किसी-न-किसी वातावरण के अंतर्गत होती है। अतः कथ्य को स्वाभाविक एवं हृदयग्राही बनाने के लिए साहित्य का कार्य अपने विषय के देशकाल तथा वातावरण से परिचित होना आवश्यक है। साहित्य का कथ्य जिस युग विशेष से संबंधित होता है, उसी के अनुरूप समाज के चित्रण को वातावरण कहा जाता है। यदि वातावरण का चित्रण युगानुरूप नहीं है तो इससे न केवल साहित्य के अभाव की क्षति होगी, बल्कि साहित्य और साहित्यकार दोनों

[2] आदिवासी स्वर और नई शताब्दी-पृ.22-23

हास्यास्पद बन जायेंगे। इस प्रकार प्रत्येक जागरूक और सफल साहित्यकार अपने साहित्य में वातावरण के चित्रण की ओर विशेष रूप से सतर्क और सावधान रहता है।

परिवेश या वातावरण की दृष्टि से हिंदी का आदिवासी साहित्य परंपरागत साहित्य से न केवल बिलकुल भिन्न है बल्कि विशिष्ट भी है। आदिवासियों के आदिम परिवेश को रूपायित करने से लेकर वर्तमान संक्रमणशील परिवेश में जीवन-यापन कर रहे आदिवासियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने में इस साहित्य की अपनी विशिष्ट भूमिका रही है। जल, जंगल और जमीन जैसे पारंपरिक अधिकारों के लिए संघर्षरत आदिवासियों के प्रकृति अनुकूल जीवन परिवेश को उकेरने की कला आदिवासी साहित्य की अपनी पहचान है-

"मैं बिरसा जंगल का बेटा
मैं जंगल का दावेदार
...   .
नहीं मरेंगे मेरे वंशज
मेरा पुश्तैनी अधिकार
लेगा मुण्डा अपना कब्जा
चाहे कोई हो सरकार
सुन ओ पुरखे, सुन ओ आबा
सुन लो ए बिरसा भगवान
आज तुम्हारे मुण्डा बच्चे
माँग रहे हैं उलगुलान
उल्गुलान! उल्गुलान!! उगुलान!!!"[3]

अपने पारंपरिक अधिकारों से लगातार बेदखल होना आज के आदिवासी जीवन की त्रासद् नियति बन गई है। किंतु शिक्षित होने के उपरांत यह समाज अपने

---

[3] पठार पर कोहरा-पृ.189-190

आदिम अधिकारों के प्रति सतर्क है और उसे पाने के लिए संघर्ष करने को भी तैयार है। इस परिवेश को उजागर करना हिंदी साहित्य में नई परिघटना के रूप में देखा जा सकता है।

वातावरण के चित्रण में वर्ण्य समाज का चित्रण आता है, अर्थात् लोगों का रहन-सहन, वेशभूषा, भाषा, शिष्टाचार और पारस्परिक व्यवहार आदि आते हैं। हिंदी आदिवासी साहित्य में वातावरण के प्रति पूरा ध्यान रखने की कोशिश की गई है। 'जंगल के गीत' उपन्यास में छोटानागपुर के पहाड़ी क्षेत्र की झाँकी प्रस्तुत की गई है जिसमें पर्वत-पहाड़ के बीच संपूर्ण प्राकृतिक परिवेश जीवंत हो उठता है-

"कुदरती खूबसूरती में प्रकृति-प्रांगण के एक-ब-एक खुलती अनेक कड़ियों में जीवन फिर शुरू हो गया था। हरी-भरी वादियाँ, छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, ऊँची-नीची चोटियाँ, उन्मुक्त खुले आकाश में बेफिक्र उड़ते परिंदों का झुण्ड, हर दिशा में बहती क्वांरी हवाएँ, खुला-खुला माहौल ताजी खुली-खुली खुशबू, पहाड़ी हरियाली की अनोखी समां। पूर्व का आकाश लाल रंग से लगने लगा था। धीरे-धीरे पवन के झोंके पूरे प्रकृति-प्रांगण में बेरोकटोक आ जा रहे थे। भूरे, ऊँचे सखुए के दरख्तों में कलियाँ छिटक आयी थी। किसी नयी-नवेली दुल्हन की तरह प्रकृति श्रृंगार करने में लगी थी। पूरी घाटी में फैले छोटे-छोटे गाँवों में एक खुशगवार जिंदगी शुरू हो गयी थी।"[4]

यह परिवेश झारखंड (छोटानागपुर) के आदिवासियों का प्रकृति के बीच जी रहे उन्मुक्त जीवन का है। किंतु भारत में औपनिवेशिक साम्राज्य कायम होते ही किस प्रकार इनके स्वतंत्र जीवन में दखल शुरू होता है इसका जिक्र 'रक्तयात्रा' उपन्यास में हुआ है-"जंगलों में छिपे हमारे लोग फिर अपने गाँवों में लौटे। गाँवों की राख पर उन्होंने नए गाँव खड़े किए। नई फसलें बोईं। फिर से नई जिंदगी शुरू की। फिर अपनी जिंदगी जीने लगे। पर कितने दिन रह पाए वे चैन से। साल भर हुआ होगा कि मणिपुर के राजा गंभीरसिंह ने धावा बोल दिया। उसके साथ गोरे

---

[4] जंगल के गीत-पृ.1

जैक्सि से भी ज्यादा सिपाही और बंदूकें थीं। एक गोरा अफसर भी उसके साथ था। वह जाने कब से इस ताक में था कि हमारी पहाड़ियों को अपने राज में मिलाए। उसे जितनी हविश थी अपना राज बढ़ाने की, उससे ज्यादा वह बेरहम था। वह हमारे गाँवों को लूटता-जलाता, औरतों, बच्चों और मर्दों को बेरहमी से मारता हमारे केव्हीरा (कोहिमा) तक आ पहुँचा था।"[5]

स्थानीय शासकों से मिलकर अंग्रेज़ों ने आदिवासियों के प्रति जो अत्याचार किया वह आज भी इतिहास के पन्नों से गायब है। अंग्रेज़ों ने अपने उपनिवेश को विस्तृत करने के लिए उत्तर-पूर्व के नागा आदिवासियों को भी नहीं बक्शा। नागा आदिवासियों के द्वारा अंग्रेज़ी का प्रतिरोध करने पर न केवल उनके घरों एवं फसलों का जलाया गया बल्कि बच्चे, स्त्री समेत सभी को शारीरिक हिंसा का भी शिकार होना पड़ा। अतः यह उपन्यास औपनिवेशिक सत्ता के क्रूर चेहरे के साथ देशी रियासतों के बर्बर कारनामों को भी बयाँ करती है।

7.3 वार्तालाप की भाषा

किसी भी उपन्यास, कहानी, नाटक या काव्य के मध्य में जो वार्ताएँ चलती हैं उन्हें कथोपकथन, संवाद या वार्तालाप कहते हैं। संवाद द्वारा कथ्य का प्रसार और चरित्रों का विकास किया जाता है। संवाद से कथ्य प्रभावपूर्ण बनता है। किसी भी संवाद में स्वाभाविकता होना आवश्यक है। किंतु स्वाभाविकता का अर्थ यह नहीं है कि वास्तविक जीवन में लोग जैसी भाषा का जिस स्थिति में प्रयोग करते हैं, वैसी ही भाषा का प्रयोग किया जाए, क्योंकि उनके प्रयोग अनाटकीय और अधिकांश निरर्थक होते हैं।

उपन्यास विधा में वार्तालाप के लिए सबसे ज्यादा स्पेस रहता है। अपने लघु उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में संजीव ने संवादों का सार्थक उपयोग किया है। मुख्य पात्र सुदीप्त एवं आदिवासियों के बीच चल रहे वार्तालाप से आदिवासी स्त्री को डायन बनाये जाने की स्थितियों पर प्रकाश पड़ता है-

---

[5] रक्तयात्रा-पृ.130

"‘आप लोगों ने कैसे जाना कि वह डायन थी?’

‘डायन रहबे किया।’

‘उसका कोई है गाँव में?’

नयं, सबको खा गया।’

‘बाल-बच्चा भी?’

‘हाँ!’

‘बस?’

‘ओकरा चलते बीमारी होता था, लेरु-काड़ा मरता था।’

‘उसी के चलते?’

‘जान गुरु (ओझा) बोला।’

‘जान गुरु सब कुछ जानता है क्या?’

‘जनबे करता है।’"[6]

इस संवाद के माध्यम से जान गुरु (ओझा) का आदिवासी समाज के भीतर वर्चस्व की स्थिति का पता चलता है। धर्म के ठेकेदार किस प्रकार अपने हित को साधने के लिए स्त्री विरोधी रूपक एवं मानसिकता समाज में तैयार करते हैं यह विडंबना भी सामने आती है। धर्मभीरु समाज अपढ़ होने के कारण वस्तुस्थिति के प्रति अनभिज्ञ है और आदिवासी स्त्री के प्रति हिंसक नज़र आता है। सुदीप्त जैसे प्रगतिशील लोग जब आदिवासी लोगों को डायन के संबंध में चेतना का प्रसार करके लोगों की मानसिकता बदलना चाहता है तो उलटे परंपरागत रूप से जड़ समाज उसे ही मारने को उतारू हो जाता है। जो आदिवासी समाज स्त्री के प्रति सहिष्णु माना जाता रहा है वही किस प्रकार अंधविश्वास में लिप्त रहने के कारण असंवेदनशील हो जाता है यह उपन्यास आदिवासी स्त्री के तल्ख नियति को संवादधर्मिता के माध्यम से सामने लाती है।

[6] पाँव के तले की दूब-पृ.27-28

संजीव की कहानी 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' में संवाद के माध्यम से आदिवासी स्त्री के प्रति तथाकथित सभ्य समाज की सोच को अभिव्यक्त किया गया है-

"ऐ! तुम लोगों को अक्कल नहीं है?"

का हुआ बहिनी? उस औरत ने कातर स्वर में पूछा

"बहिनी-बहिनी मत बोलो जंगली कहीं की। हम तेरी तरह बाज़ारू नहीं हैं।"[7]

आर्थिक रूप से संपन्न स्त्री की सोच भी पिछड़े तबके के अपने ही बिरादरी के आदिवासी स्त्री के प्रति संवेदनशील नहीं है। मुख्यधारा के समाज की दृष्टि में आदिवासी आज भी जाहिल, गँवार आदि हैं। आज के लगातार बदल रहे इस युग में सभ्य स्त्री का आदिवासी स्त्री के प्रति हेय दृष्टि आश्चर्यजनक एवं घृणास्पद है। उपरोक्त संवाद से यह भी पता चलता है भले ही समाज में ऊपरी तौर पर बदलाव दिखाई दे रहा है किंतु आंतरिक रूप में समाज एवं उसकी सोच अभी भी जड़ एवं दकियानूस ही है।

हिंदी आदिवासी साहित्य में वार्तालाप का उपयोग सिर्फ कहानी और उपन्यास में ही नहीं बल्कि कविता में भी हुआ है। ओम नागर की कविता 'कजोड़मल क्या कर रहे हो तुम?' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है-

"कजोड़मल!
क्या कह रहे हो तुम?
कुछ नहीं चाहिए
कुछ नहीं करना तुम्हें
जीवन में
जंगल में जीवन बसर करने के सिवा
... ...
तुम तैयार हो जाओ कजोड़मल

[7] दुनिया की सबसे हसीन औरत (संजीव की कथा-यात्रा : दूसरा पड़ाव)-प.39-40

माथे पर मोरपंख
गले में कुछ ऊबड़-खाबड़
पत्थरों की माला पहन लो,
जनपथ पर झाँकी में सजाना है तुम्हें
दिखाना है
कि देश आज भी
विभिन्नता में एकता का सूत्रधार है।"[8]

इस कविता में कवि द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से संवाद है। यह संवाद आदिवासी ज़मात के प्रति है। वर्तमान में आदिवासी द्वारा पारंपरिक जीवन-पद्धति पर ही निर्भर करने की मानसिकता पर चोट करता है। इसी मानसिकता के कारण मुख्य धारा का समाज आदिवासी समुदाय को लगातार रौंदता कुचलता जा रहा है। फिर भी वह चुप्प रहने को विवश है। सत्ता भी आदिवासी संस्कृति का इस्तेमाल भारतीय संस्कृति के उन्नत रूप ('विभिन्नता में एकता') में पेश कर उनसे अपना उत्तरदायित्व हटा लेते हैं। संवाद के माध्यम से कवि आदिवासी मानस के यथास्थिति पर चोट करके बदलाव लाने की कोशिश करना चाह रहा है।

7.4 हिंदी के आदिवासी साहित्य का भाषिक स्वरूप

7.4.1 वर्णन की भाषा

वर्णन का उपयोग गद्य साहित्य में विशेष तौर से किया जाता है। किंतु काव्य में भी कमोवेश वर्णन मिल ही जाता है। आदिवासी साहित्यकार जब किसी स्थान या दृश्य का वर्णन करते हैं उसे यथावत् रूप में हमारे सामने पेश कर देते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत शब्द किसी-न-किसी वस्तु का बिंब प्रस्तुत करता है। वर्णन की भाषा जहाँ समाप्त होती है कथा वहाँ, प्रस्थान की मुद्रा में खड़ी दिखाई देती है। वाल्टर भेंगर 'तरुण' की कहानी 'खखरा'[9] (केकड़ा) इस दृष्टि से उदाहरणीय है-

---
[8] कजोड़मल क्या कर रहे हो तुम (आदिवासी कविता अंक, अरावली उद्घोष, अंक-81)-पृ.12
[9] केकड़ा

"समूचे गांव में आज चर्चा थी सिर्फ 'खखड़ा' की। बच्चे, बूढ़े, जवान-अधेड़, स्त्री-पुरुष सभी बातें कर रहे थे, तो बस खखरा की। आज बात ऐसे फूट पड़ी, मानों बादल की हर कड़कड़ाहट के साथ गोड़ा (वह धान जो बिना क्यारी के खेत में छींटा जाता है) धान के टांड में 'ओहे खुखड़ी' (खुम्भे) पुटक-पुटक कर सिर निकालने लगी हों। पहले एक ने सिर निकाला, फिर एक के बाद अनेक। गाँव में लोगों की भीड़ यहाँ-वहाँ उसी तरह सिर उठाए चर्चा में लगी हुई थी। युवतियाँ गाँव के कुएँ के पास, औरतें किसी के आँगन में, युवक अखाड़े में और बूढ़े बरगद की छाँव में 'खखरा' की ही बातें कर रहे थे। सारा का सारा गाँव, बच्चों का झुण्ड तो बस 'खखरा' के साथ ही लगा हुआ था। गाँव से लगी कच्ची सड़क से बुधना खेतों की ओर जा रहा था कि अचानक एक जीप उसे पास आकर रुकी।"[10]

यहाँ वर्णन की भाषा सहजगति से बढ़ती हुई खखरा के प्रभावशाली व्यक्तित्व की ओर इंगित करती है। वर्णन के क्रम में खखरा के विषय में कौतूहल की भी सृष्टि हुई है। अंतिम वाक्य पाठक और कथा को आगे ले जाने के लिए तैयार खड़ा प्रतीत होता है।

आदिवासी साहित्य के वर्णन की विशेषता यह भी है कि वह वर्ण्य स्थान की छोटी-से-छोटी वस्तु का भी उल्लेख करता है। आलंकारिकता का पुट प्रायः नहीं होता, कोई भी शब्द नाद-सौंदर्य या सजावट मात्र के लिए नहीं आता। यद्यपि वाक्य-योजना में लयात्मकता विद्यमान रहती है। स्थान के अनुकूल शब्द-चयन होता है। मंगल सिंह मुण्डा का उपन्यास 'छैला सन्दु' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है-

"घनघोर जंगल। साल, आसान सेमल तथा किस्म-किस्म के गगनचुंबी वृक्ष, सनई पौधों की भाँति, कतारबद्ध खड़े हैं। कहीं-कहीं उन वृक्षों के ऊपर महलेन तथा गोरार की लरंगों ने लिपटकर छतरीनुमा छज्जे बना रखे हैं। नीचे, धरातल पर पुर्सा भर लंबी-लंबी हरियाली घास धरती को छिपाए हुए है। इस भू-खंड की भौगोलिक स्थिति ही निराली है। कहीं गगनचुंबी पहाड़, टीले, गुफाएँ मौजूद हैं, तो कहीं मीलों दूर सपाट मैदान चारपाई की तरह बिछे हैं। पठारी इलाके में प्राकृतिक श्रींगार-संपदा

---

[10] खखरा (आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, सं.रमणिका गुप्ता)-पृ.150

की बात सुनते ही हर किसी का मन लालच से भर उठता है। कहीं पक्षियों का कलरव, कहीं भौरों का गुंजन, कहीं साँप-बिच्छुओं का झुंड तो कहीं बाघ-चीतों की गुर्राहट। यह पहाड़ी श्रृंखला पश्चिम से पूरब की ओर मीलों दूर फैली हुई है।"[11]

वर्णन के इस प्रकार के प्रसंगों में भाषा की अभिधा शक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। चीज़ों को उनके सही नाम से पुकारना अभिधा की सबसे बड़ी पहचान और शक्ति है तथा यथार्थ चित्रण के लिए इसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है। आदिवासी साहित्य में वर्णन के क्रम अभिधात्मकता का सर्वाधिक उपयोग किया गया है।

7.4.2 प्रकृति-चित्रण

प्रकृति चित्रण हिंदी के आदिवासी साहित्य का एक महत्वपूर्ण उपादान है। परंपरागत रूप से आदिवासियों का जीवन जंगल, पहाड़ एवं कंदराओं पर अत्यधिक निर्भर होने के कारण इसका चित्र इस साहित्य में सहज सुलभ रूप में उपलब्ध है। प्रकृति का सौंदर्य साहित्य में प्राण भरता है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष प्राकृतिक दृश्य का चित्रण भी मोहक बना पड़ा है। रचनाकार ने प्रकृति चित्रण को आदिवासियों की सहज जीवन-शैली से जोड़कर देखने का प्रयास किया है। आदिवासियों का जीवन प्रकृति के बीच ही पूर्णता को प्राप्त करता है। अतः प्रकृति-प्रदत्त जीवन के वे आकांक्षी रहे हैं। प्रकृति के अनुरूप स्वाधीन-चेतना उनकी जीवन-शैली है। आदिवासियों के आदिम धरम में पूर्वजों का स्मरण और प्राकृतिक सत्ताओं से जीवन-कल्याण की आकांक्षा की गुहार है। यह गुहार केवल स्व-विकास से नहीं जुड़ी हुई है बल्कि सामूहिक भाव से युक्त है। 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में प्रकृति के इस रूप का चित्रण मिलता है-"ऋतुओं की भंगिमाओं के अनुरूप अपने को ढालते रहना उनकी आदिम व पुश्तैनी प्रवृत्ति थी। ... डँगरपुर और बाँसवाड़ा रियासतों का सीमावर्ती गाँव भूखिया अरावली पर्वत श्रृंखलाओं के मध्य का एक छोटा सा हिस्सा था, जिसके चारों ओर घने जंगल और बेतरतीब काली पहाड़ियाँ।

---

[11] छैला सन्दु-पृ.17

नाटे कद, काले रंग के इस पहाड़ी भू-भाग पर बसे कम ऊँचाई और साँवले रंग के आदिवासी। इस पहाड़ी वनांचल के चप्पा-चप्पा से आत्मीय लगाव चला आ रहा था यहां के बासिंदों का। प्रकृति और मानवेतर प्राणी जगत से मनुष्यों का गहरा सामंजस्य। इनके मन में कहीं कोई प्रतिस्पर्धा, आधिपत्य, शोषण व असंतुलन का भाव नहीं था।"[12]

दरअसल प्रकृति के अनुरूप जीवन-पद्धति भारतीय जीवन-शैली की विशेषता रही है जिसको आदिवासी समाज सबसे कारगर ढँग से अभिव्यक्त करता है। पश्चिमी समाज के लिए प्रकृति जीवन के विरोधी भाव के रूप में आता रहा है। विकास के लिए प्रकृति पर विजय उनकी जीवन-शैली का अहम हिस्सा है। सिर्फ प्रकृति से नहीं अन्य मानवेतर प्राणियों के प्रति भी आदिवासी समाज का राग-संबंध जग-जाहिर है। प्रकृति को चेतन मानते हुए इसके प्रति आत्मीय भाव अभिव्यक्त करना इस समुदाय की अपनी खास विशिष्टता है।

हिंदी आदिवासी साहित्य की भाषा में प्रकृति के छटा के चित्रण की तीव्र शक्ति है। उत्तर-पूर्व राज्यों के प्रकृति सौंदर्य का चित्रण 'जहाँ बाँस फूलते हैं' (मिजोरम), 'रक्तयात्रा' (नागालैंड) तथा 'उत्तर पूर्व' (मणिपुर) उपन्यासों में हुआ है। 'जहाँ बाँस फूलते हैं' में मिजोरम की प्राकृतिक भंगिमाएँ निम्न रूप में वर्णित की गई हैं- "मिजोरम की प्रकृति में बरसात के बाद की इस सुनहरी हरितिमा से बढ़कर, जो पूरे अंचल को हजार-हजार रंगों से ढके थी, और कोई सुंदर चीज़ न थी। कहीं किसी कलँगीधारी सरपत से लिपटी कोई करमी तेज गुलाबी और गहरे कत्थई फूलों के साथ काँप रही थी, तो कहीं झबरा राड़ा अपनी सूफ भुआड़ी के साथ रसे रस डोल रहा था। कुश के लंबे प्रांतर में कहीं-कहीं अपने हरे पत्तों से उठकर बुढ़िया का लावा तीखी गंध फेंक रहा था तो कहीं बनमकोय पर बार-बार चोंच मारता पतरेंगा उड़ रहा था। अपनी पतली गर्दन ताने बटेर कीड़ों की तलाश में पाँत से विचर रहे थे। हवा के दाब से लचक गई घास की सरसराहट से बिदक कर वे कभी फुदक भी जाते थे। ऊपर नीलकंठ व जटाधारी टर्र-टाँव करते किसी ऐसी शाख की तलाश में

[12] धूणी तपे तीर-पृ.33

उड़ रहे थे, जो उनका बोझ सम्हाल शरण दे सके। किसी अदृश्य ताल से किसी अदृष्ट नदी से बतखों का क्रेड-क्राङ सुनाई दे रहा था। दूर छिटकी जई की तनेन पकी बाली माहौल में एक और रंग घोलती इस गुंजान प्रकृति की जैसे अकेले आनंद ले रही थी।"[13]

प्रकृति का यह वर्णन काव्यात्मक है। मैदानी भाग की प्रकृति से पर्वतीय क्षेत्र की प्रकृति न केवल भिन्न होती है बल्कि विशिष्ट भी। सिर्फ मनुष्य ही नहीं अन्य मानवेतर प्राणियों का अस्तित्व प्रकृति से अभिन्न रूप से जुड़ा होता है।

7.4.3 चरित्र चित्रण की भाषा

हिंदी आदिवासी साहित्य के अंतर्गत पात्रों का परिचय देते हुए उनकी रूपरेखा, वेशभूषा, आयु आदि का वर्णन सूक्ष्मतम ब्यौरों के साथ हर समय नहीं किया गया है, इसके बावजूद पात्रों की विशिष्टता से पाठक परिचित हो जाते हैं। 'साइबर सिटी से नंगे आदिवासियों तक' के यात्रा-वृत्तांत में हरिराम मीणा 'जारवा' दंपत्ति के चरित्र का परिचय देते हुए लिखते हैं-

"दोनों के गोल-मटोल चेहरे, त्वचा जैसे मोम की बनी हो-बिल्कुल स्निग्ध। दूध की थर की जैसे मालिस की हुई हो उस पर किंतु स्याह काली। मासूमियत के दोनों ही जैसे मूर्त रूप हों। अत्यन्त शर्मीले किंतु, चिंतित जान पड़ते हैं। जैसे उनके भीतर एक लंबा-चौड़ा आकाश भरा हो जिसे सर्वत्र प्रेम की भूख लगी हो। उस प्रेम की जो यह अनवरत लुढ़कती पृथ्वी के अरबों वासिन्दे दे सकते हैं जो इनसे भिन्न हैं, इनके अस्तित्व को बचा सकते हैं अगर सहयोग करें। ... और भी (यद्यपि अस्पताल में नहीं) कि, वे पूर्ण नग्न होंगे सिवाय शंख-दीप और पेड़ की छाल के भुजबंध, गलबंध और कटिबंध के। यहाँ तो यह जारवा युवक भूरा पेंट और लाल रंग की टी-शर्ट पहने था तथा उसकी पत्नी मेक्सी में थी। बिल्कुल हम 'सभ्यों' जैसे थे।"[14]

---

[13] जहाँ बाँस फूलते हैं-पृ.13

[14] साइबर सिटी से नंगे आदिवासियों तक-पृ.87

इस वर्णन के द्वारा जारवा दंपति के प्रति लेखक का भाव विस्मय और कौतूहल से भरा हुआ नज़र आता है। लेखक की परिकल्पना थी कि ये शेष दुनिया से शत्रुवत और पृथकत्व का भाव रखने के कारण बड़े गुस्सैले और खूँखार लगेंगे। आकार अनगढ़ होगा, इनकी आँखों से आगे बरसती होगी। जबकि हाव-भाव लेखक को कल्पना के विपरीत लगा। यह किसी विशेष परिस्थिति में जारवा आदिवासी का शेष दुनिया के 'व्यक्तिगत संपर्क' से आए बदलावों को इंगित करता है। किंतु प्रकृति प्रदत्त जीवन-शैली पर आधारित जारवा का जीवन मुख्यधारा के जीवन को आत्मसात करने पर अस्तित्व-संकट की त्रासद् नियति से गुजर लगता है। क्योंकि संक्रांतिकालीन स्थितियों में जीवन जीने की शारीरिक व मानसिक क्षमता धीरे-धीरे घटने लगती है। साथ ही एक जटिल प्रश्न सामने उपस्थित होता है कि आदिवासी और सभ्य दुनिया के बीच संपर्क सूत्र संभव है या नहीं? जारवा दंपति के चरित्र चित्रण के माध्यम से आदिवासी जीवन के अस्तित्तव संकट के प्रश्न को सामने रखा गया है।

'रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ' संग्रह की पहली कहानी 'रात बाकी' में रणेंद्र ने चेरो आदिवासी युवती के चरित्र का वर्णन निम्न रूप में किया है-

"सोफे के कोने पर तनकर बैठी थी पुष्पा-खुलता रंग, चाकू की धार-सी नाक। बीस-इक्कीस की उम्र। चेरो प्रधान रामावतार सिंह की बड़ी बेटी। पहले कभी देखा नहीं। वेशभूषा से भी ग्रामीण नहीं दिखती थी। आदिवासी तो एकदम ही नहीं। "धत्त! आदिवासी दिखने के लिए काला-कलूटा, चपटी नाक का होना जरूरी है क्या?" 'अरे नहीं।' ... पुकारू नाम है सोमारी। स्कूल का नाम पुष्पा सिंह ही है। मैं भकुआ गया। क्या-क्या छवि बना रखी थी। ठीक काली माय वाली। गले में मुंउमाल, साँवली-काली चमकती, खड्गधारिणी रक्त भरे खप्पर वाली। कहाँ यह फूलों सी किशोरी। रजनीगंधा की डंठल-सी काया।"[15]

---

[15] रात बाकी (रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ)-पृ.10-11

यहाँ देहयस्टि के वर्णन में स्थूलता नहीं है बल्कि 'खुलता रंग, चाकू की धार-सी नाक' आदि कहकर पाठक की कल्पना के लिए पूरा 'स्पेस' छोड़ दिया गया है। हर पाठक अपनी कल्पना के आधार पर आदिवासी युवती के सुंदरता एवं भंगिमा की कल्पना कर सकता है। दूर से मुख्यधारा के समाज की नज़र में आदिवासी समाज की छवि बिल्कुल अजीव एवं भयानक बना करती है। किंतु नजदीक आने पर आदिवासी युवती भी साधारण युवती की तरह नज़र आती है। सभ्य समाज जो हाशिये के आदिवासियों के प्रति मिथक गढ़ता है उसे नहीं पा सकने पर आश्चर्य व्यक्त करता है। इतना ही नहीं यदि कोई युवती या स्त्री अपने अस्तित्व के लिए प्रतिरोध करती है तो समाज उसे तरह-तरह के नाम एवं उपनाम से व्यंग्य भी करता है। चेरो आदिवासी युवती के संबंध में भी मुख्यधारा का समाज तरह-तरह की कपोल कल्पनाएँ करता है किंतु जब वह अस्तित्व संकट एवं अस्मिता के लिए संघर्ष करती है तो उसे काली माता की विकृत छवि की उपमा प्रदान की जाती है। वह भी एक नौजवान युवती की तरह सुकुमार कोमल प्रवृत्ति की है। किंतु समाज के हिंसक आचरण से रक्षा करने के कारण पुष्पा कई बार हिंसक नज़र आती है।

7.4.4 मिथक (पुराकथाएँ)

मिथक धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। साधारण अर्थ में किसी भी ऐसे कथन को मिथक कहा जाता है जिन्हें वैज्ञानिक कसौटी पर प्रायः सत्य नहीं माना जाता है। इसमें चमत्कारों से संबंधित बातें शामिल रहती हैं। मौलिनेस्की ने मिथक को उस कहानी का प्रथम रूप माना है जो अनुष्ठान में दुहराई जाती है या सामाजिक संबंधों में किसी अधिकार का औचित्य सिद्ध करती है। वर्तमान काल में किसी कार्य की पुनरावृत्ति के लिए मिथक स्वर्णिम अतीत से एक प्रभावशील दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। राजाओं, जादूगरों, अनुष्ठानाधिकारियों के प्रथम पूर्वज के प्रादुर्भाव की कहानी उनके वंशजों की राजनीतिक या धार्मिक सत्ता की उत्तराधिकारी सिद्ध करने में सहयोगी होते हैं। टोटेमी वस्तु के प्रति श्रद्धा भाव के प्रदर्शन हेतु मिथक घोषणा पत्र की तरह व्यवहृत होता है। बहुत से आदिवासियों के मिथक विश्वव्यापी प्रश्नों का

उत्तर देते हैं। यथा-लोग मरते क्यों हैं? मृत्यु कैसे आयी? स्वर्ग से पृथ्वी कैसे अलग हुई? मिथक में किसी ऐतिहासिक पुरुष के रोमांचकारी एवं वीरतापूर्ण कहानी हो सकती है जो आदिवासी समूह को उनके गोत्रों या कुल देवताओं से संबंधित करा सकती है। मिथक प्राकृतिक घटनाओं में मनुष्य या पशुओं के प्रयोजन को लक्षित करता है अथवा उन घटनाओं की व्याख्या किसी दैवी शक्ति या अति मानवीय शक्ति के कार्य-कलाप के रूप में कर सकता है।

भारत के आदिवासियों में मिथक एवं गाथाओं की प्रचुरता है तथा इनके द्वारा धार्मिक अवसरों की व्याख्या की जाती है। प्रत्येक ग्राम, स्थान, गोत्र आदि के पीछे कुछ-न-कुछ मिथकीय आधार होते हैं। विभिन्न आदिवासियों के मिथकों के अनुसार नये संसार की रचना विभिन्न प्रकार से हुई। मुण्डाओं के मिथक से ज्ञात होता है कि सिंग-बोंगा ने जल पर विचरण किया एवं प्रथम जीवन के रूप में एक कछुआ-एक कराकों, एक लेंदाह की उत्पत्ति हुई। अंत में हूरना के एक पक्षी ने आकर अण्डा दिया जिससे एक लड़का और एक लड़की की उत्पत्ति हुई। ये सब होरो-होन मनुष्य के पुत्र के पूर्वज थे। मिथकों के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि मिथक आदिवासी परिस्थिति एवं अवस्था का व्यवहार करती है तथा आदिवासी मस्तिष्क एवं विश्वास को संतुष्ट करता है।

7.5 आदिवासी भाषाओं का अस्तित्व संकट

आधुनिकता के तमाम सकारात्मक पक्षों के बावजूद यह अकाट्य तथ्य है कि मुख्यधारा में लाने, आधुनिक और सभ्य बनाने के नाम कई देशज-स्थानीय-क्षेत्रीय बोलियों/भाषाओं का नामोनिशान मिट जाता है। आधुनिक राष्ट्र-राज्य से लेकर वैश्वीकरण तक की तमाम तथाकथित 'महान परंपराएँ' स्थानीय स्तर की 'लघु परंपराओं' को अपने में थोड़ा-बहुत (जाने-अनजाने) मिला लेती है अथवा पूरी दबंगई से उन्हें बर्बर, जंगली और असभ्य करार देकर समाप्त कर देती है। अकारण नहीं है कि वैश्विक स्तर पर औसतन प्रत्येक दो सप्ताह में एक भाषा लुप्त हो जाती है। कुछ वर्ष पूर्व पोप बेनिडिक्ट सोलहवें ने वैटिकन सिटी में सर्वोच्च ईसाई

धार्मिक सत्ता संताली, तो उन्होंने अपने उद्‌बोधन में कहा था कि-"ईसाई धर्म ने अफ्रीका और दक्षिण अमरीका में अपना दायित्व पूरा कर लिया है, अब मात्र एशिया बचा है।"[16] जाहिर है उनका संकेत धर्मांतरण की ओर था जिसके साथ अंग्रेज़ी जुड़वा बहन की तरह स्वतः आ जाती है, न केवल घर में बल्कि विद्यालय में, कार्यस्थल पर और यत्र-तत्र-सर्वत्र। अफ्रीका महाद्वीप, दक्षिण अमेरिकी महाद्वीप, न्यूजीलैंड या ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासी अपने देशज धर्मों और भाषाओं को मजबूरन त्यागकर ईसाई या मुस्लिम बन गये हैं तथा अपनी मातृभाषा का तर्पण करके अंग्रेज़ी को अपना लिये हैं। वे आदिवासी अपने को आदिवासी नहीं कहते और न चाहते हैं कि दूसरे उन्हें इस नाम से संबोधित करें। एशिया में विशेषकर भारत के आदिवासी भी इस मानसिकता की ओर तेज़ी से उन्मुख होते जा रहे हैं। भारत कई क्षेत्रीय-स्थानीय भाषाओं की विविधता के कारण सांस्कृतिक रूप से समृद्ध रहा है। मगर यह दुःखद है कि तमाम आदिवासी क्षेत्रों की स्थानीय भाषाएँ/बोलियाँ मरती जा रही हैं। अभी हाल में एक त्रासद समाचार यह रहा है कि सुदूर अण्डमान द्वीप में आदिवासी समुदाय की 85 वर्षीय एक महिला बोआ सीनियर की मृत्यु के साथ दुनिया की एक भाषा हमेशा के लिए अस्तित्वहीन हो गई। दुनिया की प्राचीनतम भाषा में से एक 'बो' भाषा बोलनेवाली वह अंतिम व्यक्ति थी। वह 70 हज़ार साल पूर्व अफ्रीका से आये एक समुदाय की सदस्य थी और पिछले कई वर्षों से अपनी भाषा में इसलिए नहीं बोल पा रही थी कि क्योंकि उसकी संस्कारगत भाषा 'बो' को बोलनेवाला अन्य कोई मनुष्य उसके इर्द-गिर्द ही क्या दुनिया के किसी कोने में शेष नहीं था। अन्य लोगों से बातचीत करने या अपना काम चलाने के लिए उन्हें अण्डमानी हिंदी और अंग्रेज़ी के कुछ शब्दों से गुजारा करना पड़ता था। चूँकि अण्डमानी भाषाओं को पाषाण युग से चली आ रही भाषाओं का अंतिम अवशेष माना जाता है अतः बोआ के निधन से भाषाओं की गुत्थी का एक सिरा खो गया।

---

[16] सुभाष शर्मा, क्षेत्रीय-स्थानीय भाषाओं की व्यथा-कथा, (जनपथ, जनवरी-फरवरी 2011)-पृ.11

29 नवंबर 2007 को भारत के राष्ट्रपति को सौंपे गए अपने 44 वें प्रतिवेदन में 'राष्ट्रीय आयुक्त अल्पसंख्यक भाषाई' की टिप्पणी प्रासंगिक है, जिसमें भाषाई संरक्षण और विकास के मामले में सरकारी उदासीनता या उसके अपेक्षापूर्ण रवैये का जिक्र है-"जनजातीय भाषाएँ सभी स्थानों पर अल्पसंख्यक भाषाएँ हैं। केवल एक मात्र अपवाद दादरा तथा नगर हवेली है किंतु वहाँ भी, जहाँ भीली लोगों के बहुमत (55 प्रतिशत) द्वारा बोली जाती है, इसे शैक्षिक अथवा शासकीय प्रयोजन के योग्य नहीं माना जाता है। क्योंकि दादरा तथा नगर हवेली एक संघीय क्षेत्र है अतः यह भारत सरकार का दायित्व होना चाहिए। इससे वह उदासीनता रेखांकित होती है जिसका जन जातीय भाषाएँ शिकार हैं। अरुणाचल प्रदेश जैसे राज्य इस संवैधानिक निर्देश के होते हुए भी प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में ही होनी चाहिए, उन्हें विचार में लेने योग्य नहीं मानते हैं। ऐसी ही स्थिति मणिपुर की भी है। अंडमान तथा निकोबार में निकोबारी, निकोबार द्वीप की जनसंख्या की 60 प्रतिशत से अधिक द्वारा बोली जाती है, इसे अतिरिक्त राज्य का दर्जा नहीं दिया जाता है। छत्तीसगढ़ द्वारा भी जनजातीय भाषाओं को अल्पसंख्यक भाषाओं की सूची में शामिल नहीं किया जाता यद्यपि वह काफी लोगों द्वारा बोली जाती है... मध्यप्रदेश और झारखंड का रवैया भी लगभग ऐसा ही है।"[17] इससे स्पष्ट है कि आदिवासी एवं जन-भाषाओं को राज-काज एवं प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम नहीं बनने देने के हर संभव प्रयास किये गए जिससे कि सत्ता आरोपित संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को सुदृढ़ किया जा सके। अब तक आयुक्त लोकसभा के पटल पर 43 रिपोर्ट रख चुका है, लेकिन उस पर केंद्र अथवा किसी राज्य सरकार ने कोई गंभीरता नहीं दिखाई है। यह इस बात का भी संकेत देता है कि सत्ता का रवैया आदिवासी भाषा के प्रति किस हद तक अगंभीर है। इतना ही नहीं भाषाओं की संवैधानिक स्थिति से स्पष्ट है कि राजनीतिक-आर्थिक लाभ के लिए जानबूझ कर आदिवासी एवं अन्य वंचित समुदायों की मातृभाषाओं को संवैधानिक प्रावधानों से बाहर रखा गया। संविधान के

[17] अश्विन कुमार पंकज, हंट के खिलाफ प्रतिरोध की अभिव्यक्ति है आदिवासी भाषाएँ (जनपथ, जनवरी-फरवरी 2011)-पृ.53-54

आठवीं अनुसूची में हाल-फिलहाल शामिल की गयी संताली और बोड़ो ही मात्र आदिवासी भाषाएँ हैं।

2001 के जनगणना के अनुसार-"अनुसूची में शामिल संताली (0.62), सिंधी, नेपाली, बोड़ो (सभी 0.25), मिताइ (0.15), डोगरी और संस्कृत भाषाएँ एक प्रतिशत से भी कम लोगों द्वारा बोली जाती हैं। जबकि भीली (0.67), गोंडी (0.25), टुलु (0.19) और कुडुख (0.17) प्रतिशत लोगों द्वारा व्यवहार में लाए जाने के बाद भी आठवीं अनुसूची में दर्ज नहीं की गयी है।"[18]

शिक्षा को आदिवासी भाषाओं के मध्यम के रूप में अपनाये जाने पर खूब बहस हुई है। एक साधारण व्यक्ति के स्तर पर ज्ञानवर्द्धन के लिए मौलिक भाषा जितनी प्रभावी होती है उतनी नई भाषा नहीं होती। चूँकि माध्यम की भाषा अपना संपूर्ण मुहावरा और परिवेश लेकर चलती है और इसका संबंध वंशगत ज्ञान संपदा से होता है। भाषा का प्रश्न भी आदिवासी की अस्मिता से जुड़ा है। आदिवासियों की शिक्षा उन्हें अपनी भाषा में न देकर, प्रदेश की भाषा में दी जाती है। आदिवासियों को शिक्षित करने और उनकी भाषाओं को बचाने का एकमात्र तरीका है कि उन्हें स्कूलों में मातृभाषा में पढ़ाया जाए। आदिवासियों की अशिक्षा का दूसरा कारण है स्कूलों में आदिवासी अस्मिता विरोधी या असंबंध तथा अप्रचलित पाठ्यक्रम का होना। रामायण एवं महाभारत की गाथा इन्हें ठगने का वृत्तांत है। कहीं-कहीं पाठ्यक्रम के माध्यम से उन्हें अपमानित किया जाता है। फलतः यह उनके मन में बाकी सब के प्रति संदेह और अपने भीतर हीनताबोध पैदा करता है। पाठ्यक्रम में इसलिए भी बदलाव की जरूरत है।

भारत के तमाम आदिवासी क्षेत्रों (उत्तर-पूर्व, झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, अंडमान-निकोबार द्वीप समूह आदि) में हिंदी या अंग्रेज़ी ने स्थानीय भाषाओं के आत्मसातीकरण की प्रक्रिया लागू की है। ईसाई मिशनरियों ने

---

[18] अश्विन कुमार पंकज, हंट के खिलाफ प्रतिरोध की अभिव्यक्ति है आदिवासी भाषाएँ (जनपथ, जनवरी-फरवरी 2011)-पृ.53-54

गोरों के दायित्व (व्हाइटमेन्स बर्डेन) के रूप में अंग्रेज़ी को आदिवासियों में न केवल प्रचारित किया बल्कि अपने धार्मिक विद्यालयों और छात्रावासों में भी बच्चों को अंग्रेज़ी में बोलने को बाध्य कर दिया। इतिहास गवाह है कि करीब एक सौ पचास वर्ष पूर्व अंडमान में दस भाषा समुदाय ग्रेट अंडमानी समुदाय के रूप में जाने जाते थे। किंतु दुःखद बात यह है कि एक सौ पचास वर्ष पूर्व जो दस आदिवासी भाषाएँ ग्रेट अंडमानी समुदाय में मौजूद थीं, वे अब ('बो' भाषा के खत्म होने के साथ) घटकर मात्र तीन रह गई हैं। अर्थात् डेढ़ सदी में सत्तर फीसदी स्थानीय आदिवासी भाषाएँ लुप्त हो गईं। बोआ सीनियर की मौत की चुप्पी की आवाज़ इसलिए भी सुनने की नितांत आवश्यकता है क्योंकि कोई भी भाषा इतिहास की धरोहर होती है।

दूसरा महत्वपूर्ण भाषाई मुद्दा उत्तर-पूर्वी राज्यों का है। असम में सत्रह भाषाएँ संकट में हैं जिनमें से देवरी, मिसिंग, कछारी, बेइटे, तिवा और कोच राजवंशी भाषाओं की स्थिति ज्यादा खतरे में है। अरुणाचल प्रदेश में एक सौ बीस से अधिक समुदाय है और वहाँ एक सौ बीस बोलियाँ बोली जाती हैं। नेशनल ज्योग्राफिक सोसाइटी की एक भाषाई संरक्षण परियोजन के तहत प्रख्यात भाषा वैज्ञानिक ग्रेगोरी एंडरसन तथा के.डेविड हैरिसन तथा गणेश मुर्मू (राँची विश्वविद्यालय) ने 2008 में अरुणाचल प्रदेश के किचंग गाँव में एक नयी भाषा 'कोरो' की खोज की जो अभी तक एक अलग भाषा के रूप में दर्ज नहीं थी। "अरुणाचल प्रदेश में कोरो भाषा बोलने वालों की संख्या मात्र आठ सौ के करीब है यानी यह भाषा खतरे में है। दूसरे ओर आका भाषा बोलने वालों की संख्या दस हजार है। मगर आका और कोरो भाषा बोलनेवालों के बीच सहनशीलता एवं तालमेल है। ... कोरो भाषा तिब्बती-बर्मी भाषा समूह का अंग है जिसमें जिसमें कुल चार सौ बोलियाँ शामिल हैं। इन चार सौ बोलियों में से करीब एक सौ बीस बोलियाँ भारत में बोली जाती हैं।"[19] भारत में जनगणना/भाषा सर्वेक्षण में कोरो को कभी अलग या स्वतंत्र भाषा/बोली के रूप में दर्ज नहीं किया गया। दरअसल कोरो

---

[19] सुभाष शर्मा, क्षेत्रीय-स्थानीय भाषाओं की व्यथा-कथा, (जनपथ, जनवरी-फरवरी 2011)-पृ.13

भाषा के अस्तित्व पर भी खतरा मँडरा रहा है क्योंकि ज्यादातर लोग इसकी जगह या तो हिंदी बोलने लगे हैं अथवा अंग्रेज़ी। अरुणाचल प्रदेश की राजभाषा अंग्रेज़ी है मगर प्रचलन में हिंदी आम बोलचाल के साथ ही संपर्क भाषा का काम भी बखूब करती है। कोरो भाषा की सिर्फ मौखिक परंपरा है, उसकी लिखित (लिपि एवं साहित्य) परंपरा नहीं है। यही हाल अरुणाचल प्रदेश की तमाम अन्य बोलियों का है जैसा कि शेष भारत और विश्व की अधिकतर बोलियों का है। नागा राष्ट्र का मामला भी दिलचस्प है। 17 भिन्न आदिवासी समूह जिनकी 17 अलग-अलग भाषाएँ हैं, स्वयं को नागा कहने के लिए तैयार हैं। वे सब एक दूसरे की भाषा को समझते भी नहीं और उनकी परस्पर संपर्क की खिचड़ी भाषा है-नागामीज़। नगाओं की भाषाओं सहित अन्य पूर्वोत्तर राज्यों की भाषिक स्थिति इसी बदले हालत के शिकार हैं। जिसमें भाषिक संकट व हमला लगातार कायम है।

भाषाशास्त्री प्रायः यह मानते रहे हैं कि बोली का किसी भाषा के रूप में विकसित होने के पीछे उसका व्यवस्थित, विकसित व विस्तारित होना आवश्यक है। किंतु भाषा कई बार शब्द से परे संकेतों और स्वर के स्तर पर अपनी बात को संप्रेषित करने की क्षमता रखती हैं। इस बात के प्रबल समर्थक हरिराम मीणा भी हैं और उनका मानना है कि स्वर, संकेत और प्रतीकों से युक्त भाषा का प्रयोग बिरसा मुण्डा ने वर्तमान झारखंड में, गोविंद गुरु ने राजस्थान में, जोरजी भगत ने गुजरात में किया और अण्डमान के जारवा व सेटेनली इस भाषा का इस्तेमाल करते रहे हैं। अतः कौन सी लिपि, व्याकरण और विस्तार इस भाषा को चाहिए अबोली या बोली से भाषा बनने के लिए जो अपनी बात कहने में पूर्णतः सक्षम रहती आयी है। इस मायने में आदिवासी भाषाओं, जिन्हें बोलियों के नाम से जाना जाता है, को 'आदिवासी भाषा' की संज्ञा देना उचित होगा। बिहार-झारखंड के एकाधिक आदिवासी समूहों की भाषा में अभिवादन के लिए 'जोहर' शब्द इस्तेमाल किया जाता है। राजस्थान में 'जुहार' या 'जुआरा' शब्द काम में लिया जाता है। अगर हम गहराई में जायें तो इस भाषा में स्वर व संकेतों के अलावा शब्दों के स्तर पर भी समानता दिखाई देती है। किंतु विडंबना यह रही है कि आदिवासी भाषा के मुद्दे पर

फादर हॉफमैन जैसे लोगों के अलावा किसी ने काम नहीं किया और जिन्हें हम हिंदी भाषा के विद्वान कहते हैं, किसी ने इस क्षेत्र में गंभीर एवं महत्वपूर्ण योगदान नहीं दिया। इसकी बड़ी वजह यही रही है कि आदिवासी समाज शेष समाज, जिसे मुख्य धारा का समाज कहा जाता है, से भौगोलिक स्तर पर अलग-थलग रहा और मध्यवर्गीय मानसिकता वाला शोधार्थी व अध्येता उस तक अभी भी पहुँच नहीं सका है।

7.6 आदिवासी व गैर आदिवासी रचनाकारों की दृष्टि में आदिवासी स्त्री की छवि

गैर-आदिवासियों का नज़रिया आदिवासी समाज के प्रति अक्सर रोमांटिक रहा है। खास तौर से वे आदिवासी परिवेश एवं स्त्री के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कल्पना के आकाश पर आरूढ़ नज़र आते हैं। यदि वे आदिवासियों के जीवन एवं संकट से सचमुच सरोकार रखते हैं तो उन्हें पता चलेगा कि उनका जीवन कितना कष्टप्रद एवं दुरूह है। जिस श्रम-सौंदर्य का वर्णन करते हुए प्रगतिवादी कवि अघाते नहीं फिरते वह सौंदर्य इनके यहाँ कई बार तो सहज रूप में दृष्टगत होता है। अतः समकालीन हिंदी कविता आदिवासी जीवन एवं उनके संकटों की गहरी समझ के लिए सौंदर्यशास्त्र के नए आख्यान रचने पर बल देती है जो कि परंपरागत सौंदर्यशास्त्र से भिन्न है और बिलकुल अलग भी-

"इसके बारे में सोच-सोच मेरे मन में नहीं फूटी
लाल-लाल पोरों वाली कोंपलाई चैती
मैं अदृश्य होने लगा
अपने ही केनवास से
और उभरने लगा उसमें
एक काला-कलूटा, बदशक्ल, भद्दा
अपढ़, उजड्ड, जंगली, नंगा इन्सान
जिनका सारा बदल लहूलुहान
चेहरे और छाती पर उभरे थे

जंगली सूअर के दाँतों के निशान
जाँघ और पिण्डलियों पर आई हुई थीं
नारियल के खुरदरे तनों की खरोंचे
समुद्र से भी खारा था जिसका लहू
जिंदा है जो आदिकाल से
-हूबहू
चूँकि-उसके शरीर में था गजब की ताकत
और अपने अस्तित्व को बचाए रखने का
-अकूत जीवट।"[20]

आदिवासी स्त्री की उन्मुक्त जीवन-शैली की मनगढ़ंत कथा-उपकथा तथाकथित सभ्य लोगों के बीच आज भी विद्यमान है। रामशरण जोशी जैसे प्रतिष्ठित बुद्धिजीवी जब 'हंस' पत्रिका में वर्षों पहले अपने संस्मरण में आदिवासी स्त्री के दैहिक भोग को चटकारे लेकर विस्तृत वर्णन करते हुए गर्वान्वित महसूस करते हैं तो आम आदमी की नीयत गरीब एवं असहाय आदिवासी स्त्रियों के प्रति क्या होगी इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। स्त्री-सशक्तीकरण के इस युग में आदिवासी स्त्री के श्रमशील सुघड़ जिंदगी की ओर पुरुषों की रुचि तो बिलकुल नहीं रह गयी है। वस्तुतः यह सच है कि किसी भी समाज की स्त्री चाहे वह आदिवासी जमात की ही क्यों न हो, पुरुषों के बनाये ढाँचे का प्रतिरोध करती है तो वह लांक्षित होती है या व्यवस्था द्वारा पागल घोषित कर दी जाती है। निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर सरिता सिंह बडाईक आदि की अधिकांश कविताएँ आज के चमक-दमक से दूर साधारण आदिवासी स्त्री के दुःख-दर्द के समूचे व्याकरण को समेटे हुए परंपरागत दृष्टि का विरोध करती नज़र आती है-

"क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण?

---

[20] सुबह के इंतजार में-पृ.37-38

बता सकते हो तुम

एक स्त्री को स्त्री-दृष्टि से देखते

उसके स्त्रीत्व की परिभाषा?

अगर नहीं

तो फिर क्या जानते हो तुम

रसोई और बिस्तर के गणित से परे

एक स्त्री के बारे में...?"[21]

निष्कर्ष

इस अध्याय के अंतर्गत आदिवासी व गैर-आदिवासी रचनाकारों के साहित्य में वर्णित आदिवासी स्त्री-छवि का विश्लेषण किया गया है। साथ ही महिला व पुरुष लेखकों का आदिवासी स्त्री के प्रति दृष्टि भेद पर भी विचार किया गया है। शिल्पगत उपकरणों में कथानक, चरित्र-चित्रण, वातावरण, संवाद-योजना, भाषा, उद्देश्य आदि के आदिवासी स्त्री जीवन के नये परिप्रेक्ष्य में देखा गया है।

* * *

[21] नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द-पृ.8

उपसंहार

भूमंडलीकृत वैश्विक परिदृश्य, सूचना-प्रौद्योगिकी एवं तकनीक के वर्चस्ववादी युग ने आम आदमी को बिल्कुल निहत्था एवं असहाय बनाकर छोड़ दिया है। मानव सभ्यता को पृथ्वी का सबसे उन्नत एवं विकासशील सभ्यता माना गया है, किंतु विकास के सही मायने का आकलन करें तो इसके कई त्रासद पहलू भी सामने नज़र आते हैं। आज अनेक ऐसी प्राचीनतम संस्कृतियाँ हैं जो या तो मृतप्राय हैं या फिर विलीन होने के कगार पर हैं। इसी प्रकार की विस्तृत श्रेणी में आदिम, जनजातीय अथवा आदिवासी जैसे नामों से जानी जानेवाली मानव समुदाय का एक बड़ा अंश शामिल है। जिसे हम पाँच हज़ार वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता कहते हैं, वह मूल रूप से हमारी आदिवासी सभ्यता ही है।

वर्तमान में आदिवासी शब्द के समानांतर कई शब्दों की अवधारणाएँ सामने आती हैं-गिरिजन, वनवासी, प्राचीन निवासी, अनुसूचित जनजाति, मूलवासी (इंडीजिनस), आदिम (अबोरिजनल), देशीय (नेटिव), आदिवासी इत्यादि। इनमें से अधिकांश किसी-न-किसी रूप में सीमित एवं एकांगी अर्थ को ध्वनित करते हैं। आदिवासी भारत की सांस्कृतिक स्थिति तथा समस्याओं को समझने के लिए यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस श्रेणी के सभी समूह पुरातन अवस्था के परंपरागत जीवन व्यतीत नहीं कर रहे हैं बल्कि पर-संस्कृति, संपर्क, आधुनिकीकरण के कारण उनकी जीवन-शैली और अस्तित्व में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए हैं।

हिंदी आलोचना में 'दलित' शब्द को व्यापकत्व प्रदान करते हुए इसके भीतर आदिवासी एवं अन्य हाशिये के लोगों को शामिल करने की ज़िद इस कदर हावी रही है कि आदिवासियों पर स्वतंत्र रूप से बात नहीं हो सकी या हुई भी तो महज सूचनात्मक रूप में। आदिवासियों का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश दलितों से भिन्न है। आदिवासियों के साथ अस्पृश्यता की समस्या उतनी बड़ी नहीं थी, चूँकि वे समाज से ही अलग-थलग रहते थे। उनके स्वाभिमान ने ही उन्हें मुख्यधारा से दूर

वन-कंदराओं आदि में रहने को बाध्य किया। इसलिए 'आदिवासी' एक राजनीतिक अवधारणा है, जबकि 'दलित' एक सामाजिक अवधारणा है।

आदिवासी साहित्य वनसंस्कृति से संबंधित उन वंचितों का इतिहास है, जिनके प्रश्नों के उत्तर अतीत में कभी दिये ही नहीं गये। वस्तुतः गैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासी समुदाय के प्रति रोमानी, भावुक व पूर्वाग्रह से युक्त दृष्टिकोण ही आदिवासी जीवन-संसार के सच को मार्मिक नहीं बना पाता। साथ ही परिवेशगत दूरी इस खाई को और भी चौड़ा बना देती है। आदिवासियों की यातना व वेदना अन्य समुदायों से नितांत भिन्न होने के कारण गैर-आदिवासियों की रचना महज सतही विश्लेषण या दूर से किया गया निरीक्षण मात्र हो सकता है। अतः आदिवासी साहित्य का लेखन प्रभावपूर्ण व तार्किक आदिवासी साहित्यकारों द्वारा ही संभव हो सकता है। प्राथमिक रूप में आदिवासी साहित्य पहचान के सवाल से जुड़ा है, अतः केवल आदिवासी ही सच्चा आदिवासी साहित्य लिख सकता है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है, किंतु आदिवासी साहित्य लेखन के अंतर्गत गैर-आदिवासियों को भी शामिल करने की पहल कतिपय आदिवासी चिंतक व लेखक करते हैं।

जहाँ तक इस शोध-प्रबंध का सवाल है; 'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री', विषय के अंतर्गत मूल रूप से हिंदी में उपलब्ध आदिवासी व गैर-आदिवासी लेखकों की रचनाओं को शामिल किया गया है। हिंदी में आदिवासी लेखन अल्प मात्रा में होने के कारण ऐसा करना पड़ा। आदिवासी जीवन से संबंधित साहित्य में आदिवासी स्त्री को ही शोध का विषय बनाया गया है। हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री की उपस्थिति सही मायने में स्वातंत्र्योत्तर परिवेश से ही दिखलाई पड़ती है। इसके पहले (स्वतंत्रता पूर्व) भी स्त्री की छवि छिट-पुट रूप से हिंदी में मिल तो जाते हैं, किंतु आधुनिक काल से पहले आदिवासी के स्वरूप को लेकर विविध आलोचकों में मतभेद की स्थिति है। भले ही लेखन आँचलिक उपन्यासों के समय से हो, किंतु आदिवासी स्त्री की छवि रचनाओं में औपनिवेशिक समय से ही आरंभ होता है। वर्तमान समय में आदिवासी जमात पर छाया संकट कोई नया नहीं है, वरन् आर्यों के समय से ही इन्हें लगातार छला गया। समय के साथ मजबूरन समझौता करते हुए

आदिवासियों ने अपने अस्तित्व को कायम रखने हेतु कभी वन-गुफाओं में तो कभी कंदराओं में शरण लिया। किंतु तमाम झंझावाताओं को सहते हुए औपनिवेशिक सत्ता के व्यवस्थित एवं सुनियोजित रणनीति के छल भरे कारनामों से वे लहू-लुहान होकर अपने जीवन-अस्तित्व को कायम रख सकने में अक्षम हो रहे हैं। ब्रिटिश औपनिवेशिक दासता ने भारत के आदिवासियों के अस्तित्व को किस प्रकार संकटग्रस्त कर दिया, इसका सटीक विश्लेषण 'धूणी तपे तीर' (हरिराम मीणा), 'जो इतिहास में नहीं है' (राकेश कुमार सिंह), 'बाजत अनहद ढोल' (मधुकर सिंह) तथा हाल ही में प्रकाशित 'मगरी मानगढ़' उपन्यास (राजेंद्र मोहन भटनागर) करते हैं। स्थायी बंदोबस्त के फलस्वरूप अंग्रेज़ों ने आदिवासियों के जल-जंगल-जमीन के नैसर्गिक अधिकारों से उन्हें बेदखल कर दिया। यहाँ के जमींदारों एवं साहूकारों से समझौता कर अंग्रेज़ों ने आदिवासियों को जीवन जीने के प्राकृतिक अधिकारों से भी वंचित कर डाला। अतः अपने अस्तित्व पर छाये संकट को दूर करने के लिए आदिवासियों ने व्यापक मुक्तिकामी संघर्ष छेड़ दिया। उपन्यासों में वर्णित विविध आंदोलन महज विद्रोह नहीं, वरन् अपनी अस्मिता, स्वायत्तता और संस्कृति के लिए आदिवासियों का मुक्तिकामी संघर्ष था। इस मुक्तिकामी संघर्ष में आदिवासी स्त्री की निर्णायक भूमिका रही है।

'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्रीःआत्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ' के अंतर्गत आदिवासी स्त्री के व्यक्तिगत, पारिवारिक जीवन से लेकर सामाजिक संबंधों में उनकी स्थिति का विश्लेषण किया गया है। आत्मगत स्तर पर विवाह से पूर्व युवती के प्रेम संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। पुरुष के साथ आदिवासी स्त्री का नेह संबंध एक ओर युवागृह की संस्कृति में प्रगाढ़ होता है तो दूसरी ओर उसके बाहर भी। साहित्य में इन दोनों प्रकार के प्रेम संबंधों की अभिव्यक्ति मिली है। सामाजिक संदर्भ में आदिवासी स्त्री के जीवन पर प्रभाव डालने वाले विविध कारकों यथा-जन्म एवं स्वास्थ्य, शिक्षा/साक्षरता, विवाह, स्त्री की विविध स्थिति, सामाजिक सक्रियता, विस्थापन, स्त्री-शोषण के विविध कारकों आदि का जिक्र हुआ है। विवाह किसी भी स्त्री के भावी जीवन के लिए निर्णायक होता है।

आदिवासियों में विवाह की पद्धति न केवल विशिष्ट है, बल्कि अलग भी। अपहरण विवाह, क्रय-विवाह, सह-पलायन-विवाह, सेवा-विवाह आदि का वर्णन आदिवासी साहित्य में हुआ है। विवाह की प्राचीन पद्धति के तहत जब कोई पुरुष एक स्त्री को बलपूर्वक उसके गाँव से छीनता है तो यह अपहरण विवाह के रूप में जाना जाता है। नागा जीवन पर केंद्रित 'रक्तयात्रा' उपन्यास में इसका उल्लेख मिलता है। सामाजिक बंधनों के बीच अपहरण विवाह का ही एक रूप 'इतुत बाप्ला' का उदाहरण 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में मिलता है। कन्या मूल्य देकर विवाह संपन्न करने की विधि 'क्रय-विवाह' कहलाता है। वधू-मूल्य की अधिकता के कारण युवक-युवती अपनी इच्छा से भाग कर रहने लगते हैं, जिसे बाद में सामाजिक वैधता मिलती है। इसे 'सह-पलायन' विवाह के रूप में जाना जाता है। 'क्रय-विवाह' एवं 'सह-पलायन विवाह' का उदाहरण 'वन के मन में' मिलता है। आर्थिक विपन्नता के कारण कन्या मूल्य न दे सकने पर कन्या के पिता के यहाँ नौकर के रूप में सेवा करने और उसके फलस्वरूप विवाह करने को 'सेवा-विवाह' कहा जाता है। गोंड में इसे 'लमसेना' कहा जाता है। 'अधिमान्य-विवाह' के अंतर्गत निकट की रिश्तेदारी में विवाह को प्राथमिकता दी जाती है, गोंड इसे 'दूध लौटाना' कहते हैं। सेवा-विवाह एवं अधिमान्य-विवाह का वर्णन 'जंगल के फूल' उपन्यास में हुआ है।

प्रत्येक आदिवासी गाँव में सामाजिक कार्यक्रम, समाज के प्रमुख सदस्य (मुखिया) के माध्यम से संपन्न किया जाता है, जिसे 'ग्राम अधिकारी' कहा जाता है। हर आदिवासी समूह में इसके भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित हैं। मुखिया गाँव के सामाजिक व धार्मिक कार्य के प्रति उत्तरदायी होता है। मुखिया अक्सर विश्वसनीय होता है, अतः आदिवासी स्त्री सहज रूप से इन कार्यक्रमों में भाग लेती है। सामाजिक व धार्मिक कार्यक्रमों में आदिवासी स्त्री की सक्रियता आदिवासी साहित्य में अक्सर मिलती है। ग्राम अधिकारी के साथ ग्राम पंचायत (बिरादरी) की भी व्यवस्था होती है, जिसका कार्य गाँव के विवादों को सुलझाना व संकट में सहायता करना होता है। विमुक्त कंजर आदिवासी समुदाय पर केंद्रित 'रेत' उपन्यास में पंचायत का महत्वपूर्ण दायित्व स्त्री के जिम्मे है। किंतु पंच के सदस्य जब पुरुष होते हैं तो उनका

न्याय स्त्री के प्रति अक्सर आक्रामक रुख अख्तियार कर लेता है! ‘सूरज किरण की छाँव’ उपन्यास में व ‘महुआ आम के जंगल’ कहानी-संग्रह में भी स्त्री को पंचायत द्वारा न्याय नहीं मिल पाता जिसके कारण उसकी जिंदगी त्रासद् हो जाती है। आदिवासी समुदाय परस्पर सहयोग की भावना से चालित होता है। सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में यह सामूहिक भावना नज़र आती है। सामूहिक जीवन-दृष्टि के कारण वे आसन्न संकटों को आसानी से झेल जाते हैं।

‘हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्रीःआर्थिक संदर्भ’ के अंतर्गत आदिवासी स्त्री की आर्थिक निर्भरता के विविध पहलुओं का जिक्र किया गया है। आदिवासी की अर्थ व्यवस्था परंपरागत रूप से मूलतः जंगलों पर निर्भर है। जंगल क्षेत्र के प्रथम निवासी होने के नाते वे वन उत्पादों पर अपना पहला हक समझते हैं। जंगल, आदिवासियों के रहने के स्थान के अलावा जीविका का साधन भी है। भोजन, ईंधन, लकड़ी, घरेलू सामग्री, जड़ी-बूटी, औषधियों, पशुओं के लिए चारा और कृषि औजारों की सामग्री के लिए वे निरंतर वनों पर आश्रित रहते हैं। इसलिए उनकी संस्कृति भी वनों (जंगल) से काफी प्रभावित है। वनों से आदिवासियों का संबंध महज आर्थिक नहीं, वरन् मनोवैज्ञानिक भी है। आर्थिक हितों की पूर्ति हेतु औपनिवेशिक शासक अंग्रेज़ तथा देसी शासकों ने लगातार आदिवासी समाज के प्रति उपेक्षापूर्ण नीति को अपनाते हुए स्वार्थ के आधार पर वन नीतियों का निर्माण किया। वन नीतियाँ पूँजीपतियों, ठेकेदारों एवं उद्योगपतियों के हितों के ज्यादा करीब रहीं, जबकि इसके दुष्परिणाम स्वरूप वर्तमान में आदिवासी समाज अपने परंपरागत वनोपज से वंचित होकर दर-दर की ठोकर खाते हुए श्रमिक बनने की त्रासद् स्थिति में पहुँच गया है। इस स्थिति का उल्लेख ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में दिखाई देता है। नई स्थिति में अपने परंपरागत अधिकारों को लेकर आदिवासी समाज का वन अधिकारियों व सत्ता के बिचौलियों के बीच आये दिन संघर्ष एवं टकराहट होने लगे, जिसका जिक्र भी साहित्य में मिलता है।

वन पर आधृत परंपरागत अर्थव्यवस्था में आदिवासी स्त्री तीन रूपों में अपनी भूमिका उजागर करती है-खाद्य संग्रहन, शिकार तथा मत्स्यपालन। नई वन

नीति के फलस्वरूप जंगल से वनोपज संग्रह करने के दौरान अक्सर आदिवासी स्त्री को वन-अधिकारियों के अत्याचार का शिकार होना पड़ता है। शिकार में स्त्री की अप्रत्यक्ष भागीदारी रही है। वह इसके आयोजनों में अपने पुरुष साथियों के उत्साह-वर्द्धन के अलावा शिकार करके लायी गयी सामग्री को खाने लायक बनाने में मदद करती है। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में कोली आदिवासी जनजाति द्वारा मछली पकड़ने के व्यवसाय का जिक्र हुआ है। इसमें स्त्री का प्रमुख योगदान होता है, किंतु नई पीढ़ी की युवती में इस व्यवस्था के प्रति वितृष्णा का भाव देखने को मिलता है। वनोपज के इतर कृषि पर निर्भरता आदिवासियों की आरंभ से रही है। कृषि साधारणतः दो रूपों में प्रचलित है-झूम व स्थायी। झूम खेती में स्त्री की अहम भूमिका रहती है, जिसका जिक्र 'जंगल के फूल' उपन्यास में हुआ है। जंगल को काटकर खेती लायक बनाने में वे पुरुषों के साथ मिलकर काम करती हैं। वन संरक्षण के नाम पर झूम खेती को प्रतिबंधित कर दिया गया है। सभ्य समाज के संपर्क, झूम खेती में अत्यधिक श्रम व अलाभकारी होने के कारण उरॉव, मुण्डा, थारू, गौंड, भील आदि स्थायी कृषि से जुड़ गए हैं। किंतु साहूकार एवं जमींदारों के द्वारा आये दिन इन्हें शोषित किया जाता है। आदिवासी समाज में परंपरागत आर्थिक क्रियाकलापों का महत्वपूर्ण जगह है-हाट। इसमें आदिवासी, विशेषकर स्त्रियाँ, अपनी चीज़ों को बेचती हैं तथा आवश्यक सामानों की पूर्ति विनिमय-पद्धति द्वारा करती हैं। अक्सर बाजार की समझ न होने पर इन्हें ठगा जाता है। आदिवासी स्त्रियों के लिए हाट-बाजार सिर्फ आर्थिक जरूरतों हेतु नहीं, वरन् इष्ट मित्रों से मिलने एवं अपने प्रणय-व्यापार को संपादित करने का भी जरिया है, जिसका चित्रण 'पठार पर कोहरा', 'वन के मन में', 'सूरज किरण की छाँव' आदि उपन्यासों में दिखाई देता है।

कुछ आदिवासी समुदाय अपने परंपरागत लोक-कलाओं यथा-नाच-गाना, कलाबाजी, सर्प-नृत्य आदि के द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं। इन आदिवासी विमुक्त जनजातियों में नट, सपेरा, मदारी, गारद आदि हैं। 'मृगनयनी', 'कब तक पुकारूँ', 'शैलूष' आदि उपन्यासों में नट स्त्री के क्रियाकलापों का सूक्ष्म रूप में चित्रण हुआ है।

इस समाज में नैतिकता सभ्य समाज की तरह ओढ़ा नहीं रहता है। 'मृगनयनी' में नट स्त्री की नकारात्मक छवि वर्णित है, जबकि अन्य में संघर्षशील स्त्री के रूप में। 'जंगल के फूल' उपन्यास में गोंड स्त्री द्वारा गुदने गुदवाने की परंपरागत कला का भी जिक्र हुआ है।

दरअसल शहरीकरण व औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने अपने पारंपरिक संसाधनों से वंचित आदिवासी समाज को श्रमिक बनने की त्रासद नियति की ओर ढकेल दिया है। अपने ही खेत व जगह से बेदखल यह समुदाय एक ओर खेतिहर मजदूर बनने को अभिशप्त है, तो दूसरी तरफ शहर के औद्योगिक इकाइयों में औद्योगिक मजदूर। परंपरागत मूल्य व मान्यताओं को तहस-नहस कर औद्योगिक क्षेत्र लगातार इन्हें कुप्रवृत्तियों की ओर उन्मुख करते हैं। श्रमिक के रूप में आदिवासी स्त्री न केवल शारीरिक रूप से शोषित होती है, बल्कि मानसिक रूप से भी। इन पहलुओं का सूक्ष्म रूप हमें 'पाँव तले की दूब', 'सावधान नीचे आग है', 'धार', 'सीता-मौसी', 'ग्लोबल गाँव के देवता' आदि उपन्यासों में दिखाई देते हैं। आर्थिक बदहाली के कारण असंगठित रहते हुए नौकर के रूप में शहर के सभ्य परिवारों में भी आदिवासी स्त्री का शोषण होता है। 'लौटते हुए' उपन्यास इसका पुख्ता प्रमाण पेश करता है।

अपराध-कर्म से जुड़े व्यवसाय को चित्रित करने में 'रेत' व 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास का नाम प्रमुख है। दोनों उपन्यासों में आदिवासी स्त्री को पर्याप्त रूप से स्पेस मिला है। 'रेत' उपन्यास में विमुक्त आदिवासी समुदाय कंजर की स्त्रियों द्वारा देह-व्यापार का बेबाक चित्रण हुआ है। इसमें कंजर स्त्री द्वारा देह-व्यापार को अपना कर्म मानते हुए कहीं भी हीनता की ग्रंथि नहीं दिखाई देती। दरअसल इस परिवार में देह-व्यापार में शामिल स्त्री को 'बुआ' कहा जाता है, जो कि परिवार की मुखिया होती है। जबकि देह-व्यापार से परे रहनेवाली को भाभी कहा जाता है। भाभी का जीवन नारकीय होता है, क्योंकि घर के सारे कामों को उसे कोल्हू के बैल की तरह करना पड़ता है, साथ ही वह स्वतंत्र भी नहीं होती। कबूतरा जनजाति का मुख्य पेशा चोरी, दारू बनाना आदि रहा है। किंतु अपने पुरुष के इस गैरकानूनी काम की

कीमत अक्सर उनकी स्त्रियों को सभ्य समाज व पुलिस के दैहिक हिंसा के रूप में चुकानी पड़ती है, जिसका उल्लेख 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में हुआ है।

'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्री: धार्मिक संदर्भ' के अंतर्गत आदिवासियों के धार्मिक आस्थाओं एवं क्रियाकलापों में स्त्री की स्थिति की पड़ताल की गई है। विश्व में स्थापित धर्म व्यवस्थाओं से इनका धर्म बिल्कुल अलग है। प्रकृति से जुड़े विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से आदिवासी अपनी धार्मिक आस्था व्यक्त करते हैं, जो कि जीवन से सहज रूप में जुड़ा हुआ है। इनके देवता (सिड़बोंगा, धर्मेस इत्यादि) मनुष्य के सामाजिक संबंधों में जुड़े होते हैं। अतः भगवान के प्रतीक रूप में कृत्रिम चीज़ों मंदिर, गिरजाघर इत्यादि अनावश्यक हैं। 'आदि धरम व्यवस्था' में ईश्वर से साक्षात्कार की प्रक्रिया में न किसी मध्यस्थता (पंडित, मौलवी, पादरी इत्यादि) की जरूरत है, न ही समाज विरोधी दृष्टिकोण स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य व अवतारवाद की। समाज विरोधी काम को यहाँ नरक की संज्ञा दी जाती है। आदिवासी धार्मिक आस्थाओं को सारना,जाहिरा, सारि, संसारी, बाथउ, दोनिपोलो इत्यादि नामों से जाना जाता है। जीववाद, प्रकृतिवाद, बोंगावाद, टोटमवाद, बहुदेववाद, जादूवाद, पूर्वज-पूजा, वर्जना (टैबू), शमनवाद, शिरोच्छेदन आदि जैसे धार्मिक विश्वास के कारक आदिवासी समाज में मौजूद रहते हैं। प्रकृति-शक्ति के दो-रूपों देवता व भूतादि के प्रति विश्वास बोंगावाद के नाम से जाना जाता है। भूतादि के प्रति विश्वास के कारण समाज में आये दिन आदिवासी स्त्री को डायन, चुड़ैल कहकर प्रताड़ित किया जाता है। धर्म के ठेकेदारों द्वारा स्त्री के प्रति नकारात्मक मिथ (भूतिन-डायन आदि) रचकर अपमानित करना विज्ञान व प्रविधि के इस युग में लज्जास्पद बात है, जिसका रेखांकन 'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में हुआ है। प्रकृति से गहरी आत्मीयता के कारण आदिवासी प्रकृति में देवता का वास देखते हैं और इसकी पूजा करते हैं। दरअसल जीवन में आये संकट को दूर करने का प्रयास आदिम समुदाय धार्मिक कृत्य द्वारा या ओझागिरी से करता है, जिसे शमनवाद के नाम से भी जाना जाता है। 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास में पुलिस द्वारा थारू आदिवासी स्त्री को पीटे जाने पर उसका इलाज स्थानीय ओझा से करवाने पर उसकी हालत और भी

गंभीर हो जाती है। अशिक्षा एवं अंधविश्वासों के कारण प्रायः आदिवासी स्त्रियाँ आये दिन प्रताड़ित होती हैं। आदिवासी समाज में कुछ वर्जनाएँ भी हैं यथा मासिक धर्म के समय स्त्री कृषि कार्य नहीं कर सकती। इसके साथ इस समाज में अनेक देवी-देवताएँ मान्य हैं यथा-'जंगल के फूल' उपन्यास में नारायणदेव व नारकी देवी, 'शैलूष' में मान गुरु-कुल देवी नथिया, 'सागर, लहरें और मनुष्य' में खंडला देवता, 'कब तक पुकारूँ' में हनुमान, कैलावरी मैया, घाट वाले भैरों आदि का जिक्र हुआ है।

जहाँ तक धर्मांतरण का सवाल है, निस्संदेह धर्मांतरण के फलस्वरूप ईसाई धर्म को अपनाने पर आदिवासियों के जीवन में प्रकाश आया। किंतु धर्म का मूल संदेश मानवीयता की जगह धर्म के प्रचार पर ज्यादा बल देने के कारण व्यापक समाज का भला नहीं हो सका। सेवा के नाम पर आदिवासी स्त्री को संपूर्ण जीवन बलिदान करने के लिए प्रेरित किया जाने लगा। इसका सूक्ष्म चित्रण 'काला पादरी' व 'सूरज किरन की छाँव' उपन्यास में हुआ है। जबकि हिंदू धर्म के ठेकेदारों ने 'घर वापसी' के नाम पर आदिवासियों के बीच न केवल विष बोने का काम किया, बल्कि ईसाई मिशनों द्वारा मिल रही सुविधाओं से भी वंचित कर अंधेरे में रहने को अभिशप्त किया। धर्म के नाम पर ढोंगी बाबाओं द्वारा छोटी बच्चियों से दुष्कर्म की घटनाएँ बढ़ने लगीं, जिसका संकेत 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में हुआ है।

'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्रीःसांस्कृतिक संदर्भ' के अंतर्गत आदिवासी स्त्री के लोक-संस्कृति से जुड़े विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है, जिनमें प्रमुख हैं-लोक-कथा, लोक-गीत, लोक-नृत्य, लोक-विश्वास, पर्व-त्यौहार, प्रकृति-प्रेम, युवा-गृह, आखेटन, गुदना आदि। दरअसल आदिवासी समाज में पशु, प्रकृति, मनुष्य आदि से संबंधित चीज़ों की उत्पत्ति कथाएँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं, वरन् परंपरागत रूप से चली आ रही मान्यताओं व किंवदंतियों के रूप में प्रचलित हैं। ये कथाएँ आदिवासियों के वैभव-पूर्ण अतीत का जिक्र करते हैं, वहीं छले गए जीवन दंश का भी। लोक-कथाएँ भी किस प्रकार स्त्री की छवि को विकृत करने में निर्णायक भूमिका निभाती रही हैं। इसका सशक्त उदाहरण है-'ग्लोबल गाँव के देवता' इस

उपन्यास में असुर स्त्री का भूत-पिशाच आदि के रूप में वर्णन। आदिवासियों ने जीवन की कठोरता को रसमय बनाने के लिए लोक-गीतों एवं लोक-नृत्यों का आश्रय लिया। विविध राग, नृत्य और वाद्ययंत्र के लय-ताल के अनुसरण पर अज्ञात लोक-कवियों द्वारा विरचित लोक-गीत आज भी परंपरा से जुड़कर उनके जीवन को गतिशील बनाए हुए है। सभ्य समाज की स्त्रियों की बनिस्पत आदिवासी स्त्री गीत व नृत्य में स्वच्छंद होकर सम्मिलित होती है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत गाने का रिवाज इस समाज की अपनी विशेषता है। 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में गेर-नृत्य का वर्णन हुआ है, वहीं मंजु ज्योत्सना की कहानी 'जग जगी जमीन' में डूमर, डोमकच आदि लोक-नृत्यों का सजीव चित्रण हुआ है।

विज्ञान की तमाम प्रगति के बावजूद आदिवासी समाज में जीने के अपने परंपरागत नियम हैं। इस समाज में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य आरंभ करने से पहले शगुन-अपशगुन का विचार जरूर किया जाता है, ताकि भविष्य में कोई संकट न हो। हिंदू संस्कृति के संपर्क से आदिवासियों में भी शगुन-अपशगुन जैसे चिंतन होने लगे। गुदना गुदाने का रिवाज आदिवासी स्त्री में विशेष रूप से प्रचलित है। यह एक तरह का अंधविश्वास भी है। गुदना यहाँ स्त्री की सुंदरता के प्रतीक होने के साथ नरक से मुक्ति का साधन भी माना जाता है। गुदना गुदाने के फलस्वरूप आदिवासी स्त्री को मनचाहा प्रेमी का प्यार मिल सकता है, ऐसा विश्वास भी किया जाता है। इस बात का जिक्र 'जंगल के फूल' उपन्यास में हुआ है। आखेट आदिवासी जीवन-संस्कृति का अनिवार्य हिस्सा रहा है, किंतु वन-नियमों के कारण अब परंपरागत आखेट पर पाबंदी लगा दी गई है। हालाँकि आखेट करते हुए साहित्य में बहुलांशतः चित्र पुरुषों के मिलते हैं, तथापि शिकार के लिए भेजते समय स्त्री की उपस्थिति महत्वपूर्ण रही है। 'जो इतिहास में नहीं है' तथा 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में उराँव स्त्रियों द्वारा 'जनीशिकार' का वर्णन मिलता है। जनीशिकार परंपरागत आदिवासी स्त्रियों के शौर्य को पुनः स्मरण करने का अहम हिस्सा है। वर्तमान परिवेश में बदलाव की कामना हेतु जनी-शिकार का आह्वान ग्रेस कुजूर की कविता 'एक और जनी-शिकार' में किया गया है। युवागृह को उराँव लोग

'घुमुकुड़िया', गोंड 'गोटुल', छोटानागपुर के मुण्डा तथा 'हो' आदिवासी 'गिटिओरा' नाम से पुकारते हैं। आदिवासियों का युवागृह सभ्य समाज की दृष्टि में कामुकता का पर्याय रहा है। आर्थिक व धार्मिक कार्यों में संयुक्त सक्रियता, सामाजिक तथा यौन-व्यवहारों के प्रशिक्षण में युवागृह की महती भूमिका रही है। सभ्य समाज के संपर्क व अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार से युवागृह की परंपरा अब समाप्तप्राय है।

'हिंदी आदिवासी साहित्य में स्त्रीःअभिव्यक्ति के विविध आयाम' शीर्षक के अंतर्गत आदिवासी व गैर-आदिवासी रचनाकारों के साहित्य में वर्णित आदिवासी स्त्री-छवि का विश्लेषण किया गया है। साथ ही महिला व पुरुष लेखकों का आदिवासी स्त्री के प्रति दृष्टि भेद पर भी विचार किया गया है। शिल्पगत उपकरणों में कथानक, चरित्र-चित्रण, वातावरण, संवाद-योजना, भाषा, उद्देश्य आदि को आदिवासी स्त्री जीवन के नये परिप्रेक्ष्य में देखा गया है।

हिंदी आदिवासी साहित्य में आदिवासी स्त्री जीवन के तनावों, दुःखों, यातनाओं और इन सबके बीच उसके अस्तित्व की जद्दोजहद और विपरीत परिस्थितियों से जूझते हुए निरंतर संघर्ष करने की शक्ति को रेखांकित किया गया है। आदिवासी स्त्री जीवन अपनी धड़कनों, जीवंतताओं और प्रामाणिकता के साथ यहाँ विद्यमान है। इस साहित्य में आदिवासी स्त्री जीवन के विविध पहलुओं का जिक्र मिलता है। यहाँ उस जनजीवन का वर्णन है, जो शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति के आलोक वृत्त से बाहर है। यह हाशिए पर ठिठका खड़ा वह विराट जनजीवन है, जो ज्ञान अथवा सिद्धांत से नहीं बल्कि अपने विश्वासों, संस्कारों और रीति-रिवाजों से संचालित होता है, उससे रस ग्रहण करता है और उन्हीं संस्कारों एवं रीति-रिवाजों के प्रकाश में अपने जीवन-मूल्यों तथा अस्मिता को परिभाषित करता है। किंतु सभ्यता के घेरे से बाहर इस समुदाय को प्रकाश एवं दिशा देने का दायित्व हम सबों पर है। आनेवाले दिनों में यह दायित्व हम किस रूप में पूरा करते हैं, उनकी अस्मिता को सुरक्षित रखते हुए, यह सवाल इतिहास के छोर पर टँगा रहेगा।

* * *

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

उपन्यास

1. पुष्पा, मैत्रेयी, अल्मा कबूतरी, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2009 (पेपरबैक)
2. राघव, रांगेय, कब तक पुकारूँ, राजपाल एंड संज, दिल्ली, संस्करण 2009
3. वर्मा, वृंदावनलाल, कचनार, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008
4. मोरवाल, भगवानदास, काला पहाड़, राधाकृष्ण प्रा.लि., दिल्ली, पहला संस्करण 2004 (पेपरबैक)
5. तेजिन्दर, काला पादरी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, (पेपरबैक)
6. काँकरिया, मधु, खुले गगन के लाल सितारे, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, पहली आवृत्ति 2007
7. पाठक, मनमोहन, गगन घटा घहरानी, कतार प्रकाशन, धनबाद, प्रथम संस्कारण 1991
8. सिन्हा, किशोर कुमार, गाथा भोगनपुरी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1997
9. गोस्वामी, श्रवण कुमार, चक्रव्यूह, राजपाल एंड संज, दिल्ली, संस्करण 1994
10. वत्स, राकेश, जंगल के आसपास, राजपाल एंड संज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1980
11. अवस्थी, राजेंद्र, जंगल के फूल, राजपाल एंड संज, दिल्ली, संस्करण 1996

12. संजीव, जंगल जहाँ शुरू होता है, राधाकृष्ण प्रा.लि., नई दिल्ली, पहला संस्करण 2010
13. सिंह, राकेश कुमार, जो इतिहास में नहीं है, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण 2005
14. 'श्यामल', श्याम बिहारी, धपेल, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली, पहला संस्करण 1998
15. संजीव, धार,राधाकृष्ण प्रा.लि., नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति 1997
16. मीणा, हरिराम, धूणी तपे तीर, साहित्य उपक्रम, प्रथम संस्करण 2008
17. सिंह, राकेश कुमार, पठार पर कोहरा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2005
18. प्रीतम, संतोष, पलास के फूल, प्रणेता प्रकाशन, राँची, प्रथम संस्करण 1985
19. संजीव, पाँव तले की दूब, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, पहली आवृत्ति पॉकेट बुक, संस्करण 2005
20. सिंह, मधुकर, बाजत अनहद ढोल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2007
21. वर्मा, वृंदावनलाल, मृगनयनी, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
22. शर्मा, सोहन, मीणा घाटी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1996
23. मोरवाल, भगवानदास, रेत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति, 2009
24. सिन्हा, योगेंद्र नाथ, वनलक्ष्मी, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1956
25. सिन्हा, योगेंद्र नाथ, वन के मन में, आत्माराम एंड संज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1962

26. सिंह, शिवप्रसाद, शैलूष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1989
27. ओझा, भालचंद्र, साँवला पानी, अभिज्ञान प्रकाशन, राँची, प्रथम संस्करण 1967
28. भट्ट, उदयशंकर, सागर, लहरें और मनुष्य, आत्मराम एंड संज, दिल्ली, संस्करण 2010
29. संजीव, सावधान! नीचे आग है, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2000
30. अवस्थी, राजेंद्र, सूरज किरण की छाँव, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1997
31. गुप्ता, रमणिका, सीता-मौसी, ज्योतिलोक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2010
32. एक्का, पीटर पौल, जंगल के गीत, सत्य भारती प्रकाशन, राँची, प्रथम संस्करण, 1999
33. सत्यार्थी, देवेंद्र, रथ के पहिए, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1993
34. भिक्खु, रक्तयात्रा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1978
35. मिश्र, श्रीप्रकाश, जहाँ बाँस फूलती हैं, पार्श्व पब्लिकेशन, अहमदाबाद,प्रथम संस्करण1997
36. रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009
37. 'तरुण', वाल्टर भेंगरा, लौटते हुए, सत्य भारती प्रकाशन, राँची, प्रथम संस्करण, 2005
38. मुण्डा, मंगल सिंह, छैला सन्दु, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2004
39. कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1999

40. कुमार, विनोद, मिशन झारखंड, शुभदा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006

41. जोशी, हिमांशु, सु-राज, राजपाल एंड संज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982

42. सिंह, पुन्नी, सहराना, ग्रंथकेतन, दिल्ली, संस्करण 2010

कविता/कविता-संग्रह

1. सिंह, ठाकुर प्रसाद, वंशी और मादल, नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1959

2. मीणा, हरिराम, हाँ चाँद मेरा है, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली 1999

3. मीणा, हरिराम, रोया नहीं था यक्ष, जगतराम एंड संस, प्रथम संस्करण, दिल्ली 2003

4. मीणा, हरिराम, सुबह के इंतजार में, अक्षर शिल्पी, दिल्ली, संस्करण 2008

5. सिंह, कुमारेंद्र पारसनाथ, बोलो मोहन गाँजू, लोकमित्र, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2008

6. श्रीवास्तव, एकांत, नागकेशर का देश यह, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्मरण 2009

7. आदिवासी कविता अंक (अरावली उद्घोष पत्रिका, सितंबर 2008)

8. शशि, श्याम सिंह, एकलव्य और अन्य कविताएँ, अग्निधारा, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990

9. रणेंद्र, थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ, शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण 2010

कहानी/कहानी-संग्रह

1. अवस्थी, राजेंद्र, महुआ आम के जंगल, राजेश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1984

2. संजीव, आप यहाँ हैं, अक्षर प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली 1984

3. मीणा, एस.एल., आखिर कब तक, प्रेम प्रकाशन मंदिर, प्रथम संस्करण, 1992
4. एक्का, पीटर पौल, राजकुमारों के देश में, सत्यभारती प्रकाशन, राँची
5. संजीव, प्रेममुक्ति, दिशा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991
6. संजीव, दुनिया की सबसे हसीन औरत, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990
7. आदिवासी कहानी अंक (अरावली उद्घोष पत्रिका, मार्च 2008)
8. आदिवासी कहानी अंक-द्वितीय (अरावली उद्घोष पत्रिका, मार्च 2010
9. आदिवासी कहानी 'परिशिष्ट' (अरावली उद्घोष पत्रिका, जून-2008)
10. प्रत्यक्षा, जंगल के जादू तिल-तिल, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण 2009
11. गुप्ता, रमणिका, बहू-जुठाई, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, प्रथम संस्करण 1998

यात्रा वृत्तांत

1. मीणा, हरिराम, जंगल जंगल जलियांवाला, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2001
2. मीणा, हरिराम, साइबर सिटी से नंगे आदिवासियों तक, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2005
3. भारतीय यायावर साहित्य विशेषांक (भाषा पत्रिका, मई-जून 2006)
4. अवस्थी, राजेंद्र, शहर से दूर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1977

नाटक

1. सुलभ, हृषिकेश, धरती आबा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010
2. तनवीर, हबीब, हिरमा की अमर कहानी, राधाकृष्ण, दिल्ली, संस्करण 1983
3. प्यासा, घनश्याम, मोर्चा मानगढ़, बाँसवाडा, 2009

आलोचना

1. गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासी विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2008
2. गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2008
3. गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासी लोक, भाग-1 (लोक-अस्मिता), शिल्पायन, दिल्ली-संस्करण 2006
4. गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासी लोक, भाग-2, (लोक-संस्कृति) शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण 2006
5. तलवार, वीरभारत, झारखंड के आदिवासियों के बीच, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण 2008

विविध विधाएँ/अन्य विधाएँ

1. गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2004
2. शानी, शालवनों का द्वीप (कथात्मक विवरण), विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली, संस्करण 1978
3. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन (डायरी, नोट्स, जर्नल्स, यात्रा-संस्करण), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2000

4. अशेष, अनूप, आदिम देहों के अरण्य में घर (नवनीत), आशु प्रकाशन, इलाहाबाद 2009

संस्मरण

1. आदिवासी संस्मरण अंक (अरावली उद्घोष पत्रिका, सितंबर 2010)
2. जोशी, रामशरण (हंस पत्रिका, अक्तूबर-नवंबर 2004)

सहायक-ग्रंथ

1. हसनैन, नदीम, जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, छठा संस्करण, पुनः आवृत्ति 2004
2. उप्रेती, हरिश्चंद्र, भारतीय जनजातियाँ, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, तृतीय संस्करण 1993
3. दास, शिवतोष, भारत की जनजातियाँ, किताबघर, दिल्ली, संस्करण 1983
4. वर्मा, रूपचंद्र, भारतीय जनजातियाँ, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2003
5. श्रीवास्तव, ए.आर.एन., जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण 2002
6. श्रीवास्तव, ए.आर.एन., जनजातीय भारत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, द्वितीय (संशोधित-परिवर्धित) संस्करण 2007
7. शर्मा, श्रीनाथ, जनजातीय समाजशास्त्र, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पंचम आवृत्ति 2007
8. उपाध्याय, विजय शंकर तथा शर्मा, विजय प्रकाश, भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, नवम् (संशोधित), संस्करण 2007

9. दुबे, श्यामाचरण, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 1982

10. शुक्ल, प्रयागदत्त, अरण्य की-संस्कृति, विदर्भ हिंदी साहित्य सम्मेलन, नागपुर 1964

11. जैन, श्रीचंद्र, आदिवासियों के बीच, शिवानी बुक्स, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007

12. चौहान, कुमार तथा चौहान, श्रीमती रेनू (संपादक), आदिवासी स्वर-4 (सामाजिक-आर्थिक जीवन), स्वर्ण जयंती, दिल्ली, संस्करण 2005

13. गुप्ता, रमणिका (संपादन), शौर्य एवं विद्रोह, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2004

14. गुप्ता, रमणिका, निज घरे परदेसी (झारखंड के आदिवासियों पर केंद्रित), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004

15. गुप्ता, रमणिका, भारत के आदिवासी लेखकः परिचय एवं अवदान (भाग-1, पूर्वोत्तर भारत), कनसैप्ट पब्लिशिंग कंपनी, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006)

16. जोशी, रामशरण, आदिवासी समाज और शिक्षा, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 1997

17. गुप्ता, रमणिका (संकलन एवं संपादन), पूर्वोत्तर की आदिवासी कहानियाँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2009

18. मुण्डा, रामदयाल तथा मानकी, रतनसिंह, आदि धरम, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 2009

19. तिवारी, कनक, बस्तरःलाल क्रांति बनाम ग्रीन हंट, मेधा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010

20. चौहान, कुमार तथा चौहान, श्रीमती रेनू (संपादक), आदिवासी स्वर-2, (वाचिक परंपरा व साहित्य),आकृति प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006

21. मुण्डा, रामदयाल, आदिवासी साहित्य और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2004

22. शर्मा, ब्रह्मदेव, आदिवासी विकासःएक सैद्धांतिक विवेचन, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पंचम आवृत्ति 1999

23. गुप्ता, रमणिका (संपादक), आदिवासीःसाहित्य यात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2008

24. कुमार, उमेश, आदिवासी महिलाओं का शैक्षणिक एवं सामाजिक-आर्थिक अध्ययन, क्लासिक पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, संस्करण 2007

25. डॉ.बेचन, आँचलिक हिंदी उपन्यासःउद्‌भव और विकास, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1971

26. वैद्य, नरेश कुमार, जनजातीय विकास मिथक एवं यथार्थ, रावत पब्लिकेशन्स,जयपुर, 2003

27. शर्मा, डॉ.रामविलास, मानव सभ्यता विकास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1956

28. चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, लोकायत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1982

29. दास, शिवतोष, स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी, किताब घर, नयी दिल्ली, संस्करण 1996

30. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1956

31. ‘तृषित’, राजेंद्र अवस्थी, हमारे आदिवासी, बंबई प्रकाशन, बंबई, प्रथम संस्करण, 1962

32. नेहरू, जवाहरलाल, हिंदुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्यिक मंडल, दिल्ली, संस्करण 2006

33. शर्मा, बंशीराम, हिमालय की पौराणिक जन-जातियाँ, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985

34. मिश्र, डॉ.रामदरश तथा गुप्त, डॉ.जयचंद्र, हिंदी के आँचलिक उपन्यास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1984

35. जोशी, रामशरण, आदमी, बैल और सपने, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008

36. जैन, श्रीचंद्र, लोक-कथा विज्ञान, मंगल प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 1977

37. डॉ.बंशीधर, हिंदी के आँचलिक उपन्यासःसिद्धांत और समीक्षा, भाषा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983

38. शशि, डॉ.श्याम सिंह, आदिवासी भारतःकल और आज, जगतराम एंड संस, प्रथम संस्मरण 1984

39. मिश्र, रामदरश, हिंदी उपन्यासःएक अंतर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण 2001

40. गुप्त, ज्ञानचंद्र, आँचलिक उपन्यासःअनुभव और दृष्टि, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1995

41. सिंह, डॉ.मृत्यंजय, हिंदी के आँचलिक उपन्यास, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1989

42. चोपड़ा, डॉ.जगमोहन, आधुनिक हिंदी उपन्यास, विक्रांत प्रेस, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1982

43. श्रीवास्तव, लालाराय निरंजन/अवस्थी, भुवनेश्वर प्रसाद/ठाकुर, भगवत मुर्मू/समीर, डोमन साहू, संथाल जीवन एवं संस्कृति की एक झलक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली

44. पुतुल, निर्मला, अपने घर की तलाश में, (संथाली-हिंदी संकलन) रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली, संस्करण 2004

45. भेंगरा, रत्नाकर/बिजॉय, सी.आर.और लुइथुइ, शिमरीचॉन, भारत के आदिवासी, मायनॉरिटी राइट्स ग्रुप इंटरनेशनल, लंदन, हिंदी संस्करण (मेरठ) 2001

46. महिश्वर, हेमलता (संपादक), उनकी जिजीविषा उनका संघर्ष, समीक्षा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संस्करण 2006

47. राठोड, डॉ.श्यामराव, साठोत्तर हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जन-जीवन, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद, प्रथम संस्करण 2010

48. भांड, बाबा, अनुवादःठकार, निशिकांत, टंट्या, राधाकृष्ण, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2006

49. मदान, इंद्रनाथ, आधुनिकता और हिंदी-उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1981

50. मिश्र, डॉ.रामदरश, हिंदी उपन्यास के सौ वर्ष, गिरनार प्रकाशन, गुजरात, प्रथम संस्करण 1984

51. पाण्डेय, डॉ.इंदु, हिंदी के आँचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1979

52. शर्मा, सुभाषिनी, स्वातंत्र्योत्तर आँचलिक उपन्यास, संजय प्रकाशन, दिल्ली 1976

53. मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण 2004

54. राय, गोपाल, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

55. गुप्ता, रमणिका, स्त्री विमर्शःकलम और कुदाल के बहाने, शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण 2007

56. थोरात, विमल, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008

57. शर्मा, डॉ.सुनीता तथा किशोर, अमरेंद्र, ये माताएँ अनब्याही, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 2008 (पेपर बैक)

58. 'संदेश', डॉ.विजय कुमार/डॉ.नामदेव, दलित चेतना और स्त्री विमर्श, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009

59. मणेर, डॉ.शहाजहान, सामाजिक यथार्थ और कथाकार संजीव, श्रुति पब्लिकेशन्स, जयपुर, प्रथम संस्करण 2009

60. काशिद, गिरीश, कथाकार संजीव, शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण 2008

61. चाटुर्ज्या, डॉ.सुनीतिकुमार, भारत में आर्य और अनार्य, शासन साहित्य परिषद (सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय, मध्य प्रदेश) 1959

62. सिन्हा, सच्चिदानंद, जाति व्यवस्थाःमिथक, वास्तविक और चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण 1981

63. खलको, रेशमा, जनजातीय महिलाएँ, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006

64. कुमार, मिथिलेश, जनजातीय समाज में शिक्षा और आधुनिकीकरण, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007

65. गिल, डॉ.संजय, जनजातीय समाज एवं वनीय अंतर्निर्भरता, अंकुर प्रकाशन, उदयपुर, संस्करण 2007

66. सिंह, डॉ.वी.बी., जनजातियों का समाजशास्त्र, राजीव प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्मरण

67. चमनलाल, जिप्सीःभारत की विस्मृत संतति, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1984

68. झा, प्रफुल्ल रंजन, बरनवाल, दीपशिखा, भारतीय मानवशास्त्र, पीयूष बुक पब्लिकेशन्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2003

69. अरविंद, जनक, भारत के आदिवासी, दी इंडियन पब्लिकेशन्स, अंबाला छावनी, प्रथमावृत्ति

70. शशि, श्याम सिंह, भारत की पशुपालक जातियाँ, ज्ञान भारती प्रकाशन, प्रथम संस्मरण 1985

71. शशि, श्याम सिंह, भारत की आदिवासी महिलाएँ, समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1983

72. पाठक, डॉ.शोभनाथ, भीलों के बीच बीस वर्ष, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1983

अंग्रेज़ी ग्रंथ

1. Gupta, Ramanika (Ed.)., Tribal contemporary issues appraisal and intervention, concept publishing company, Delhi, First Edition, 2007
2. Varma, R.C., Indian Tribels-Through the Ages, publication division, Delhi, First Edition 1990
3. Bose, Nirmal Kumar, Tribal life in India, National book trust, New Delhi, Edition 2009

कोश ग्रंथ

1. शशि, डॉ.श्याम सिंह (संपादक), सामाजिक विज्ञान, हिंदी विश्वकोश, खंड-2
2. डॉ.नगेंद्र (संपादक), मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खंड, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1965
3. बसु, नगेंद्र, हिंदी विश्वकोश, ए.ए.बसु एवं बी.एन.बसु द्वारा प्रकाशन, कलकत्ता 1972
4. बाहरी, हरदेव, हिंदी शब्दकोश, राजपाल एंड संस, दिल्ली 2005
5. त्रिपाठी, कमलापति (प्रधान संपादक)/पाण्डेय, सुधाकर (संपादक):हिंदी विश्वकोश, (खंड-1), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण 1973
6. वर्मा, रामचंद्र (प्रधान संपादक), मानक हिंदी कोश (पहला खंड), हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण 2019 विक्रम

7. श्री नवलजी, नालंदा विशाल शब्द सागर, आदीश बुक डिपो, नई दिल्ली, संस्करण 1978
8. 'पर्वतीय', लीलाधर शर्मा, भारतीय संस्कृति कोश, राजपाल एंड संज, दिल्ली, संस्करण 1966
9. वर्मा, धीरेंद्र (प्रधान संपादक), हिंदी साहित्य कोश, भाग-1 (पारिभाषिक शब्दावली), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1985
10. Barfield, Thomas (Edited by), The Dictionary of Anthropology, Blackwell Publishing, Reprinted 2003

पत्र-पत्रिकाएँ

1. पथिक, बी.पी.वर्मा (संपा.), रमेश चंद्र मीणा (अतिथि संपा.), अरावली उद्घोष (आदिवासीःविकास से विस्थापन-विशेषांक), उदयपुर, सितंबर 2011
2. पथिक, बी.पी.वर्मा (संपा.), रमेश चंद्र मीणा (अतिथि संपा.), अरावली उद्घोष (नक्सलवाद पर विशेष सामग्री, उदयपुर, सितंबर, 2009
3. पथिक, बी.पी.वर्मा (संपा.), हरिराम मीणा (अतिथि संपा.), अरावली उद्घोष (आदिवासी कविता अंक), उदयपुर, सितंबर, 2008
4. पथिक, बी.पी.वर्मा (संपा.), शंकरलाल मीणा (अतिथि संपा.), अरावली उद्घोष (आदिवासी कहानी अंक), उदयपुर, मार्च 2008
5. पथिक, बी.पी.वर्मा (संपा.), भगीरथ (अतिथि संपा.), अरावली उद्घोष (आदिवासी कहानी परिशिष्ट), उदयपुर, जून 2008
6. राय रामजी (प्रधान संपा.), समकालीन जनमत (आदिवासीःमिथ और यथार्थ), पटना, सितंबर 2003

7. सिंह, प्रो.टी.मोहन (प्रधान सं.), प्रो.हेमराज मीणा (अतिथि संपा.), संकल्य (जनजातीय भाषा, साहित्य और संस्कृति विशेषांक), हैदराबाद, अक्तूबर 2010-मार्च 2011 (संयुक्तांक)

8. कालजयी, किशन (संपा.), सबलोग (आदिवासियत पर आँच), दिल्ली, जनवरी 2011

9. कालजयी, किशन (संपा.), सबलोग (नक्सलवाद और राजसत्ता), दिल्ली, दिसंबर 2009

10. सागर, शैलेंद्र (संपा.)/सिंह, राकेश कुमार (विशेष सहयोग), कथा क्रम (आदिवासी समाज और साहित्य विशेषांक), लखनऊ, अक्टूबर-दिसंबर 2011

11. शाह, के.आर. (संपा.), आदिवासी सत्ता, छत्तीसगढ़, अगस्त 2010-अब तक

12. मेहता, विनोद (प्रधान सं.), आउट लुक, नई दिल्ली, अप्रैल 2010

13. टेटे, वंदना, अखड़ा, झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति पर केंद्रित त्रैमासिक, (अनुज लुगुन पर विशेष), राँची

14. सिंह, नामवर (प्रधान सं.), श्रीवास्तव, परमानंद, आलोचना, दिल्ली, जुलाई-सितंबर 2001

15. मीणा, डॉ.रमेश चंद्र (प्रधान सं.), संक्षेपिका (आदिवासी समाज, दशा और दिशा), बूंदी, 14-15 दिसंबर, 2010

16. यादव, राजेंद्र, हंस, दिल्ली, अगस्त 1999

17. कदम, डॉ.राणू (प्रधान सं.), आदिवासी विमर्श, राष्ट्रीय संगोष्ठी, बार्शी, 2010

18. कौली, रीना सोनोवाल (प्रधान सं.), योजना (पूर्वोत्तर फ़ोकसःअसम), नयी दिल्ली, दिसंबर 2011

19. राय, रामजी (प्रधान सं.), समकालीन जनमत (वन अधिकार कानून और आदिवासी, जंगलराज के हवाले), इलाहाबाद, दिसंबर 2009

20. त्रिवेदी, डॉ.एच.वी. (प्रधान सं.), ट्राइब (जनजाति इतिहास विशेषांक), उदयपुर, 1997

21. मिश्रा, अनुराग (प्रधान सं.), योजना (नक्सलवाद पर), नयी दिल्ली, फरवरी 2007

22. राय, स्नेह (संपा.), कुरुक्षेत्र (महिला सशक्तीकरण), नई दिल्ली, मार्च 2007

23. कालिया, रवींद्र, नया ज्ञानोदय, दिल्ली, मार्च 2010

24. अखिलेश, तद्भव, लखनऊ, जुलाई 2010

25. शाही, अनिल/शुक्ल प्रेमशंकर (सह-संपा.), पूर्वग्रह, भोपाल, जुलाई-सितंबर, 2010

* * *

किया। वन नीतियाँ पूँजीपतियों, ठेकेदारों एवं उद्योगपतियों के हितों के ज्यादा करीब रही जबकि इसके दुष्परिणाम स्वरूप वर्तमान में आदिवासी समाज अपने परंपरागत वनोपज से वंचित होकर दर-दर की ठोकर खाते हुए श्रमिक मजदूर बनने की त्रासद् स्थिति में पहुँच गये हैं। नई वन नीति के फलस्वरूप जंगल से वनोपज संग्रह करने के दौरान अक्सर आदिवासी स्त्री को वन-अधिकारों के अत्याचार का शिकार होना पड़ता है। शिकार में स्त्री की अप्रत्यक्ष भागीदारी रही है वह इसके आयोजनों में अपने पुरुष साथियों का उत्साह वर्द्धन के अलावा शिकार करके लाये सामग्री को खाद्य लायक बनाने में मदद करती है। सभ्य समाज के संपर्क, झूम खेती में अत्यधिक श्रम व अलाभकारी होने के कारण ओरॉव, मुण्डा, थारू, गौंड, भील आदि स्थायी कृषि से जुड़ गए हैं। किंतु साहूकार एवं जमींदारों के द्वारा आये दिन इन्हें शोषित किया जाता है। आदिवासी समाज में परंपरागत आर्थिक क्रियाकलापों का महत्वपूर्ण जगह है-हाट। इसमें आदिवासी विशेषकर स्त्रियाँ अपनी चीज़ों को बेचती हैं तथा आवश्यक सामानों की पूर्ति विनिमय पद्धति द्वारा करती हैं। अक्सर बाजार की समझ न होने पर इन्हें ठगा जाता है। आदिवासी स्त्रियों के लिए हाट-बाजार सिर्फ आर्थिक जरूरतों हेतु नहीं वरन् इष्ट मित्रों से मिलने एवं अपने प्रणय-व्यापार को संपादित करने का भी जरिया है। कुछ आदिवासी समुदाय अपने परंपरागत लोक कलाओं यथा-नाच-गाना, कलाबाजी, सर्प-नृत्य आदि के द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं। अपराध-कर्म से जुड़े व्यवसाय के रूप में कंजर स्त्री द्वारा देह-व्यापार को अपना कर्म मानते हुए कहीं भी हीनता की ग्रंथि नहीं दिखाई देती। वहीं कबूतरा जनजाति का मुख्य पेशा चोरी, दारू बनाना आदि रहा है। किंतु अपने पुरुष के इस गैरकानूनी काम की कीमत अक्सर उनकी स्त्रियों को सभ्य समाज व पुलिस के दैहिक हिंसा के रूप में चुकानी पड़ती है।

* * *